ISSN : 2278-4632

JUNI KHYAT
जूनी ख्यात

इतिहास, कला एवं संस्कृति की शोध पत्रिका

A Peer-Reviewed and Listed in UGC Care List

'जूनी ख्यात' सम्पादक मण्डल

प्रो. हरबंस मुखिया	पूर्व विभागाध्यक्ष	इतिहास विभाग, जवाहर लाल नेहरु विश्वविद्यालय, नई दिल्ली
प्रो. वसन्त शिंदे	पुरातत्त्व एवं प्राचीन इतिहास	कुलपति दक्कन कॉलेज, पूना
प्रो. एस. इनायत अली ज़ैदी	पूर्व विभागाध्यक्ष	जामिया मिलिया इस्लामिया विश्वविद्यालय, नई दिल्ली
प्रो. एल.एस. निगम	प्राचीन इतिहास	पूर्व विभागाध्यक्ष, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व, पं. रविशंकर शुक्ल विश्वविद्यालय, रायपुर
प्रो. दिलबाग सिंह	आर्थिक इतिहास	इतिहास विभाग, जवाहर लाल नेहरु विश्वविद्यालय, नई दिल्ली
प्रो. जी.एस.एल. देवड़ा	मध्यकालीन इतिहास	पूर्व कुलपति, कोटा खुला विश्वविद्यालय कोटा (राजस्थान)
प्रो. के.एस. गुप्ता	पूर्व विभागाध्यक्ष इतिहास विभाग	मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर
प्रो. अब्दुल मतीन	पूर्व विभागाध्यक्ष समाजशास्त्र	अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़ (उत्तरप्रदेश)
प्रो. आर. आभापाल	आधुनिक इतिहास	स्कूल ऑफ सोशियल साईंसेज, पं. रविशंकर शुक्ल विश्वविद्यालय, रायपुर

JUNI KHYAT

जूनी ख्यात

(सामाजिक विज्ञान, कला एवं संस्कृति की शोध पत्रिका)

वर्ष : 10 • अंक 2

जनवरी-जून 2021

A Peer-Reviewed and Listed in UGC CARE List

ISSN 2278-4632

संपादक

डॉ. बी. एल. भादानी

प्रोफेसर

प्रबंध संपादक

श्याम महर्षि

मरुभूमि शोध संस्थान

संस्कृति भवन

एन.एच. 11, श्रीडूँगरगढ़ (बीकानेर) राजस्थान

प्रकाशकीय एवं विज्ञापन कार्यालय :
सचिव, मरुभूमि शोध संस्थान, श्रीडूँगरगढ़-331803 (बीकानेर) राज.

आजीवन सदस्यता 3000 रु. । **इस अंक का मूल्य : 200 रुपये**
सहयोग दर :
(व्यक्तिगत) एक अंक 100 रुपये ❑ प्रति वर्ष 200 रुपये
(संस्था) एक अंक 150 रुपये ❑ प्रति वर्ष 300 रुपये
बाहरी चैक के लिए 25 रुपये अतिरिक्त

आजीवन शुल्क संस्था के निम्न खाते में सीधा ट्रांसफर करके हमें बताने की कृपा करें।

1. **Punjab National Bank**
2. **Sri Dungargarh**
3. **मरुभूमि शोध संस्थान**
4. **खाता सं. 3604000100174114**
5. **IFSC Code - PUNB0360400**

ड्राफ्ट/नकद भुगतान भेजने का पता :

श्याम महर्षि
सचिव :
मरुभूमि शोध संस्थान
(राष्ट्रभाषा हिन्दी प्रचार समिति)
श्रीडूँगरगढ़ 331803 (बीकानेर) राज.
फोन-01565-222670
आलेख सीडी में या निम्न ईमेल पर प्रेषित किया जा सकता है।

आवरण पेंटिंग : रामकुमार भादाणी

सम्पादकीय कार्यालय :
डॉ. बी.एल. भादानी
रांगड़ी चौक, बीकानेर 334001 (राज.) मो. 9950678920
junikhyat.mss@gmail.com • bbhadani.amu@gmail.com

सावधान

जूनी ख्यात (अर्द्ध वार्षिक) दिसम्बर 1994 ई. से नियमित Print Form में प्रकाशित हो रही है। जून 2019 में 'UGC Care List' (S.N. 220) में सामाजिक-विज्ञान की श्रेणी में सम्मिलित करली गई है। हमारी पत्रिका Online प्रकाशित नहीं होती है।

जूनी ख्यात नाम से ही एक फर्जी पत्रिका (Cloned Journal) ऑन लाइन निकाली जा रही है जो हमारे ही ISSN एवं यू.जी.सी. केयर लिस्ट की संख्या को उपयोग में ले रही है। इस सम्बन्ध में **यू.जी.सी.** ने 23-7-2020 को 'Cloned Journal' की एक सूची जारी की है उसमें अन्य पत्रिकाओं के साथ **जूनी ख्यात** का भी नाम है। यह पत्रिका निम्न वेबसाइट पर प्रत्येक विषय के शोध पत्र आमंत्रित करती है।

Juni khyat Journal		
Language	:	English & Hindi
Publisher		NA
ISSNo.		2278-4632
URL http	:	www.junikhyat.com

हमारी पत्रिका **मरुभूमि शोध संस्थान, श्रीडूँगरगढ़** द्वारा प्रकाशित की जाती है। अब 'नकली पत्रिका' बी.एल. भादानी, संपादक के नाम का भी उपयोग कर रही है जो एक आपराधिक कृत्य है।

इसमें तथाकथित रूप से प्रकाशित आलेख का कोई महत्त्व भी नहीं है। इसलिए शोधार्थियों से सावधान रहने की अपील की जाती है।

बी.एल. भादानी
संपादक

Sl.No.	Journal No.	Title	Publisher	ISSN
220		JUNI KHYAT		2278-4632

UGC Journal Details

Name of the Journal **: JUNI KHYAT (Print Form)**
ISSN Number : 2278-4632
e-ISSN Number : NA
Source : **UGC**
Discipline : **Social Science**
Subject : **Social Sciences (all)**
Focus Subject : Cultural Studies
Publisher : Marubhumi Shodh Sansthan, Sri Dungargarh (Bikaner)

मेड़ता शहर (नागौर) स्थित जैन आदिश्वर मन्दिर में प्रतिष्ठापित भित्ति लेख

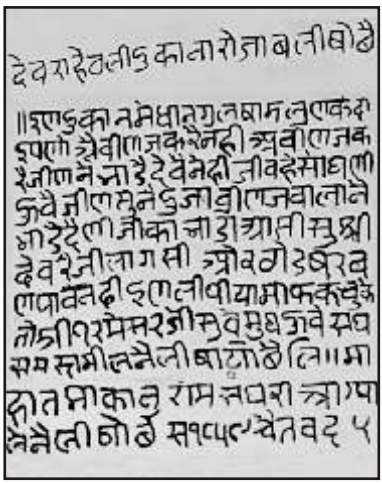

देवरा हेठली दुकाना रो जाब लीखो छै ।। इण दुकान मे धान गुल खांड लुण कंदों इ पणो अै वीणज करै नही अै वीणज क रे जीण ने भाड़े देवे नही जीव हंसा घणी हुवे जीण सु नै दुजा वीणजवाला नै भाड़े देणी जीका भाड़ो आसी सु श्री देवरे जी लागसी ओर ठोड़ खरच ण पावे नही इण लीखीया माफक चुकै तो श्री 1 रमेसरजी सु वे मुध हुवे सघ समस्त मील नै लीखायो छै लि।। मा हातमा कालुराम संघ री आग्या ले नै लीखो छै स 1859 चैत वद 5

भावार्थ

यह भित्ति लेख राजस्थान के नागौर जिले के प्राचीन शहर मेड़ता में स्थित भगवान आदिश्वर अर्थात प्रथम जैन तीर्थकर ऋषभदेव को समर्पित मंदिर के परिसर में प्रतिष्ठापित है। यह जैन मंदिर लगभग पांच सौ वर्ष पुराना है। यहाँ स्थापित यह लेख मंदिर की भीतरी दीवार पर उत्कीर्ण है। इस की महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि यह लेख वि.सं. 1859/1802 ई. के दौरान मंदिर के अधीनस्थ एवं परिसर में स्थित दुकानों से प्राप्त होने वाले किराये सम्बन्धी सूचना पर प्रकाश डालता है। इस भित्ति लेख में जैन परम्परानुसार, अहिंसा की पालना करते हुए जिन व्यवसायों (यथा धान, गुड़, शक्कर, नमक एवं मिठाई) में जीव हत्या होने की सम्भावना हो, ऐसे व्यवसाय में संलग्न व्यापारियों को दुकान किराये पर न देने की चेतावनी उल्लेखित है। इस अभिलेखीय आदेश को महात्मा कालूराम द्वारा जैन संघ की आज्ञार्थ लिखा गया था, जिसमें स्पष्टत: उल्लेख है कि उक्त दुकानों से प्राप्त होने वाली किराया राशि को मंदिर के निमित्त ही खर्च किया जायेगा। यह लेख जैन धर्म के आधारभूत सिद्धान्त 'अहिंसा' का सन्देश देना वाला पश्चिमी राजस्थान का दुर्लभ भित्ति लेख है।

अनुवादक : **डॉ. राजेन्द्र कुमार**, बीकानेर

संपादकीय

हमारी पत्रिका के यू.जी.सी. केयर-लिस्ट (सामाजिक विज्ञान श्रेणी) में आने के पश्चात् इसके अकादमिक स्तर को बनाए रखने के लिए हमारा दायित्व पहले से अधिक बढ़ गया है। इसके लिए हमने संपादक मंडल में नवीन नाम जोड़े हैं जो विषय-विशेषज्ञ हैं। शोध आलेखों पर विशेषज्ञों द्वारा सुझाए गए सुझावों को लेखक को प्रेषित कर दिया जाता है। विशेषज्ञों द्वारा सुझाए गए सुझावों को समाविष्ट करने के पश्चात् ही पत्रिका में स्थान दिया जाता है।

भारत के सुप्रसिद्ध इतिहासकार प्रोफेसर हरबंस मुखिया ने संपादक मंडल में अपने नाम को सम्मिलित करने की अनुमति प्रदान करके जो सहयोग किया है उसके लिए पत्रिका परिवार आभारी है। इसी प्रकार डक्कन कॉलेज (डीम्ड विश्वविद्यालय) के पूर्व उपकुलपति प्रोफेसर वसंत शिंदे एवं बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी के प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग के विभागाध्यक्ष एवं कोर्डिनेटर प्रोफेसर सीताराम दुबे के आभारी हैं जिन्होंने पत्रिका के अकादमिक स्तर को बनाए रखने हेतु पूर्ण सहयोग के लिए आश्वस्त किया है जिसके लिए पत्रिका परिवार की ओर से आभार।

राजनीति विज्ञान के प्रोफेसर बी.एम.शर्मा (राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर) ने पत्रिका के साथ सहयोग करने के लिए आश्वासन दिया है जिसके लिए उनका हृदय से आभार। शिक्षाशास्त्र के विशेषज्ञ प्रोफेसर चन्द्रपाल सिंह चौहान अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के शिक्षा विभाग के चैयरमेन एवं सोशियल साईन्सेस फैकल्टी के डीन रहे हैं। संस्था परिवार आपका आभार व्यक्त करती है। इसी विश्वविद्यालय के समाजशास्त्र के विद्वान प्रोफेसर अब्दुल मतीन भी संपादक मंडल के सदस्य हैं एवं समय समय पर सुझाव देते रहते हैं।

जामिया मिलिया इस्लामिया विश्वविद्यालय के प्रोफेसर एस. इनायत अली ज़ैदी, वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय कोटा के प्रोफेसर बी.के. शर्मा, दिल्ली विश्वविद्यालय के पर्यावरण इतिहास विशेषज्ञ प्रोफेसर विपुलसिंह एवं साहित्य संस्थान, इंस्टिटयूट ऑफ राजस्थान स्टडीज, जनार्दन राय नागर विद्यापीठ, उदयपुर (डीम्ड विश्वविद्यालय) के प्रोफेसर जीवनसिंह खरकवाल के भी आभारी हैं।

शोध आलेखकों से निवदेन है कि वे अपना आलेख हमारी पत्रिका के प्रारूप के अनुकूल भेजें। आलेख रिव्यू के लिए सम्बद्ध विशेषज्ञ के पास भेजा जाता है। उसके वापिस आने में तीन से चार महीने लग जाते हैं। इसलिए तब तक लेखक को प्रतीक्षा करनी होती है। जब विशेषज्ञ की राय उपलब्ध हो जायेगी उसके पश्चात ही आलेख के प्रकाशन के सम्बन्ध में हम निश्चित तौर पर कुछ कहने की स्थिति में होंगे। इस सम्बन्ध में आपसे सहयोग की अपेक्षा है।

डॉ. बी. एल. भादानी

सम्पादक

विशेष : **जो लेखक अपनी पत्रिका रजिस्टर्ड डाक से मंगवाना चाहते हैं वे एक वर्ष के अंक के लिए 120 रुपये अतिरिक्त भिजवाने का कष्ट करें।**

अनुक्रम

- The Unexplored Megalithic Sites and Burial Practices of Balrampur Region (Chhattisgarh) 11
  - *Dr. Nitesh Kumar Mishra, Anshu Mala Tirkey and Baleshwar Kumar Besra*

- Narrative Discourse and Shifting Image a Local God : Pabu 31
  - *Dr. Rajshree Dhali*

- Attitude of State towards Urban Growth of Eighteenth Century Rajasthan 42
  - *Shabir Ahmad Punzoo*

- Environmental Awareness of Higher Secondary School Students In Bankura District, West Bengal 49
  - *Dr. Nandini Banerjee, Dr. Amarnath Das* and *Rimpa Betal*

- Green School Leadership in India : The Transforming Facet of Goal-Oriented School Administration 71
  - *Ms. Rekha Verma, Dr. Naveen Sharma*

- Finding Space in a Traditional Society : The *Bheel* Girls of Jaisalmer 91
  • *Dr. Jaya Kritika Ojha*

- A Study on Effect of Covid-19 Pandemic on Economic Condition of Traditional Marine Fishers 100
  • *Pradip Roy, Dr. Chetan Chaudhari*

- Inspiring Change Through Women Empowerment 111
  • *Anam Tahir Hashmi, Mohd Shakir*

- आभिलेखिक उद्वाचन में पाठ-भेद : समस्याएँ एवं समाधान 125
  • *प्रो. सीताराम दुबे*

- पौराणिक आख्यानों एवं लोककथाओं में किन्नर विमर्श 132
  • *डॉ. निशा यादव*

- प्रारम्भिक मध्यकाल में स्त्रियों की स्थिति : राजस्थान के अभिलेखीय साक्ष्यों के विशेष संदर्भ में 140
  • *डॉ. रजनी शर्मा*

- खांप पंचायतों की मिथक और वास्तविकता : पंचायत और खांप पंचायत का ऐतिहासिक विश्लेषण 147
  • *डॉ. सूरजभान भारद्वाज* • *अनु. डॉ. राजेन्द्र कुमार*

- मध्यकालीन बुन्देलखण्ड के कला संस्थानों (*अखाड़ों*) का वास्तुशिल्पीय अध्ययन 181
  • *डॉ. सफ़िया ख़ान*

- 16वीं से 18वीं शताब्दी के मध्य हीरे की खदानों में कार्यरत खनिक वर्ग : एक अध्ययन 192
  • *मनीषा मिश्रा* • *डॉ. अमिता शुक्ला*

- प्रारंभिक आधुनिक राजस्थान संबंधित इतिहास लेखन : एक सर्वेक्षण 199
  - *डॉ. मयंक कुमार*
- साहित्य का सत्य बनाम इतिहास के तथ्य : स्रोत, सृजनात्मकता तथा कथनात्मक 222
  - *डॉ. पंकज झा*
- लोक स्थापत्य के विविध आयाम 233
  - *डॉ. ब्रजरतन जोशी*
- मेवाड़ और मारवाड़ में गणगौर उत्सव : ऐतिहासिक अध्ययन 241
  - *डॉ. सुशीला शक्तावत*
- बीकानेर में पुष्टि भक्ति परम्परा का विकास 253
  - *शिवकुमार व्यास*
- राजस्थानी साहित्य की अनमोल ऐतिहासिक धरोहर : कृषि कहावतें 264
  - *डॉ. विष्णु प्रिया टेमानी*
- राजस्थान की विलुप्त होती वाचिक लोक परम्पराएं : ऐतिहासिक विवेचन 270
  - *डॉ. सुरेश सिंह राठौड़*
- प्राकृतिक संसाधनों का औपनिवेशीकरण और पर्यावरणीय इतिहास लेखन 283
  - *सोनू कुमार गुप्ता*
- भाषा, संस्कृति एवं समाज का पैरोकार : हिन्दी सिनेमा 293
  - *डॉ. मीता शर्मा*
- बंगाल में मजदूर आन्दोलन एवं उपन्यास लेखन— विवेचनात्मक अध्ययन 303
  - *डॉ. विष्णुदत्त जोशी*

- शिक्षाशास्त्र विषय में उपलब्धि परीक्षण का निर्माण एवं मानकीकरण 308
  - *डॉ. सुनीता सिंह एवं नितेश कुमार मौर्य*
- झझू (कोलायत, बीकानेर) पुरातात्त्विक सर्वेक्षण रिपोर्ट-2 332
  - *डॉ. रीतेश व्यास*
- रामकुमार भादाणी : थार रेगिस्तान की विशिष्ट कला 'बीकानेर गोल्डन आर्ट' के प्रणेता 338
  - *डॉ. राजेन्द्र कुमार*
- श्रद्धांजलि : डॉ. जिब्राईल 341
  - *डॉ. राजेन्द्र कुमार*

The Unexplored Megalithic Sites and Burial Practices of Balrampur Region (Chhatisgarh)

Dr. Nitesh Kumar Mishra • Anshu Mala Tirkey • Baleshwar Kumar Besra

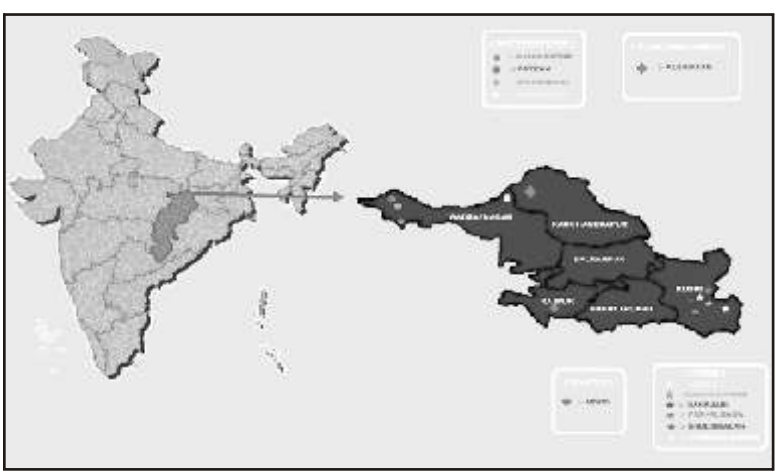

Abstract

This paper is related to the megalithic culture and the burial practices of various tribes in Balrumpur region. It consists of the definition of megalith. The paper deals with the geographical features of the region. As Balrampur region consists of various mountains, rivers and forest, which promotes the survival of various tribal communities. There are detailed information about the burial practices of various tribes and unreported sites. The

megalithic practices are not in the living tradition among the tribe communities, but they worship the menhirs as god (Mahadev).Megalithic culture in this region enriches the history of the state and constructs the chronology of the district.

Keywords – exorcist, proto – Australoid, austro – Asiatic, menhirs, megalithic.

Geographical background

Balrampur district lies on the northern part of Chhattisgarh state. Balrampur district is located 27º25´48´´ N 82º10´48´E in the northern part of Chhattisgarh. The district is surrounded by the neighboring state Surguja, Uttar Pradesh, Jharkhand and Madhya Pradesh. There are six blocks in Balrampur district namely - Balrampur block, Ramchandrapur block, Rajpur block Shankargarh block, Kusmi block and Wadrafnagar block. The district consists of Satpuda hill ranges, which covers a large part of the region. There are various mountains present in district namely Bhurunda mountain, Ghatoria mountain, Khadaoli mountain and Mahadani mountain etc. The main rivers which flow in this region are Chanan River, Kanhar River, Madhuri River, Sonsu River, Iradha River and Sukhaien River. Gaurlata is the highest point of Chhattisgarh region. Balrampur district consists of huge population of tribal community. There are tribes like Pando tribe, Oraon tribe, Gond tribe, Korwa tribe, Birhor tribe, Agaria tribe Asur tribe Kherwar tribe, Kawar tribe, Baiga tribe etc. among which Korwa tribe and Pando tribe in the category of primitive tribe. In this report we have traced the burial practices (megaliths) of the tribal communities. And the present status of their burial practices at present, what changes could be seen in their tradition.

Research methodology

This research paper consist of primary data, the work has been done by excessive field work. Interaction and documentation work also have been done. The rites and rituals which have been followed by the tribal people are also presented in this paper by the means of interaction.

Analysis

Pando tribe

The word Pando means "Ojha" (shaman) and (exorcist), they

were known as the village priest who performed the prayers and heal the people by chanting the mantras. This tribe is known as one of the primitive tribe Chhattisgarh. The Pando tribe people gathered food and they were great hunters. They were basically nomadic people, whose main occupation was to perform exorcism 'ojhamati". The Pando tribe people secure the other village people by various diseases, natural calamities and evil spirits. The people of Pando tribe not only cure the people by ojhamati but also have the good knowledge of medicinal herbs. They used these herbs for curing various diseases like for snake bite mahuwa (madhuca longifolia) root or mahuwa fruit is used as medicine, for, mahuwa bark is used for jaundice (mahuwa tree is very important for the Pando tribe people as each part of the tree are beneficial for these people), scorpion bite sarcopa root, for fever they used pathar neem, for leprosy they used haswa tapi kanda, for body pain they used bamboo roots are used for tooth pain and van jatangi is used for ear pain. The people of this tribe prohibit "hadiya" as (tapaan – offer to god while worshipping), instead of hadiya they use Mahuwa. Their main god and goddesses are Dehari, Van Shakti, Sitla mata and Budhi mai.

Burial practices

When a person dies in the Pando community, they keep the dead body on the chattai (chatai – tribal mat made of chind (phoenix dactylifera). The family of the dead person announces the sorrowful news of death to village people. All the relatives of the dead person are informed for the burial so that they once see their beloved ones. The females are responsible for the purification of the dead body. They apply water, dori oil and turmeric on the dead body. If a married woman is dead then they apply sindoor from forehead to toe. The people of Pando tribe make a bamboo cart for carrying dead body to graveyard. Male person dig the hole (4ft) for the dead and after that they circulate the body 5 times. Then they place Kush grass (desmostachya bipinnata) or kher grass (thysanolaena) inside the hole, and on the top of the grass the dead body is placed. And on the top of the dead body sandal wood are placed then it is covered with mud. The Pando community does the megalithic practices. On the day of burial they do the megalithic practices on the same. They placed thrones on the top of grave and keep small stone on the whole grave. They make heap stone megalith for their dead ones.

Korwa tribe

Korwa tribe is one of the primitive tribe of Chhattisgarh state. Koura tribe is found all over Surguja and Jashpur districts.[1]Korwa tribes have their own language (korwa language austro – Asiatic). The people of korwa tribe lives inside the dense forest on the top of the mountain. The ancestors of korwa tribe lived inside the caves, in some places like chur pahar (birnipa) orkela the people korwa tribe still live inside the cave. The house of korwa's are made of hay and wood. There is single room in the house, which is rectangle in shape; length is 10 to 12 feet whereas height is approximately 8 feet. Their main occupation is to gather wild roots for feeding themselves. They are also great hunters, various animals and birds are hunted and eaten by the korwa community. The main god and goddesses of this tribe are Singe Bongo, Dharti Mai, Gram Devta, Kul Devta, Darha Chandi, Shokha and Geraiya.

Burial practice

The people of korwa tribe belief that death is the normal process of life cycle, one day each and every one has to die and go back to god. When a person dies in a korwa family, they bury the dead. They first inform the village people for the burial ceremony, the women do the work of purification of the body with turmeric, oil and water. The body is then carried out to the graveyard with the help of bamboo cart. Around 6 feet of hole is dug for the burial, then they placed the body inside the hole along with his\her belonging. Then they fill cover the dead body with mud and place small stones, so that the wild animal may not harm their dead ones. ***The most striking feature this tribe is that, they leave their home when any of the family members die.*** And then build another home for their survival. They have the belief that the house is not applicable for them if someone dies from their family, so for the security of the family members they migrate from one house to another.

Asur tribe

Asur tribe belongs to the proto – Australoid family, their main occupation was to smelt iron ore and make agricultural implements. They collect the iron ore or black sand for acquiring iron. They speak the Asuri language. The people of Asur tribe lived the nomadic life, they move from one place to another in search of iron ore. They also collected wild roots and hunt the wild animals for

feeding themselves. The people of Asur tribe live on the pat area inside the dense forest. Gitiora are built in the center of the village.[2] The houses of the people of Asur community are simple and hut shaped. Woods are used for making the wall and then plastered with mud; the roof is made of grass and leaf. But no a day's they build their houses with mud and mud tiles. The people of Asur tribe also dig the pond for their various uses. Their main foods are corn, mahuwa, gondli and goda. The Asur people are having deep relation with forest; they are fully depended forest and mountains. The main god Bonga reside inside the forest and the spirits of the ancestors reside in the saran. The Asur's are fond of ornaments but the godna making was not in the trend among the tribe. They also prohibit wearing ornaments on nose.

Burial practices

The people of Asur tribe believe that the spirit of good people will go to Singe Bongo and the spirit of bad people will go to prettying. They also have the belief of re – birth after death. The people of Asur tribe bury their dead ones. The people of Asur tribe do the megalithic practices previously, but now it is not in vague. When a person dies in their community, they first do the purification of the dead body. Then they inform the village people for the burial ceremony. Like other tribes they carry the dead body on the bamboo cart and go for to the grave. They dig approximately 4 to 5 feet of hole and place the dead body along with his or her belongings. Along with the belongings of the dead person they also keep a pot inside the grave. Then the people go to the nearby the river for purification. They use turmeric and oil and wash their hand and leg, for purifying their body. After the burial they return back to their home. Ten days after the burial, men saved their beard and cut their nails whereas the women cut their nails. After the purification they give fest to the relatives and villagers. On the day of "dues karma", they have performed a ritual known as 'Ambul Aadher". Then they construct a high platform of wood and cover it with weed, which is later on burnt, to indicate the dead person that your house is being burnt. The people shout the spirit of the dead person that go back to the grave and never return back because your house is being burnt. The people of Asur tribe do the megalithic practices, there are few megalithic sits found in Jashpur region which belongs to Asur tribe. The Asur's placed a stone on the head side of the grave in memory of the dead person.

As they were nomadic people, if the head person of the family dies, the family members destroy the kiln and placed the stone (menhir) in memory of the dead and finally leave that place.

Birhor Tribe

Birhor is also recognized as the primitive tribe in this region. The people of this tribe lives in small groups and move from one place to another in search of food. The word Birhor is made by the combination of two words; bir means 'forest' whereas hor means 'man'. The word Birhor suggests the meaning, the man of the forest. The basti of Birhor is known as "tanda".[3] The house made by the Birhor community is known as kumba or kumhar. They build their small village on the top of the mountain.

Burial practices

The deaths which comes by violence are exceptional, apart from that all types of death given by the god or by evil spirit. The people of Birhor tribe have the belief on rebirth of human after death. After the death of a person, his or her spirit goes to the evil place; rituals are performed to bring back the spirit. They give place to the spirit of the dead person. And offer food, water and sacrifices animal every day to the spirit. The spirit of the male person roam everywhere at night and meet the ancestors whereas the spirit of the female stay at home protect the house. The Birhor community buries their dead ones. They first do purification of the dead body, then along with all the villagers the body is carried to the grave. After burying the dead, they go the river or pond for purifying themselves. If parents are dead in a family, then the smallest child shaved his head. If a child is dead then all the men shaved their head. The parents of the dead child offer goat to the Devi. On the day of mundane again the people cry in memory of the dead person. If pregnant Women are dead then she is buried away from the society. Megalithic practice is not done in the Birhor community. They just cover the whole grave with small stones.

Oraon tribe

Oraon tribe is one of important tribe in north Chhattisgarh region. The population of Oraon tribe is quite high in Jashpur and Balrampur district. The language spoken by Oraon tribe is 'Kurukh' The word Dhangar and Dhangrain is also used for the people of Oraon tribe.

Burial practices

According to the people of Oraon tribe death is the last stage of life cycle. Oraon people believe that death is the natural phenomena but unnatural death is considered as the work of evil spirit. Whoever die accidently become ghost or evil spirit and harm the people specially children. The people of Oraon tribe bury their dead ones. Children, pregnant women and the person dead due to leprosy disease are buried separately. Sometimes they drain the dead body of children, women and person who died due to leprosy into the river. When a person dies in a family, various rituals are done before the burial ceremony. They first keep the dead body on the mat (chatai) or bed (khatiya). Then all the village people are informed by the family members. When all the village people and relatives gather in the house of the dead, then the work of purification of dead body is done with turmeric, oil and water. While all the rituals are being done, the females of the village and family sing a song continuously. The song consists of the whole life story of the dead person, from childhood till the day of death. The dead body is carried to the grave with the help of bamboo khatiya. When the dead body is buried, then they go to the river or pond and have bath for purification.

A megalithic practice is very important among the Oraon tribe. It is also known as 'pathalgadi'. u After the burial of the dead person, pathalgadi is done on his or her native place. Pathalgadi plays important role in the Oraon community; no other ceremony could take place in the family of the dead. The ceremony of pathalgadi is very expensive one, first date is fixed for this ceremony. All the relatives as well as the village people are invited for this ceremony. Pahan and men of the village go for the selection of the stone. They select the stone which does not break while cutting for the particular dead person. It takes almost one week to cut and bring the stone to home. They placed the stone (menhir) erect on the head side of the dead body. Sometimes they cover the dead body with the stone seat. If any person dies in other village or far of place, they keep the mud of the grave, rice, oil and sindoor inside the pot and bury it in his or her native place a stone in memory of the dead.

Gond tribe

The Gond tribe is the second largest tribe in India, which is highly populated. The word Gond is derived from the Godwin land.

The language of the Gond tribe is 'Gondi'. According to the language they belong to Dravidian family.v The highest population of Gond community is in Madhya Pradesh. The Gond is mainly divided into three groups – Raj Gond, Dhura Gond and Muriya Gond. The Rajgond is related to the king, rests of the Gond people are food gatherer and hunters. The people of Gond tribe who lived in plains depend on cultivation. Their houses are made of mud, grass, leaf and stone.

Burial practice

The people of Gond tribe consider the death as natural phenomenon; they believe that everyone has to die one day. They believe that if the person dies in his or her childhood or adult, their spirit roam everywhere. If an old man or women, it is considered as natural death. If a person has faced unnatural death then, he or she becomes ghost. After the death of a person in Gond community, it is carried for burial ceremony. They carry the dead body on khatiya made of bamboo. To announce the death of a person they play instrument, the music of death is played. When all the village people are gathered, they perform the burial ceremony. They clean the house after three days. And on the third day itself they prepare meal for all the relative and village people. First the food is offered to the dead person and then distributed to all. The women of the Gond tribe pray to the god for the soul, that it rest in peace. And offer rice and corn to the dead ones. In the region of north Chhattisgarh the Gond people placed small stone for covering the grave. They also place a monolith on the head side. The stone is only placed for the person who has great achievements in his or her precious life.

Baiga tribe

Baiga tribe is of the important tribe of Chhattisgarh region. The word Baiga is used for the village pujari. The Baiga's are also known as ojha, magician and priest. It is said that the Baiga tribe related to the kolarian tribe. According to the species the Baiga tribe belongs to the proto autroloid group. They are professional in playing bow and arrow. Baiga tribe also resides in Jashpur region. The settlement area of the Baiga tribe is mountain and forest.

In the Baiga community, there is tradition of burning as well as burying the dead. They burn their dead near the river. They prohibit going on the side of graveyard. They believed that the spirit

are unable to cross the water, and never return back home. They had the tradition of burying the dead inside the house. And for two months they make fire on the top of the grave. They don't have fixed day for the fest, they perform the ceremony any day. The Baiga tribe believed that death is unnatural. There is no megalithic practice among the Baiga tribe.

Agaria tribe

Agaria tribe is one of the highest populated tribe in north Chhattisgarh region. The word Agaria is derived from the word 'aag' which means fire.w According to the scholars Agaria tribe was recognized as the discoverer of fire. The main occupation of the Agaria tribe was smelting iron. The make various agricultural implements for other tribes. They lived a settle live inside the village along with the rest of the tribes. They were fond of ornaments and godna. They make the ornaments made of 'kuwari loha', which was believed to be lucky for them.x

Burial practices.

Like other tribes, the people of Agaria tribe also bury their dead ones. When a person is dead in the Agaria community, they first keep the dead body on the patiya made of palm leaf. Then all the relatives and village people are informed the sorrowful news. When the entire are gathered in the house they start the rituals by cleaning the body of the dead person, turmeric and oil are applied for the purification. Then the body is carried to the grave and placed inside the hole. Then they keep all the belongings of the dead person along with iron tools. And cover the hole with mud. They take time to do pathalgadi, because this ceremony is very expensive. It may take two to three years for the ceremony of pathalgadi. Whole village people and relatives are invited for this ceremony. And pork or goat flesh is prepared for the ceremony.

Kawar tribe

Kawar tribe is one the biggest tribe of Chhattisgarh region. This tribe is related to the proto autroloid group. The Kawar tribe is divided in five sub caste namely – cheti, cherwa, dudh, paikar and rathiya Kawar. The people of Kawar tribe have forgotten their language and speak the regional language. The houses are made of mud, mud tiles and grass. Their main occupation is agriculture.

Burial practices

The people of Kawar tribe bury their dead ones but at present they have started burning their dead one. Their graveyard is near the river, like other tribes they first do the purification of the dead body and announced the death news to the village people. Then carry the dead body to the marghati and bury their dead ones. After burying the dead body they cover the grave with small stones, to prevent the dead body from the wild animals. Then they go to the river and wash themselves by using water, turmeric and oil. On the tenth day they celebrate dus karma and prepare meal for all the village people.

Kherwar tribe

The word Kherwar is derived from Khair tree (senegalia catechu); the people of kherwar tribe do the work acquiring catechu from Khair tree. It is very difficult to say that, for what purpose they acquire catechu in large amount. The kherwar tribe people belong to the proto – austroloid family. The language of kherwar tribe was "Kherwari" which belongs to austric language family. They have forgotten their language and speak Chhattisgariya language. They live on plains, and built their houses of mud, wood, bamboo and mud tiles. The people of kherwar tribe have stopped their ancient profession, and now they have converted their occupation to agriculture. The women of kherwar tribe are fond of wearing ornaments from head to toe. They wear 'sutiya, sudda and hamel' on neck, for nose 'laung', for ears they use 'khenwa, daar', for arms 'bahuta' and for hand 'aithi, nagmori'. Godna was also in trend of the kherwar tribe. The male person also does godna on his fore head 'small dot' and kanusi for ear.

Burial practices

The people of kherwar tribe believe that death is natural phenomena like birth. But if a person is dead in childhood, adult or accidently, all comes under unnatural death, which they consider as the work of evil spirit. They believe that if person has faced unnatural death, they will become ghost and roam everywhere. They did burial practices among the community. When a person is dead in the kherwar community, they first keep the dead body on the floor for purification with water, turmeric and oil by the women. Then all the village people are informed for the funeral. When each and every person is gathered there, the body is carried to the graveyard. The dig the hole, and placed the dead body and

cover it with khajur mat. Then fill the hole with mud. They keep small stone on the grave so that the wild animals would not harm the body. They never go to the graveyard until and unless another person is dead. After ten days they do dus karma and feed the people in the name of the dead person.

The unreported megalithic sites of Balrampur district

Site of Kusmi block –

Jamtoli

First site was discovered in the village named Jamtoli; it lies on the Samri road, about 2.5 km from the main town. The longitude and latitude of this megalithic site are 23º19´43.55´´ north and 83º55´44.17´´east. Oraontribe resides in this village along with the other caste people. This village consists of single monolith (menhir). The length of this menhir is 4feet tall. It is place on the entrance of the village under the (peepal tree) and worshiped by all the tribal communities as "Mahadev". According to the tribal, this stone was placed on the memory of their ancestors. This is the secondary burial, as the people shift to another place they first placed a stone and then build their houses. They also believed that, this memorial stone will protect the village.

Gajadharpur

The village Girjadharpur is located in Kusmi block; it also lies on the Samri road. This megalithic site is known as 'Bandar', the longitude and latitude of this megalithic site are 23º17´56.34´´ north and 83º54´57.7´´ east. This megalithic site consists of six stone; one of the stone is about 5 feet in height. And rests of the five menhirs are 1 to 2 feet in height. Five menhirs are placed 2mts behind the tallest menhir, this menhir is regarded as Banjari baba according to the Hindu mythology and also considered as 'Mahadev'. The Banjari baba is specially worshiped by the married couple for child. Every day people from various villages come here to worship Banjari devta. During the festival of vaishakh people of various tribes gather here and worship devta. Sindoor is prohibited on the devta; they only offer coconut to god. And they sacrifice the animal (goat) outside the Sarna after the completion of their wishes. Associated materials are also found in this megalithic site like – mace head (ring stone) and iron bells (two). Mace head are known as 'chhengta pakhna' and bell is known as 'ghant' in tribal language. The ring stone is signifies as the strength of the men. The

main tribe found in this village is Oraon tribe, megalithic practices was in trend among the Oraon tribe. But they have stopped this practice and the megalithic practice is not in living tradition. Now a days, in all the rituals we can see the influence of Hinduism so all the rituals are performed by the priests of the village, animals are not sacrificed inside the Sarna, only coconuts are offered to god, which is the example of the conversion of the tribal community into Hinduism.

Gajadharpur

This megalithic site is located in Jamtoli, Kusmi block. The longitude and latitude are 23º18´21.04´´ north and 83º54´41.02´´ east. This megalithic site is known as 'Tanga Sarna' which was specially worshipped by the people of Oraon tribe. Single monolith is placed in the saran; it was approximately 3 feet in height above the ground. Associated material consists of two iron bells, iron sikri, iron sickle axe and plough. According to the villager named Atibal Ram Bhagat this site is named as tanga saran where tanga Barnda god is worshipped here. In praise of tanga Barnda god they sacrifice a female goat; the goat is killed by hammering on the head. Killing the goat by hammering on the head is the unique technique of the tribal people; no other technique is used for killing the animals. The lower jaw of the goat is offered to the god and rests of the flesh are cooked and distributed among the people as sacraments. The entrances of women are prohibited in this saran. All the rites and rituals are performed by the Baiga and pahan. The worship of tanga Barnda is done once in a year.

Pathalgada

This site is located nearby 100 from forest rest house of Kusmi block. The longitude and latitude of this site are 23º16´38.62´´ and 83º53´38.34´´. There are two menhir placed on the plains beside the road. No associated materials are found around the megalithic stone. According to the tribal people these stones are said to be the demarcation stone, because it lies in the boundary of Kusmi and Shanksrgarh. They also have the view that these stone were placed in the memory of their ancestors and afraid of visiting that place.

Bhulsikalan

Bhulsikaln is a village in Kusmi block in Balrampur district. It is located 12 km from kami head quarter. Latitudeand Longitude of

this site are 23º32´5.11´´ north and 84º01´15´´ east. This menhir is placed in the field. It is about 3 feet in height. No associated materials are found around the megalith. Tribal communities are residing nearby this site like Oraon.

Jawahar nagar

Jawaharnagar is located in Kusmi located in Kusmi block, 13 km away from the head quarter, in the kusmi mahuwa road. The latitude and longitude of Jawahar nagar are 23º32.5´11´´ and 84º01´15´´. There is single monolith placed in the field and according to the villagers this menhir is recognized as 'Mahadev pakhna' pathalgada. One bowl like artifact is found made of stone, which is kept in front of the menhir. Some tribal people offer flowers to the god (Mahadev). Around 100mt from this site another monolith is placed under the tree. No one knows that when this menhir erected and in whose memorial. No associated materials are found in this place.

Sites of Wadrafnagar block

Shankarpur

Shakarpur village is located in Wadrafnagar tehsil Balrampur district. It is situated 36 km away from sub – district headquarters Wadrafnagar. There is a village named Gondar, where single seat stone is found in the field. The length and breadth of the seat stone are 47cmx32cm. The latitude and longitude of this site are 23º50´19.7´´ north and 82º53´40.24´´ east. The Gond tribe is the only tribe residing in this village. The people of Gond tribe worship this stone as dehari baba. The Gond people worship the god in month of cheit. There is also the arability of wood fossil in whole village. The fossils are scattered around 2 to 3 km from starting of the village to the forest.

Patewa

Patewa is the village located in Wadrafnagar block Balrampur district. It is situated 65km away from the sub district head quarter Wadrafnagar. The latitude and longitude of this site are 23º50´56.19´´ north and 82º50´2.17´´east. The village consists of various tribal communities among which Gond tribe is highly populated. The people of Gond tribe worship the menhir as 'Buddha dev'. Some tribal also worshiped these megaliths as dehari baba. There are about two megalithic stones, one is about 3 feet in

height and the other one is small. The Gonds worship the Buddha dev once a year or once in three years which is known as 'teen saali puja'. According to the villagers these stones are standing erect from ancient times and being worshipped by the tribal people.

Bhurribans

This is another village next to Patewa village; it is situated in Wadrafnagar block. The latitude and longitude of this site are 23º52´55.84´´ north and 82º51´53.65´´ east. There is a menhir placed in the field, which about 4 feet in height. The village people worship this menhir as dehari baba.

Basantpur

Basantpur is located in Wadrafnagar block Balrampur district. It is situated 8km away from sub district head quarter. The total geographical area of the village is 1173.56 hectares. The main tribe found in this region is Pandotribe; this tribe is recognized as primitive tribe in Balrampur district. The latitude and longitude of the megalithic site are 23º50´29.56´´ north and 83º12´22.68´´ east. This site consists of two menhirs, one of the menhir symbolized as goddesses (Budhi mai) and the other one symbolized as god (Dehwar). According to the Pando tribe these menhirs were placed by their ancestor. The heights of the menhirs are about 5 feet from ground level. Now the village people have cemented and made a platform, for various rituals and protection of the menhirs. One of the menhir looks like phallic which represents the male organ. When the tribal people get married the visit god and take blessings for their happy married life. The couples who don't have child also go to worship god until and unless the women conceive baby. This site is located beside the river 'Mahavirghatnadi', and surrounded with various mountains like Bhurunda, Ghatoria, Khadaoli and Mahadani Mountains.

Rajpur Block

Okra

Okra is a village located in Rajpur tehsil Balrampur. This village is situated 10km away from the sub district head quarter. Village consists of a megalithic site, which consists of heap stone megaliths, related to Oraon tribe. The latitude and longitude of this site are 23º19´37.79´´north and 83º24´10.1´´east. There were about 30 grave present in the site, which is still in living tradition.

RamchandrapurBlock

Kudhpaan

The village is situated around 50 km away from sub district head quarter. The latitude and longitude of the site are 23°56´58.76´´ north and 83°21´40.04´´ east. This megalithic site consists of six menhirs. All the menhirs were about 3feet in height. This site is beside the nagin jhariya. The village people have constructed temple and worshipped these menhir as mahadev.

Conclusion

With the duration of exploration in Balrampur district, we come to know that there have been many changes in their practices and methods. Earlier, large stones were placed on the graves as primary and secondary burials, which was of great importance for almost all the tribes. After the death of their beloved person, the tribal people had various procedures to honor them, by placing huge stone on their graves. In this process, public cooperation was seen to be excessive. Such as selecting the stone, cutting and transporting it. The ceremony of pathalgadi was done like a celebration. As the people of various tribes were converted into Hinduism and Christianity, they have forgotten their tradition. But we get the evidences of megalithic remains in these regions, which prove that once the ancestors of tribal people follow the tradition. Few megalithic sites are destroyed during the construction of road and buildings. And those megalithic sites which are still there, worshipped as 'Mahadev', 'Dehwar', 'Dehari baba', Banjari baba' and Tanga Bharanda' by different communities tribal and non-tribal.

- All the sites mentioned in this paper are new; no one has reported these sites yet. Whatever we have found in surface finding has been mentioned in the research paper. There has been no excavation work held in this region, hence it is very difficult to tell the chronology of these sites. Chhattisgarh state consists of numerous megalithic sites. Padam Shri AK Sharma has done the excavation work of this megalithic siteKarkabhat (central part of Chhattisgarh) and this site was dated about 1000 BC. On the basis of the dating of excavated site we can say that, the dating of megalithic sites of Balrampur (northern part of Chhattisgarh) region likely to be dated as 1000 BC. Excavation work is necessary for the chronology of these megalithic sites of this region.

- The reason behind relating the megaliths to the tribes is that the apparent influence of megalithic culture is reflected in the burial practices of the tribe. It still remains as a living tradition in the burial practices of the many tribes. There are various types of megaliths found in our country, which is considered to be the archaeological remains. The megaliths which are found as archaeological remains have different names among the tribal communities. For example, avenue is known as "**bidh diri**", alignment "**racha diri**", stone seats "**sasan diri**" and menhir "**hora diri**". The word "**diri**" means stone among the Munda tribe. In Oraon tribe megaliths are known as "**Hadgad**i" and the stone seats are known as "**Hadbodo**". In Kharia tribe megaliths are known as "**Sorengsumma**". The megalithic practice is being practiced by the tribal communities from generation to generation. In some states, which consist of huge tribal population are still doing megalithic practices. In these places a megalithic practice isin living tradition and in India, the chronology of the megalith culture is still doubtful. Chhattisgarh is one of the states among the states of India which consists of huge population of tribal people. The tribes of Chhattisgarh has conserved and preserved the megalithic tradition for thousands of years. These burial practices of the tribes will probably be able to bring out some new facts in the megalith culture of Indian history.
- Although these sites are unexplored, wehave presented all the facts related to its references lists. And according to us reference is complete.

Banjari Gajadharpur

Banjari Gajadharpur

Gajadharpur

Okra

Pathalgada

Basantpur

Patewa

Shankarpur

Kudhpaan

Bhurribans

Jawahar nagar

References

1. Sahu Ravibhusan, "Korwa Janjati", KK Publication, Allahabad, (2012), pp13
2. Gupta Satya Prakash, "The Asur", Varma's Union Press Publication,Ranchi, (1976), pp3
3. Sharma Vimal Charan, "Jharkhand ki Janjatiya",Jharkhand harokha, Ranchi, (2014),pp135
4. Alang Sanjay, "Chhattisgarh ki Janjatiya", Anamika Prakashan, Allahabad, (2016), pp108
5. Ganjhu Giridhari Ram, "Oraon Awam Sadan Sanskriti", Prithvi Prakashan, New Delhi, (2020), pp174
6. Sharma Vimal Charan, "Jharkhand ki Janjatiya", Jharkhand Jharokha, Ranchi,(2014), pp212
7. RussellRV , "The Tribes and Caste of the Central Province of India", AlphaEdition, UK, (2018), pp1
8. Elwin Verrier, "Agaria", Rajkamal Publication, New Delhi, (2007), pp207

*Assistant Professor, SoS in AICHA

Pt. Ravi Shankar Shukla University, Raipur (CG)

**Research Scholar SoS in AICHA

Pt. Ravi Shankar Shukla University, Raipur (CG)

*** MA. In Archaeology & Museology(RU)

Narrative Discourse and Shifting Image a Local God, Pabu

• **Dr. Rajshree Dhali**

The harsh ecological conditions of semi-arid region of medieval western Rajasthan and nearly absent state had made the lives of the people extremely difficult. In the absence of state structures to support its subjects in times of dearth, diseases and for cattle safety, people evolved their own survival strategies. Different communities raised deities of their own, built a belief system around them creating a perception of them as saviours. The belief in their deity kept the hope alive of a better future and provided strength to live through the difficult times. The region like this had, therefore, witnessed emergence of numerous deities meant to perform different social functions in pre modern times. Pabu was one such deity of the western Rajasthan and continued to be worshipped even today.

The paper explores the process of deification of a local hero 'Pabu' in western Rajasthan and how the image of Pabu kept shifting in the popular perception over the centuries. Pabu who was deified as a local god dominantly worshipped by a lower caste group called 'Raikas,' by the advent of twentieth century acquired the form of a Brahmanical god, an incarnation of Laxman, younger brother of God Rama. This journey of Pabu from a hero to local god and from local non-Brahmanical god to the incarnation of god Laxman help us to understand the changing socio-political milieu and role the deity was expected to perform. Given the limited scope of the article, only four popular stories representing a time span ranging from sixteenth to twentieth century have been selected to delineate the aforesaid process

I

Almost all sources project Pabu as a 14th century Rathor chieftain of western Rajasthan, who sacrificed his life protecting

the cattle. Pabu was traditionally regarded as the deity of the nomadic *raikas*, who belonged to the lower rung of the caste hierarchy and whose profession was camel breeding. Interestingly in popular perception, Pabu is considered instrumental in bringing she-camels to Rajasthan for the first time. His emergence is more of a pastoralist deity. Folklorist Komal Kothari in conversation with Rustom Barucha reveals that it is "the bajra zone where the oral epic of Pabuji is located is a cattle-breeding area rather than an agricultural one".[1] The close relationship between the ecological setting of western Rajasthan and the emergence of the cults of folk-deities among the non-Brahmanical peasants and pastoral communities can be located in narratives that represent these deities as the protectors, defenders, augmenters of human life and cattle-wealth in the desert dominated natural environment.

The geographical area 'Kolu' in Phalodi where the cult of Pabu emerged and grew is in Jodhpur district of Rajasthan. It is addressed as Marwar implying 'region of death' meaning sterile, sandy and inhospitable[2]. A large portion of Jodhpur is covered by the sand-dunes and isolated scattered rocks are strewn over the plain. The climate is characterized by severe variation of temperature with a dry climate even during the monsoon.[3]

The scarcity of water was a decisive factor in determining the existence of villages in the desert. Cattle herd and human settlement had to depend primarily on the supply of water in the wells. Since in the harsh ecological region agriculture was not conducive, the lives remained mainly depended on cattle wealth. As soon as the well dried up or the water therein turned brackish, the habitants of the village migrated to another place. Harsh ecological conditions and lack of state structure to provide help necessitated for the people to create a symbol and a belief system to cling to, that in turn provided strength to continue with their lives.

While ecological factors played important role in shaping the phenomenon of the worship of the local deities especially Pabu, focus on the long term historical developments-particularly changes in social and political structure is indispensable to the understanding of the process of the emergence of deities and the changing social composition of their followers.

Rajasthan from 12th to 15thcenturies witnessed State formation under powerful Rajput chiefs, several of whom emerged from obscure origins.[4] It was the transitional phase where pastoralists were increasingly settling into peasant society. New

castes and community were evolving and newly emerging ruling clans like the Rathors sought *Kshatriya* rank within the Brahmanical ideological framework[5].

Rajasthan polity was in the shape of small principalities during 13-15th centuries and these multiple principalities lacked any defined territorial boundaries. As a result continuous warfare was the order of the day between these states. This situation ultimately weakened them and later encouraged external interference.[6] Due to the lack of a centralized rule and land-revenue system, the Rajput chiefs frequently indulged in loot and plunder. At the receiving end were the marginals that included the local tribes, pastoralist, menials and peasants who suffered the most at the hands of these plundering chiefs. The Rajput chiefs ransacked the neighbouring territories for cattle, a fact frequently narrated in the folktales of the region.[7] The local liberator and warriors provided protections to such victims from raids and assisted the destitute and dislocated people by rehabilitating the deserted lands. Hence were honoured by the people and gradually acquired the status of legendary figures in popular consciousness.

From 12th century Rathors started expanding their territory by offering defence to the villagers in lieu of protection money (*gughari*).[8] In an era of fierce warfare among the Rajput clans, the Rathors, with the might of sword, kept annexing villages after villages to their sphere of influence. By the middle of fifteenth century, the rule of Rathors was not only spread significantly to various parts of the Marwar region, the relations between Rathor rulers and local chiefs, which were formed on mutual agreement, were now relationship of sovereign and subjects. As the Rathor state of Jodhpur grew politically and military stronger. It sought to legitimize its place in ideological terms by linking their genealogies with the heroes of the Puranic past. It invented new myths and old symbols were re-emphasized. Construction and inflated narratives of Rajput gallantry and traditions became the staple diet of Bardic composition. The Charan poets, who benefited from the patronage of Rathor rulers, contributed in performing this task. Bardic literature of seventeenth and eighteenth centuries glorified both the actual and imagined conducts of the Rajput heroes. Sword, horses, skill and the practice of Sati, which are indicative of elevation of death in the battle, occupy the vital place in these narratives.[9]

II

It is in this political and ecological context the legends of Pabu

originated and took shape. A comparative reading of the stories about the life of Pabu in variant forms composed by Charan poets during the 16th, 17th, 19th and 20th centuries would throw valuable light on the process of deification of Pabu and how his image changed overtime. One of the earliest versions available to us on Pabu was composed in16th century by an illustrious Charan poet, Vithu Meha. Vithu Meha had composed Shri *Pabuji Dhandhal Ro Chhand*.[10] Munhta Nainsi's celebrated *Khyat*[11] records the seventeenth century bardic version of Pabu's life story. Nineteenth century versions are written by Ramnath Kaviya (1801 to 1879 A.D)[12]. Another important mid-nineteenth century composition *Pabu Prakash* is authored by Morji Asiya[13]. Narratives by Mahipal Singh Rathor and the *phad* of Pabu recorded by John D Smith[14] would reflect the perception of twentieth century.

The first available legend is confined to the description of the battle scene between Pabu and his brother in law, Jindrao Khicchi. Vithu Meha in the forty- eight couplets portrays Pabu where he indulges in battle with his brother in- law to retrieve the cattle stolen by the later from a Charan lady whom Pabu had promised to protect her cattle from any adversary. Most of the couplets of the *Chhand* are dedicated to Pabu's commitment to the values of chivalry and greatness of his army alone[15]. Pabu in this earliest version of the story is depicted as human being with no miraculous powers or abilities that makes him super-human being. Pabu's commitment to protect cattle of a Charan lady and even sacrificing his life for that, true or not, established a special bonding between the Charan community and the Rajputs. This bonding was further expressed into a client-patron relationship between the Ruling Rajputs and Charan Bards who then worked overtime to propagate the state ideology and help gain legitimacy for the new rulers as and when they expanded boundaries of their state. Pabu in this phase became popular among the masses only as hero who defying the caste norms could lay down his life for others who may not be at equal pedestal in the caste hierarchy.

The next legend is '*Vat Pabujiri'* recorded by Muhata Nainsi in the 17th century[16]. Though keeping some similarities, this makes a radical departure from the earlier version. Supernatural elements are associated with the birth of Pabu and performance of miracles is the recurring theme. A celestial nymph agreed to marry Dhandhal (Pabu's father) after being coaxed by him on the condition that he would not follow and watch her secretly. So with prior notice Dhandhal visited the nymph, and subsequently Pabu was born to

the nymph. One day he sneaked into the palace and saw a lioness giving a suck to her cub. On becoming aware of him, the lioness resumed her proper nymph form and vanished[17].

Another episode in the story narrates Pabu giving refuge to seven *Thori*[18] brothers who had been denied shelter by all other Rajput chiefs as they had killed the son of an influential chief. Pabu not only provided refuge to them but also performed a miracle to bring back to life his she- camel, which he had earlier allowed the *Thori* brothers to eat to satiate their hunger[19]. Nainsi in the account, records an incident where Pabu's sister Sona Bai was insulted by her husband-the Deora chief and a co-wife Vagheli on account of her brother's association with the *Thoris*. She was assaulted by her husband physically when she defended Pabu. Pabu could not bear humiliation of his sister and punished his brother-in-law. Pabu also killed AnoVaghela (Vagheli's father) then plundered his wife's ornaments and gave them to Sona Bai as dowry.

The fable further records the expedition of Pabu and his subordinate *Thoris* into the terrain of a powerful chief, Dedo Sumaro, for raiding his she-camels. Using his supernatural powers, he and his men crossed 'Panchnad' river, stole the she-camels of Dedo Sumaro and handed over to his niece as a wedding gift. Goga,(another popular folk deity of the region) the chief of Dedreva, to whom his niece Kelan Bai was married admired his adventure of stealing camels but doubted whether the stolen camels belonged to Dedo Sumaro. Therefore, in order to test the powers of Pabu, he took him to the desert and left their horses to graze. After a while Pabu went to fetch the horses, but found serpents shackled around the legs of both horses. He understood that it was a miracle shown to him by Goga and came back saying that he had not been able to find the horses. Then Goga went in search for the horses and found them in a small boat in the middle of a large lake, thereafter he acknowledged the supernatural powers of Pabu. This time both of them went to find the horses and found them grazing where they had left them.

A close study of the narrative recorded by Munhta Nainsi indicates changing popular perceptions about Pabu. The very birth of Pabu has been depicted as a supernatural event. The social origin of his mother remains obscure- a fact that the bardic account tries to conceal by representing her as *apsara* (nymph). The reality gets camouflaged in the garb of celestial Nymph and lioness. Pabu's father never brought up the child at his residence nor gave him the

same privileges as given to his other sons. Throughout the narrative, Pabu remains a close ally and patron of the lowest caste '*Thories*'. Interestingly Komal Kothari claims that Pabu grazed cows for a living. He was frequently taunted by his relatives for being in the company of the *Thoris* and was considered fit to be a peasant and not a mounted Rajput warrior. He did not inherit anything from his father. His image is that of a social bandit who stole the she-camels of the powerful Rajput chiefs and is portrayed as a savior of the seven *Thori* brothers.

The narrative tells that Pabu and his *Thori* followers sacrificed their lives for defending the cattle wealth of the local Charans. The original representation of Pabu, hence, was that of a warrior-hero (and also a bandit hero) who identified himself more with the lower caste *Thoris* than with Rajputs. As a miracle performer he was a deity who protected and helped the believers of his cult. At the same time, however, he, as a human was not above death as he died at the hands of his rivals (who were also humans) in the battlefield. His deeds transformed him, in popular memory, into a human hero and then gradually into a human celebrity with divine features. From Nainsi's version, two distinct stages may be traced in the evolution of the Pabu's legend up to the 17^{th} century. During the early stage-the period of initial state formation when Rathor war bands were trying to launch their domination over local chiefs and tribes in the 14^{th} –15^{th} centuries- Pabu was a local hero defending the interest of the vulnerable local populace. During the second stage-the period of emergence of Rathor state with its centralized administrative and revenue systems in the 16^{th}-17^{th} centuries- Pabu evolved from a local hero into a popular deity. However, there was much overlapping between these two stages and elements of the first stage survived into the second. Thus elements such as Pabu emerging as the champion of the cause of the disenfranchised groups are common to both the stages.

A careful reading of this version underlines the transformation of Pabu from a local hero to a supernatural being, a god who did not have an ordinary birth and could perform miracles at will. The story also attempts to establish Pabu as a superior and more powerful deity than Goga, an established god by then. The timing of this version coincides with the state formation and expansion of Jodhpur state by the Rathors. Pabu being a Rathor Rajput, therefore, could not remain inferior to Goga who happened to be a Chauhan Rajput.Since Pabu's 'Rajputization' as a Rathor hero was already under way by Nainsi's time, and the story contains a Rathor-centric bias, it is not difficult

to understand why the narrative sought to subordinate Goga Chauhan to the authority of Pabu Rathor.

Though Pabu was raised to the position of deity by seventeenth century as borne out by the legend recorded by Nainsi, he remains out of the ambit of Brahmanism. His association with Thoris, a lower caste had not stopped haunting him and he was despised for that, a fact delineated from the anecdote in the story where his sister is harassed and taunted by her in laws forPabu keeping company with Thoris. The priests of Pabu who organize 'Phad Banchna'(performing narration of Pabu's life story from Phad) called 'Bhopa' were also a lower caste. The method of worship was simple and non-Brahmanical which involved no complex rituals. Lighting of a lamp and narrating life story of Pabu depicted on a scroll of cloth called 'Phad' was the only method of invoking the god. This narration was performed by the priest 'Bhopa' and the devotees were only meant to listen. Personal devotion and individual observation of rituals, an essential part of Brahmanical religion were completely missing. But all this was set to change as we approached modern times.

Ramnath Kaviya (1801-1879) a Charan poet in the nineteenth century has composed couplets describing Pabu's life events. He portrays the rescuing of the cows as *Hindu Dharma* and Pabu is identified as an incarnation of Lakshman, brother of Lord Rama.[20] Numerous other compositions in the form of couplets (doha and *Pawara*)[21] by anonymous authors of nineteenth century mentions the episode of Pabu's marriage[22] and connects him with Lakshman. The description of his marriage projects that all god and goddesses of the earth were invited to the marriage of Pabu.[23]

A recent tale recorded by Dr. Mahipal Singh Rathor[24] equates Pabu with Lakshman. In the narrative Lakshman met Tarika, a *rakshshi*(female demon) while he, Lord Rama and Vishwamitra were searching for demons in the jungle. She had been meditating for twelve years to gratify a *Bawadi* (stepped well). The goddess of *Bawadi* fulfilled the wish of Tarika with a promise that she would marry the first man who would visit the *Bawadi*. So as Lakshman visited the *Bawadi*, Tarika in a form of beautiful woman insisted that he should marry her. Lakshman, who was unable to marry her then, promised to marry her in next life. It was to keep this commitment that Lakshman was born as Pabu and married incarnated Tarika in the form of Soda Rajput princess. In another contemporary popular narrative, Tarika is replaced with Surpanaka,

sister of Ravana.[25]In few contemporary narratives, the episode of Sati by Pabu's as well as Buro's wive's is a recurring theme, *Pabu Prakash* records that Shiva, Brahma, and Indra came to receive the wives of Pabu and his brother Buro when they performed s*ati*.[26]

Amongst the contemporary narratives, the most celebrated work is "The epic of Pabu" a Phad performance recorded by John D. Smith in 1976 by Parbu Bhopa[27] . The twentieth century story recorded by Smith is set in stars, Horoscope, attains importance in the journeys of Pabu. Although the main body of the stories is same, there is the superimposition of Avataric or the re-incarnation themes. Elements of Brahmanic Hindu religion seeps in major way. His journeys include pilgrimage to Pushkar, and expedition to Lanka, which are new addition to the 17th century chronicle of Nainsi. Pabu is addressed again and again as Lakshman. All his companions become incarnation of the characters from the Sanskrit epic, Ramayan. The marriage of Pabu assumes central and complicated dimensions by getting the marriage halted in between and not getting completed as Pabu had to rescue the cows of a Charan lady from his arch- enemy Jind Rav Khichi and as he gets struck by the sword of Khichi, Pabu travels away in a heavenly palanquin. However, the original ingredient in the story-the portrayal of Pabu as the protector of the vulnerable people and their cattle against formidable enemies-persists even in these accounts.[28]

The nineteenth and twentieth century perception about Pabu, however, bring into sharp focus the entry of some significant new features in the process of the deification. These include projection of Pabu as a protector of *Hindu Dharma* and presenting him as an incarnation of Lakshman, which are undoubtedly later innovations. The character of Ravan from Ramayan also makes its entry as the chief of the region Lanka from where Pabu and his servants rob the cattle. In the version by Nainsi the region was addressed as Panchnada and the chief as Dedo Sumaro. Twentieth century narratives focus more on his marriage episode, where major gods of the Brahmanical traditions seems to have been present. In the recording by John D. Smith, invitation of Pabu's marriage went to Ganesh, his wife Shiva, bemata, Bhairu and the popular deity Ramdev. This reveals the process of incorporation of Pabu into mainstream Hindu religious system. Such a projection certainly helps in raising the status of Pabu as a deity as well as in his incorporation into Hindu pantheon.

Rustom Bharucha makes the observation that the region where milk is the primary source of income, the in-carnations of Vishnu and

Krishna are essential component of the stories and epics from the cow breeding area as the Pabu epic are always sanctified by the Rama story[29]. The connections between the legends of Pabu and the Sanskrit epic Ramayan has been interpreted by Blackburn and Flueckiger as means of legitimizing the folk epics[30]. John D. Smith sees it no more than the taking up of loose end. The folklorist Komal Kothari avoided comparing oral and classical epic since to him they represented very different value system but he attributes the similarities and influences to sanskritization process[31]. These theories have not been accepted by Alf Hiltebeitel. To him the commonality between regional martial epic and Sanskrit epics can be looked into the theory of 'frame stories' i.e. regional oral epics use the classical epic convention of the 'frame story' to frame their own stories with the main stories of one or the other of the classical epics[32].

My research in the field of popular religion suggests that they should be seen as a part of the process of incorporation of Pabu into mainstream Hindu religious system. One needs to study the trace elements of earliest version, at least in the case of Pabu, the proposed theory of Hiltebeital does not fit in, the nature of the earlier stories reflected in Nainsi's *vah* is far from any story of Sanskrit epics. The later innovations especially weaving Ramayana in the local non-brahmanic tales should also be located in the whole process of appropriation of local cults by brahmanic Hindu religion. The nineteenth century witnessed growing religious consciousness in the country. The aggressive work of Christian missionaries under the British rule met with equal efforts of both Hindu and Islamic religious preachers to extend influence of their respective religions. The large masses that till then worshipped their own local gods for their mundane issues were not part of any organized religion. One way to bring these people in the fold of Brahmanical religion was to appropriate their deities. Introducing brahmanical iconography, linking their origin to Hindu gods and goddesses and interpolating traditional methods of worship with Brahmanical rituals were some of the techniques adopted to achieve this. The local deities with a small religious system and unorganized followers toughly resisted but could not withstand the onslaught of the institutionalized religion and were subsumed by it.

References

1. Bharucha Rustom, *Rajasthan An oral History: Conversations with Komal Kothari* New Delhi: Penguin Books, 2003.

2. *Imperial Gazeteer of India: Provincial Series. Rajputana..1908 Jodhpur:Books Treasure, 2007,* pp 170-174
3. *Ibid*
4. See, B. D. Chattopadhayaya's criticism of the 'feudalism' thesis and theories of transition from ancient to medieval period of Indian history, *The Making of Early Medieval India,* Delhi: Oxford University Press, 1994, particularly chapter I.
5. B.D. Chattopadhayaya, The emergence of the Rajputs as Historical Process in Early Medieval Rajasthan in *The idea of Rajasthan: Exploration in Regional Identity,* Vol-II edt. Karine Schomer. Delhi: Manohar. 1994, pp 161-191.
6. G. D. Sharma, *Rajput Polity: A case study of Politics and Administration of the State of Marwar, 1638-1749*, Manohar, 1977, page 1
7. See, Vat Pabuji Ri in Munhta Nainsi, *Munhta Nainsi Rikhyat,* ed. Badri Prasad Sakaria, III, RORI, 1993, pp. 58-79
8. G. D. Sharma, op. cit. p 2
9. Badardan Dadhvadiya Ro Kaheyo, "Geet Pabuji Rathor Dhadhaloth Ro", *Rajasthani Veergeet Sangrah,* part 2, RORI Jodhpur 1968, p. 26-36. The song accolades the bravery, battles, marriage and death of Pabu. Similar themes can be found in many other songs. See *Geet Raja Kesri Singh Shekhavat Ro* in the same volume, where the song is on King Kesri Singh Shekhavat of Khandela state of Shekhavati. Kesri Singh is killed in the battlefield fighting the Royal Governor of Ajmer. The theme is basically a gory picture of the battle and it says that the clean clear water of River Sambhar turned into red colour with the blood of the enemies. Similar kind of numerous songs can be found in *Veergeet Sangrah*, which gives a vivid detail of the battles. Besides the battles and death the *Geet* also highlights the voluntary funeral pyre with the deceased husband i.e. *Sati* conducted by the wives in a very dramatic sequence
10. Moolchand 'Pranesh', "Vithu Meha Kret, Shri Pabuji Dhandhal Ro Chhand" *Varda,* year 6, No.4, October, 1963
11. Munhta Nainsi, *Munhta Nainsi Ri Khyat,* eds. Badri Prasad Sakaria, Vol. III, RORI, 1993, pp. 58-79
12. Shree Ramnathji Kaviya, "Pabuji Ke Sorethe", in *Maru Bharati*, year 13, No. 3, October 1964, pp. 34-35
13. Mahakavi Morji Asiya, Pabu Prakash, eds. Narayan Singh Bhati, Maharaja Mansingh Pustakprakash, Jodhpur, 1983.
14. John D. Smith, *The epic of Pabuji:A study, transcription and translation.* UK: Cambridge University Press 1991.

15. Mool Chand Pranesh, *opcit*
16. Nainsi, *opcit*
17. *Ibid*
18. Thori is a low caste and looked down upon as notorious robbers, see M.A sherring, *Hindu tribes and castes*, vol-III Cosmos publication, Delhi.1974, pp 63. Tod describes them as evil spirits and were even called sons of devils, ranks them with professional thieves scattered over Rajasthan, James Tod *Annals and Antiquities of Rajasthan*, Vol-II, pp 261
19. Nainsi, *opcit*
20. Shri Ramnathji Kaviya; "Pabuji Ke Sorathe"; in *Maru Bharati*, year 13, No. 3, October 1964. pp. 34-35
21. Pawara comprises of couplets, which are sung by the professional Bhopas, worshipers of Pabu, for the public gathering
22. "Pabuji Ke Vivah Ka Pawara", in *Maru Bharati*; year,1; no.2; February, 1953
23. *Ibid*
24. Dr. Mahipal Singh Rathor; *Rajasthan Sahitya Mein Lok Devta Pabuji*; Himanshu Publishers, Udaipur, 2001, pp. 43
25. *Ibid*
26. Mahakavi Morji Asiya, *opcit*
27. John Smith, *opcit*
28. *Pabu Kahun Ke Parasram, Arjan Kahun Ke Bhim, Chorna Chori KarSakai, Bari Takai Na Seve! TeraPerwara Kun Giraya Garh Dhandhal Ka Bhim!!,* in Ramnath Kaviya, *Varda* year 1, No. 3, July 1958, pp. 31
29. Rustom Bharucha, *opcit*
30. Blackburn, Stuart H and Joyce B Flueckiger and Susan S Wadley edt, '*Oral Epics in India*.' Berkeley : University of California Press, 1989.
31. Rustom Bharucha *opcit*
32. Alf Hiltebeitel, *Draupadi among Rajputs, Muslims and Dalits : Rethinking India's Oral and Classical Epics.* New York: Oxford 2001.

Dr. Rajshree Dhali
Associate Professor,
SGBT Khalsa College
University of Delhi

❑❑❑

Attitude of State Towards Urban Growth of Eighteenth Century Rajasthan

• **Shabir Ahmad Punzoo**

Abstract: *The process by which rural areas become urbanized as a result of economic development and industrialization is known as urbanization. Demographically, the term urbanization denotes the redistribution of populations from rural to urban settlements over time. As an economy moves from being primarily agricultural driven to an industrial or service driven economy, it experiences high rate of urbanization. Rajasthan is the largest state of India accounting for ten percent of its geographical area. During the period under discussion, the state of Rajasthan experienced a good rate of urban growth. Historians and scholars have traced many causes responsible for the said growth but hitherto the role of state has not received sufficient attention as it deserves. In this paper an attempt has been made to analyze the role and attitude of state (Rajput rulers) towards the urban growth of medieval Rajasthan (particularly eighteenth century). The aforementioned study will also analyze the response of professional class (merchants, traders, etc.) to the facilities and invitations provided by state and how that proved fruitful in the process of urbanization.*

Key Words : *Urbanization, State, Professional class, fairs.*

After the downfall and disintegration of the great Mughal Empire in the eighteenth century, there was an initiation of important reconfigurations in the polity, society and economy[1]. Many state rulers became independent in their respective regions. They became now free as *mansabdars* from imperial services and were devoid of that income which they used to receive from the mighty Mughals. In absence of such income, they had to consolidate their position and had to search new avenues of income

in their own areas. In the wake of these stringent circumstances, the major need was to generate resources to enhance the state treasury. The state made good efforts to encourage the trade and commerce in order to augment its income[2]. The efforts of Rajput rulers helped in the urban growth of medieval Rajasthan (particularly eighteenth century)[3]. The Rajput rulers wanted to balance the state budgets with the growing income of the transit duties, so it showed keen interest in the promotion of commercial activities[4]. The state provided different kinds of facilities to merchants and traders and organized fairs which proved very helpful in the process under discussion.

Facilities provided by the State to professional class (traders, merchants, etc.) and response of professional class towards the states provisions

The Rajput rulers of the various regions of Rajasthan took keen interest in the promotion of trade and commerce. We know that trade is one of the basic indices for the measurement of the development of any small area, state or even a country. It occupies an important place in the economy of the country. Through Archival sources we come to know that due to sincere efforts of the state, new commercial towns were established. The state provided big incentives and extended various concessions and facilities to traders like grant of land (free of cost)[5], safety and protection on trade routes, exemption from various taxes, fodder and water facility, allurements for shops and houses[6], organization of fairs (traders and merchants were invited) etc. Separate offices were established to look after the trade and craft sector[7]. The state gave them assurance of compensation for the loss in case of plunder by dacoits[8]. Government officials were asked not to harass them rather to encourage them. Traders and merchants were also given the royal favor in the form of *siropaos* (robe of honour) by the local rulers[9]. While examining the *bahis* of Bikaner, we come to know that there was provision of necessary food and water supply for the traders as letters were issued to the pattedars and Chowdaries of the main Thikana and Khalisa village situated on the routes for this purpose[10].

Facilities were provided not only to outside traders rather these were given also to local traders. Evidences show that local traders were given different incentives and concessions. For instance, well known and famous trader of Ramgarh (Sekhawati)-

Mirjamal and his family were invited by Raja Surat Singh of Bikaner to settle down in the state[11]. Land was arranged for their settlement in Churu and various provisions were offered to them[12]. Traders and merchants got attracted by these facilities, came from different areas and provinces to settle down and open their business firms in various states of Rajasthan, and hence helped in the process of urban growth of Rajasthan.

Evidence of Traders (who came from different areas)

In the late eighteenth century, Shah Tulasi Ram Kan Das (Gujrati) started his business firm in Sawai Jaipur[13]. He was exempted from various taxes by the state[14]. In Jodhpur, business firms were established by many traders of Multan like Lila Ram, Dwarkha Das Khatri, etc[15]. Similarly, traders came from Sind and settled down in various areas of Rajasthan in order to earn profit. For instance, Magani Ram Sawat (settled in Didwana), Bula Arora (in Phalodi), Sagato Kirpal (settled in Bikaner)[16]. Besides these, we find reference of traders from Qandahar (Haji Muhammad Hasan, Musa Khan, Ismail Khan)[17], Agra (Shah Bhola Nath, Bhoj Raj Gang Raj Agrawal)[18], Indore, Ujjain (Seth Kewal Ram, Shah Pomaji Aman Singhji)[19], Kabul (Pathan Akhtiyar Khan)[20], Jhansi, Burhanpur, Lahore, Mathura, Gwalior, etc. They initiated their business in different areas of Rajasthan and proved fruitful in the growth of trade and commerce. They traded extensively and invested their capital over here[21]. They conducted their business in a better way and engaged themselves in different commercial activities like money-lending, *hundi* and business, trade, etc. It is interesting to note that once they settled down in different regions of Rajasthan in order to earn profit and prospects, they invited their kith and kin, thus enlarged the urban populations and in this way enhanced the urbanization process.

Fairs (Traders were invited to participate in fairs)

Besides the above mentioned facilities provided to the professional groups (traders and merchants), the state provided them concessions in fairs as fairs were seen as a source of additional income in terms of economic development[22]. Traders were invited to participate in the fairs and bring their commodities for sale[23]. Generally, fairs were markets for all kinds of goods; some of them became cattle markets for agriculturists. Fairs served as centres of intensive economic as well as cultural activities. In

fairs, merchants congregated and economic activities got boosted, hence helped in urban growth[24]. Basically, due to fairs, traders and merchants got additional avenues and opportunities for selling their goods and commodities. Through the examination of sources we come to know that there was concession and exemption in taxes and cesses on sale and purchase[25]. Traders and merchants were encouraged to come with their merchandise in the fairs which helped in the development of markets and towns, thus accelerated the process of urbanization. Some popular fairs and their centres are explained below:-

Goga ji fair (at Nohar):- At Goga Medi near Nohar, Goga ji fair was held in the month of Bhadon i.e. August-September, wherein snake was carved on the stone and was worshipped by a large number of people[26]. Goga ji is a medieval century folk deity of Rajasthan[27]. People of different areas paid visit annually and exchange of commodities was done in it[28]. At Goga Medi, the largest cattle fair was organized wherein traders from Nohar, Bhadra, Hanumangarh and Ganganagar assembled and considerable amount of trade in camel and cattle took place[29].

Fairs in Marwar: - In Marwar four fairs were held in different parts of the region like Phalodi, Kaparda, Ramdevra and Mallani[30]. In Mallani fair was originally started in the name of Rawal Mallinath (saint ruler of the area) and later it became popular for cattle fair, held twice in a year i.e., February and March-April[31]. There used to be sale of cattle. Fair of Kaparda was a cattle fair in which professional groups were invited and offered concessions in taxes[32]. There used to be buying and selling of camels, bullocks, horses, etc., by traders who used to come from far and near of places[33]. Mundwa fair was organized in the name of Krishna. It was a famous fair, lasted for almost six weeks. Basically, it was grain fair where dealers of different places came for sale purposes in order to earn prospects[34]. We find reference of cattle being sold in this fair. During the second half of the eighteenth century, the Nawab of Awadh sent his men in the said fair in order to purchase camels[35]. Umedganj fair: - Traders from different provinces (Agra, Delhi, Surat, etc.) were invited to come with their commodities for trading purposes[36]. Phukkar (Pushkar):- It is a village near Ajmer where annual fair was held[37]. Jalor:- In the month of March-April, a fair was held in Jalor[38].

In the light of all the above facts, it may be said that the state

proved instrumental in the process of urbanization in Eighteenth Century Rajasthan. By providing different incentives to traders and merchants, it enhanced the commercial activities which in turn gave fillip to urban growth. Economic activities boosted and there was development of towns and markets (features of urban growth). Professional groups were encouraged to a great extent who in turn **g**ave their best in the form of their skills and production, and hence helped in the acceleration of urban growth. The Rajput rulers served as engines of economic growth by promoting trade and commerce of the state and by providing different facilities to traders and merchants who absorbed them in a better way, thus served as life lines to the towns. Migration of traders from different areas enlarged the population of the state, thus proved fruitful in the process under discussion. Thus, it can be said that both state and professional class provided meritorious services in the urbanisation of Eighteenth Century Rajasthan.

References and Notes

1. Meera Malhan and Shalini Saksena, 'The Rise of Merchants and Traders in Eighteenth-century Rajasthan, India: An Exploratory Study', The Indian Economic Journal, p.1.
2. G.S.L Devra, 'A study of the trade relations between Rajasthan and Sindh/Multan (1650-1800 A.D.)', Proceedings of the *Indian History Congress*, Vol.39, Volume I (1978), p.583; S.P. Vyas, *Urbanisation and Trade Routes of Rajasthan*, Books Treasure, Jodhpur, 2011, p.122; Mathur, K.L., " Change and Continuity in the Economy of Bikaner state as reflected in the Bahis; 1746-1828", *unpublished Ph.D thesis of Jamia Millia Islamia*, New Delhi, 2002, Chapter-VI; Athar Hussain, "Craft and Trade in the 18th Century Rajasthan", *unpublished Ph.D thesis of Aligarh Muslim University*, Aigarh UP India, 2008, p.12.
3. S.P. Vyas, *Urbanisation and Trade Routes of Rajasthan*, op.cit., p.122.
4. G.S.L. Devra, 'A study of the trade relations between Rajasthan and Sindh-Multan (1650-1800)', op.cit., p.583.
5. *Sanad Parwana Bah*i No, 21, V.S. 1835/ A.D.1778, Jodhpur Records, R.S.A.B. In Nagaur, we find reference of two Multani merchants namely Navneet Rai Bhawani Das and Navneet Rai Bhiyani who were given land free of cost for shops and *Havelis* by the Maharaja of Jodhpur.

6. *Parwana* to Heera Nand Purushottam Das Johari of Delhi dated Jyestha Vadi 12, 1811 (1754 A.D.), Draft Kharita and Parwana, Jaipur Records, R.S.A.B. Heera Nand was given many concessions and land for shop and house in Sawai Jaipur; S.P. Vyas, *Urbanisation and Trade Routes of Rajasthan*, op.cit., p.130; Devra, G.S.L., op.cit., p.584.
7. Athar Hussain "Craft and Trade in the 18th Century Rajasthan", op.cit.,p.12.
8. *Kagdo ri Bahi*, No. 14, V.S.1863/A.D.1806, Bikaner Records, R.S.A.B; *Kagdo Ki Bahi*, No 3,V.S.1827, p.29; No. 8, V.S.1851, p.35, *Chhutta Kagads*. We find reference of Multani trader who (having two camels loaded with cloth) was looted near qasba Khangarh, was compensated two hundred and fifty rupees by the Maharaja of Bikaner.
9. *Sawa Bahi Mandi Sadar*, No. 3, V.S.1805/A.D.1748, Bikaner Records, R.S.A.B.
10. *Kagdo Ki Bahi*, No.3, V.S.1827, p.51.
11. Govind Agarwal, *Potedar Sangraha Ke Pharsi Kagzat*, pp.3-5.
12. Ibid.
13. *Parwana* to Tulasi Ram Kan Das Gujrati, v.s.1840/A.D.1783, *Draft Kharita and Parwana*, Jaipur Records, R.S.A.B.
14. Ibid.
15. *Khas Rukka Parwana Bahi*, No.1, Baisakh Vadi 4, 1825 V.S/1763 A.D, Jodhpur Records, R.S.A.B. We find reference of Bhin Das Arora and Santram Khatri (multani traders) who settled in Bikaner and initiated their business there (*Sawa Mandi Sadar Bahi*, Bikaner, V.S.1807/A.D.1750).
16. B.L. Gupta, 'The Migration of Traders to Rajasthan in the Eighteenth Century', Proceedings of the Indian History Congress, Vol.48 (1987), pp.313-315.
17. Ibid.p.315. We find reference of Ismail Khan, Musa Khan and Ibrahim Khan- who established themselves in Jaipur for trading purposes (traded in indigo and cloth) in 1762.
18. Ibid.pp.314-15.
19. Ibid, p.315.
20. Ibid.
21. S.P. Vyas, *Urbanisation and Trade Routes of Rajasthan,* op.cit., p.130.

22. B.L. Bhadani, *Peasants, Artisans and Entrepreneurs*, Rawat Publications, Jaipur and New delhi, 1999,p.311.
23. Vyas, S.P., *Urbanisation*.……op.cit., p.125.
24. Ibid., p.130.
25. *Khass Rukka Parwana bahi*, No.1, V.S.1844/A.D.1787*; Sanad Parwana Bahi*, Jodhpur, No.21, V.S.1835/A.D1778.
26. Sarita Sarsar, 'Economic Contours of Hero's Den: Untalked dynamics of Gogamedi shrine in medieval Rajasthan', *Proceedings of the Indian History Congress*, Vol.74, 2013, p.324.
27. Ibid., p.323.
28. K.K. Sehgal, *Rajasthan District Gazetteer Sri Ganga Nagar*, Jaipur, 1972.
29. Sarita Sarsar, op.cit.,pp.324-25.
30. Cf. *Vigat*, I, pp.161-62 as mentioned by B.L. Bhadani, op.cit.,p.315.
31. Cf. *Hakumat Siwana-ri-Bahi, Jama Kharch bahi*, No.96, RSA, Jodhpur as mentioned by B.L. Bhadani, op.cit., p.315.
32. *Sanad Parwana Bahi*, Jodhpur, No.13, V.S.1830/A.D.1773.
33. *Sanad Parwana Bahi*, Jodhpur, No.1, V.S.1821/A.D1764.
34. *Khass Rukka Parwana Bahi*, Jodhpur, V.S.1844/A.D.1787.
35. *Sanad Parwana Bahi*, Jodhpur, No.13., V.S.1830/1773.
36. *Bhandar* No.4, basta no. 2; *Zakat Bahi*, qasba Nandgaon, Kota, V.S.1873.
37. *Waqi-i-Ajmir*, pp.40-41 as mentioned by Singh, M.P., *Town, Market, Mint and Port in the Mughal Empire*, Adam Publishers, New Delhi, 2007, p.146.
38. Cf. *Jalor Vigat*, small bahi, f.99b. as mentioned by Bhadani, B.L., op.cit.,p.315.

Shabir Ahmad Punzoo
Research Scholar at C.A.S./Department of history
AMU, Aligarh
Email: shabirpunzoo99@gmail.com

❑❑❑

Environmental Awareness of Higher Secondary School Students In Bankura District, West Bengal

Dr. Nandini Banerjee • Dr. Amarnath Das • Rimpa Betal

ABSTRACT: *Environmental awareness makes the human being more conscious and knowledgeable about the environment and environmental related problems. Moreover, this kind of awareness is essential for action from all sector. So the present study tries to highlight the level of environmental awareness among the higher secondary school students of Bankura district, West Bengal. The descriptive survey method was used in the present study. Random sampling technique was done for selecting the sample. Total 80 higher secondary school students were taken as sample from six West Bengal government aided higher secondary Bengali medium schools of Bankura. Three different groups are formed within the selected samples on the basis of Gender, Locality and the Academic Streams. A standardized Questionnaire on 'Environmental Education Awareness Test (EEAT)' by Dr.(Mrs.) Vipinder Nagra has been used for data collection. The data was organized and statistically analysed by using Mean, Standard Deviation and ' Z' Score. In course of this analysis it was found that implementation of Environmental Education in higher secondary level was reflected in consciousness among the students of Bankura district in West Bengal and the students exhibited of having very high environmental awareness.*

KEYWORDS : *Environmental awareness, higher secondary school students, gender, locality, academic stream*

INTRODUCTION :

Environment involves the all surrounding conditions in which man, animal, or plants lives and survives. It includes air, water; land etc. The inter-relationship has been exist between these nonliving and living beings like human; other living creatures, plants, micro-organism etc. The word environment embraces the conditions or influences under which any organism or things exists, lives or develops. The environment is as much important as it directly affects our lives. It's impossible for Man to exist without the environment. The relationship of man with the environment has been established in the early periods of human evolution itself. Human lives in the territory of nature and interacts with it constantly, he breathes in the air, he drinks the water, and he eats the foods. Like this way energies are flown. Any alteration in the balance of environment cannot only result in the devastating effects, but can also pose a serious menace to the all human race. Thus, the entire society should work together to protect our surrounding environment. (Astalin, P. K. 2011)[1]

Today human being is living in a world of crises. In recent decades, global problems relating to degradation of natural resources and pollution have increased dramatically. Natural resources are begun to deplete by the excessive use of us. Many efforts are being made to make people environmental friendly. The term 'environmental awareness' has a broad sense. It not only implies knowledge about environment but also value and necessary skills to solve the environmental problem. Only education can make man aware, conscious and knowledgeable about environment and environmental problems. Environmental education is an important tool through which the goals for awareness can be achieved easily (Erol, G. and Gezer, K. 2006).[2] This is the crucial time for inculcate the environmental awareness among the masses particularly among students. Student's knowledge, attitude, social background and sensitivity towards their own environment is the key factor to influence their Environmental awareness (Harun, R., Kuang L. and Othman F. 2011).[3]

Day by day numerous environmental problems are encountered by us. It is crucial for the country to get acquainted with these problems so that their acts may come to be eco-friendly

(Shrivastava, B. 2015).[4] All the educators and environmental scientists of world have frequently pointed out to the solution of environmental crises. For the last 50 years to tackle with this menace, Environmental Education become the main area of interests of educational institutions, school organizations, the private sector, local communities and local governments (Singh Patial, B.2016).[5] It will need an awareness which should be deeply rooted in the education system at all levels of school education. Now a day environmental awareness is a very important topic for discussion. Lots of seminars and conferences are being held at various levels. The environment and energy related problems cannot be solved unless students, the future citizens of our country are aware of them. It is an essential need for each individual to develop an awareness of conservation of the environment.

In the modern era of technology with the progress of industrialization, urbanization and adoption of modern techniques in agriculture, environmental problems have become a alarming issue for human society. By considering the importance of environmental conservation, most developed countries also have included the issue of environmental conservation in their political agenda. It has been widely accepted that human society are becoming cautious about the environmental issues and to make perspective plans for improvement of environmental problems. Education about Environment is an important tool though which the goals for awareness can be achieved easily. Environmental Education is aimed at producing educated population who concern about the biosphere and its linked problems. They should be aware of how to solve these problems, and motivating people towards these solutions. Environmental Education acts as an essential tool in the battle against the ruining of living environment.

If environmental values have to inculcate within the students, then eco-friendly behavior should be nurtured. Many research works have been taken up in this respect. But being a location specific issue, research on environmental awareness should be under taken in different parts of the country for developing a clear understanding and perspective of the issues involved.

It is pathetic to notice that younger generation of India is less concern about environmental balance. Compulsory environmental education at all level in education system as directed by Hon'ble Supreme Court is the most appropriate strategy towards

environmental protection. The researcher felt the need to study the environmental awareness among the higher secondary school students.

OBJECTIVES OF THE RESEARCH STUDY :

1. To compare the Environmental Awareness of Rural and Urban students at higher secondary level school.
2. To compare the Environmental Awareness of Arts and Science stream students at higher secondary level school.
3. To compare the Environmental Awareness of Male and Female students at higher secondary level school.

HYPOTHESIS OF THE STUDY :

- **H_1 –** The rural students are better than the Urban students with regard to their Environmental Awareness.
- **H_2 –** The students of Science stream are better than the students of Arts stream with regard to their Environmental Awareness.
- **H_3 –** The Female students are better than the Male students with regard to their Environmental Awareness.

METHOD :

Descriptive Survey method has been used in the present study.

POPULATION :

All the Higher Secondary level school students (Arts and Science stream) who are studying of Bankura district in West Bengal.

SAMPLE AND SAMPLING TECHNIQUE :

80 students of higher secondary level school have been selected as sample by adopting the random sampling techniques in present study. All samples are selected from Bengali medium school of Bankura district in West Bengal. The selected samples have been divided into three different groups on the basis of Gender, Locality and Academic Streams.

TOOL USED :

On the basis of objectives of the study a Standardized Questionnaire on Environmental Education Awareness Test (EEAT)

by Dr. (Mrs.) Vipinder Nagra from National Psychological Corporation has been used for data collection.

STATISTICAL TECHNIQUES :

The data was analysed through Mean, Standard Deviation and ' Z' Score.

SCORING PROCEDURE :

In the scoring procedure, each correct answer gets a score of **1** marks and each incorrect and un-attempted item gets a score of **0** marks.

DATA ANALYSIS TECHNIQUES :

According to the objectives MS-Excel has been used for the data analysis. The research design is given below.

RESEARCH DESIGN :

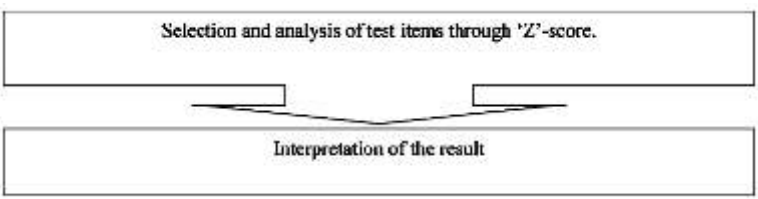

Figure-1 : Showing design of the study

DELIMITATION OF THE STUDY :

1. The study has delimited to only the Higher Secondary level school students.
2. The study has delimited to only Arts and Science students.
3. The study has delimited to only the Bengali Medium Higher Secondary level school students.
4. The study has delimited to only Bankura District.

REVIEW OF RELATED LITERATURE :

1. **Padmanabhan, J. & Rao, P.M. (2008):** Conducted a study entitled as "Environmental awareness and Environmental Attitude of Secondary School Teachers of Maldives". In this study researchers investigated creating environmental awareness among secondary school students. The main objectives were - To study the difference in the environmental awareness and environmental attitude between males and

females, the relationship of environmental awareness and environmental attitude of secondary school teachers of Maldives. Total 23 Maldivian Secondary school teachers having Post Graduate degree in Education have been chosen as the sample of the study by using the purposive cluster sampling technique. The researchers use to descriptive survey method for interpreting and describing the environmental awareness and environmental attitude of secondary school teachers of Maldives. On the basis of the objectives of study following tools were developed, standardized and used in the present study Environmental Awareness Test and Environmental Attitude Scale. Findings: the majority of secondary school teachers of the Maldives have a moderate awareness of the environmental problems, issues and other related aspects. They also have a positive attitude towards protection of the environment. The study revealed that there was a relationship between awareness and environmental attitude. There was no significant difference between male and female teachers in their consciousness and attitude towards environmental awareness. It was also found out that the environmental awareness may predict the environmental attitude of Maldivian Secondary school teachers.[6]

2. **Kaur, N. (2015):** Conducted a study entitled as "Environmental awareness among the senior secondary school students in relation to their gender and academic stream." In this study researchers investigated environmental awareness among the senior secondary school students in relation to their gender and academic stream. The main objectives were - To compare the environmental awareness among senior secondary school students in relation to their gender, academic stream. The researchers use to descriptive survey method for interpreting and describing the environmental awareness among senior secondary school students. Descriptive statistics, inferential statistics and Graphics statistics were used to analyse the data. Environment Concept Achievement Test (ECAT) is used for collection of data which was prepared and standardized by Dr. S.K. Bawa, Dean, Faculty of Education, Lovely University Phagwara, Punjab. The test measures the environment concept achievement of the students of tenth, eleventh and twelfth grades. The major findings of the study revealed that

girls are more environmentally aware than boys, science students are more aware of the environment than arts students, majority of the students of the senior secondary schools are aware of the environment.[7]

3. **Singh, R (2016):** Conducted a study entitled as "Environmental awareness among the undergraduate students in relation to their stream of study and area of residence." In this study researchers investigated environmental awareness among the undergraduate students in relation to their stream of study and area of residence. The main objectives were - To study the level of environment awareness among undergraduate students in relation to their stream of study and area of residence. For selecting the sample, the random sampling technique has been used. The true representative sample of 224 undergraduate students who are studying in Government/ Government aided colleges situated in district Ambala has been drawn for conducting this research study. A Test, viz. 'Environmental Awareness Ability Scale (EAAS)', made and standardized by Dr. Praveen Kumar Jha (1998) has been used as the research tool for measuring the level of environmental awareness of the undergraduate students. The researcher use to descriptive survey method for interpreting and describing the level of environmental awareness among undergraduate students in this study. The major findings of the study revealed that the undergraduate students if district Ambala possessed good average level of environmental awareness.[8]
4. **Godara, R. & Khirwadkar, A. (2017):** Conducted a study entitled as "Creating environmental awareness among the secondary school students." In this study researchers investigated creating environmental awareness among secondary school students. The main objectives were- To develop and to implement activities for environmental awareness among secondary school students Vadodara city, to study the opinion of school students on the implemented activities. Random sampling technique was used to select the sample, six schools were selected purposively for conducting the study irrespective of the medium of institution. The researcher use to descriptive survey method for interpreting and describing the level of environmental awareness among the secondary school students in this study. A qualitative analysis has been done on collected data. The major findings of the

study revealed that the students understood the importance of developing Eco-friendly habits, preserving environment in their life, saving water, electricity and other resources. Out of Waste management activity, the students realised that many of the waste materials can be effectively utilised.[9]

DATA ANALYSIS AND INTERPRETATION :

The next step in the process of research after the collection of data is the organization, analysis and interpretation of data, formulation of conclusion and generalization to got a meaningful picture out of the raw information collected.

RESULTS :

- **TABLE-1:** This table showing the interpretation of z-scores for environmental awareness.
- **TABLE-2:** This table showing the number of students and percentage level of attitude towards environmental awareness.

TABLE–1

Interpretation of Z-Scores for Environmental Awareness [Standardized Questionnaire of Environmental Education Awareness Test (EEAT)]

Sl. No.	Range of Raw Score	Range of Z Score	Grade	Category of Environmental Awareness
1	68 and Above	+2.01 and Above	A	Very High Environmental Awareness
2	62 to 67	+1.26 to +2.00	B	High Environmental Awareness
3	56 to 61	+0.51 to +1.25	C	Above Average Awareness
4	47 to 55	+0.50 to -0.50	D	Average Awareness
5	41 to 46	-0.50 to -1.25	E	Below Average Awareness
6	35 to 40	-1.26 to -2.00	F	Low Awareness
7	34 and Below	-2.01 and Below	G	Very Low Awareness

TABLE–2

This Table Showing Number of All Students and Their Percentage Level of Attitude Towards Environmental Awareness

Sl. No.	Range of Z-Score	Grade	Category of Environmental Awareness	Number of students	Percentage %
1	–2.01 and Above	A	Very High Environmental Awareness	78	97.5%
2	–1.26 to –2.00	B	High Environmental Awareness	1	1.25%
3	–0.51 to 1.25	C	Above Average Awareness	1	1.25%
4	–0.50 to –0.50	D	Average Awareness	0	0
5	–0.50 to –1.25	E	Below Average Awareness	0	0
6	–1.26 to –2.00	F	Low Awareness	0	0
7	–2.01 and Below	G	Very Low Awareness	0	0
				80 Total	100%

➢ **PIE GRAPH : Showing all students and their percentage level of attitude towards Environmental Awareness**

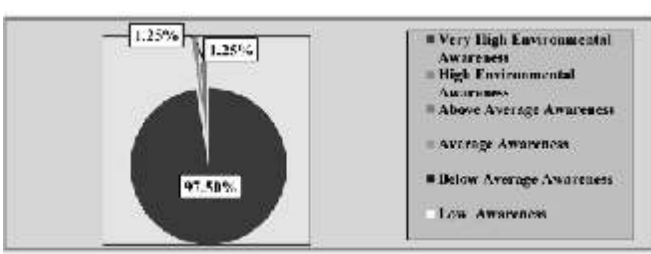

Figure – 2 : Presenting all students and their percentage level of attitude towards Environmental Awareness with Pie Graph

➢ **BAR GRAPH : Showing all students and their percentage level of attitude towards Environmental Awareness**

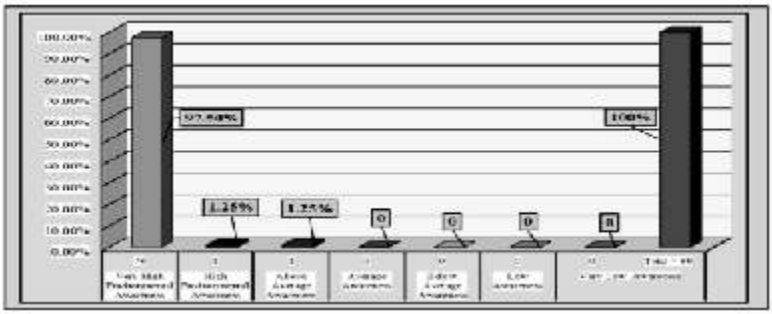

Figure - 3: Presenting all students and their percentage level of attitude towards Environmental Awareness with Bar Graph

INTERPRETATION :

The above table shows that out of 80 students, the higher percentage of students, i.e. 97.5% has Very High Environmental Awareness, 1.25% has High Environmental Awareness and 1.25% has Above Average Awareness in respect of their environmental awareness. So, it leads to the conclusion that majority of students are quite conscious about the environment.

OBJECTIVE-1: To compare the Environmental Awareness of Rural and Urban students at higher secondary level school.

H_1: The Rural students are better than the Urban students with regard to their Environmental Awareness.

TABLE - 3

This Table Showing Number of Urban Students and Their Percentage Level of Attitudes Towards Environmental Awareness

Sl. No.	Range of Z-Score	Grade	Category of Environmental Awareness	Number of students	Percentage (%)
1	+2.01 and Above	A	Very High Environmental Awareness	38	95 %
2	+1.26 to +2.00	B	High Environmental Awareness	1	2.5 %
3	+0.51 to +1.25	C	Above Average Awareness	1	2.5 %
4	+0.50 to -0.50	D	Average Awareness	0	0
5	-0.50 to -1.25	E	Below Average Awareness	0	0
6	-1.26 to -2.00	F	Low Awareness	0	0
7	-2.01 and Below	G	Very Low Awareness	0	0
				40 Total	100%

TABLE - 4

This Table Showing Number of Rural Students and Their Percentage Level of Attitudes Towards Environmental Awareness

Sl. No.	Range of Z-Score	Grade	Category of Environmental Awareness	Number of students	Percentage (%)
1	+2.01 and Above	A	Very High Environmental Awareness	40	100 %
2	+1.26 to +2.00	B	High Environmental Awareness	0	0
3	+0.51 to +1.25	C	Above Average Awareness	0	0
4	+0.50 to -0.50	D	Average Awareness	0	0
5	-0.50 to -1.25	E	Below Average Awareness	0	0
6	-1.26 to -2.00	F	Low Awareness	0	0
7	-2.01 and Below	G	Very Low Awareness	0	0
				40 Total	100%

TABLE - 5

This table showing the difference between mean of rural and urban students

Sl. No	Name of Group	N	Mean
1	Rural	40	88.88
2	Urban	40	89.38

➢ **PIE GRAPH: Showing difference between the Mean of rural and urban students on Environmental Awareness**

Figure – 4 : Presenting difference between the Mean of rural and urban students on Environmental Awareness with Pie Graph

➢ **BAR GRAPH: Showing difference between the Mean of rural and urban students on Environmental Awareness**

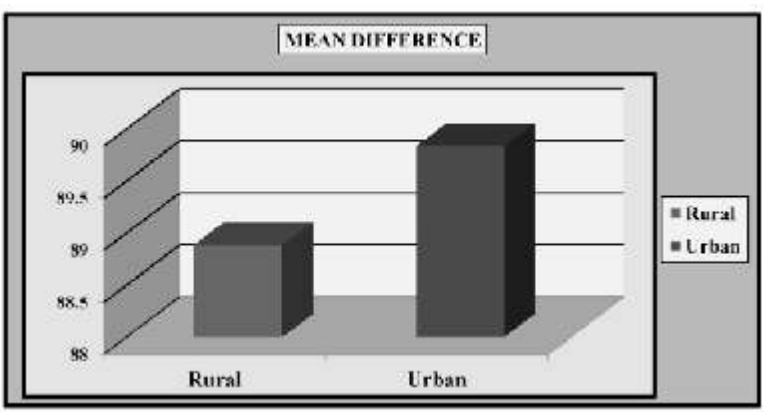

Figure – 5 : Presenting difference between the Mean of rural and urban students on Environmental Awareness with Bar Graph

INTERPRETATION :

The selected hypothesis-H_1, i.e. the Rural students are better than the Urban students with regard to their Environmental Awareness has been rejected. Because the above table shows that

the mean of urban students are higher than the mean of rural students. So, it leads to the conclusion that the urban students are better than the rural students in respect of their environmental awareness.

OBJECTIVE-2: To compare the Environmental Awareness of Arts and Science stream students at higher secondary level school.

H_2 – The students of Science stream are better than the students of Arts stream with regard to their Environmental Awareness.

TABLE - 6

This Table Showing Number of Arts Students and Their percentage Level of Attitudes Towards Environmental Awareness

Sl. No	Range of Z-Score	Grade	Category of Environmental Awareness	Number of students	Percentage (%)
1	+2.01 and Above	A	Very High Environmental Awareness	39	97.5 %
2	+1.26 to +2.00	B	High Environmental Awareness	0	0
3	+0.51 to +1.25	C	Above Average Awareness	1	2.5 %
4	+0.50 to -0.50	D	Average Awareness	0	0
5	-0.50 to -1.25	E	Below Average Awareness	0	0
6	-1.26 to -2.00	F	Low Awareness	0	0
7	-2.01 and Below	G	Very Low Awareness	0	0
				40 Total	100%

TABLE - 7

This Table Showing Number of Science Students and Their percentage Level of Attitudes Towards Environmental Awareness

Sl. No	Range of Z-Score	Grade	Category of Environmental Awareness	Number of students	Percentage (%)
1	+2.01 and Above	A	Very High Environmental Awareness	39	97.5 %
2	+1.26 to +2.00	B	High Environmental Awareness	1	2.5 %
3	+0.51 to +1.25	C	Above Average Awareness	0	0
4	+0.50 to –0.50	D	Average Awareness	0	0
5	–0.50 to –1.25	E	Below Average Awareness	0	0
6	–1.26 to –2.00	F	Low Awareness	0	0
7	–2.01 and Below	G	Very Low Awareness	0	0
				40 Total	100%

TABLE - 8

This table showing the difference between mean of arts and science students

Sl. No	Name of Group	N	Mean
1	Rural	40	88.88
2	Urban	40	89.38

➢ **PIE GRAPH: Showing difference between the Mean of arts and science students Environmental Awareness**

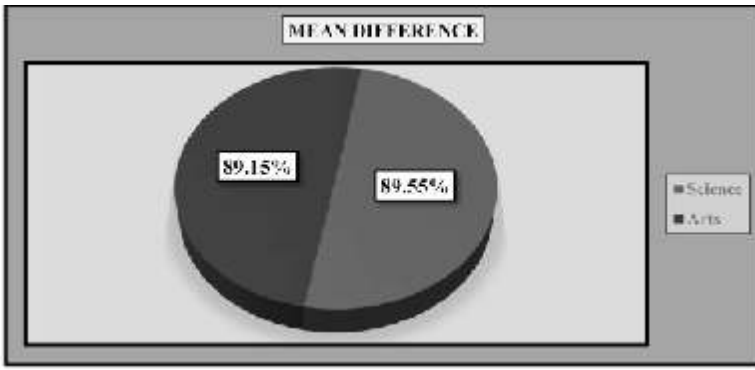

Figure – 6: Presenting difference between the Mean of arts and science students Environmental Awareness with Pie Graph

➢ **BAR GRAPH: Showing difference between the Mean of arts and science students Environmental Awareness**

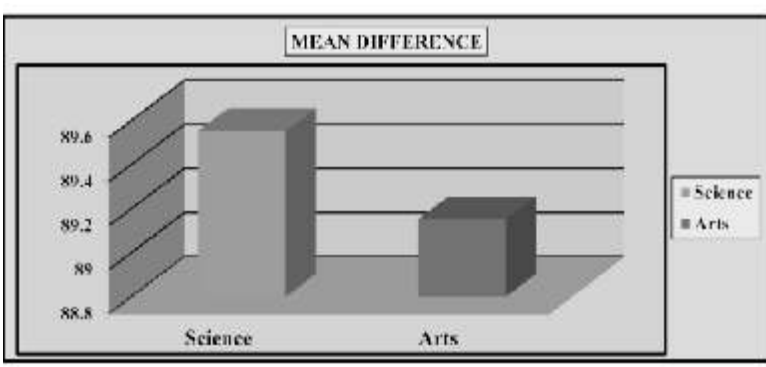

Figure - 7: Presenting difference between the Mean of arts and science students Environmental Awareness with Bar Graph

INTERPRETATION :

The selected hypothesis-H_2, i.e. the students of Science stream are better than the students of Arts stream with regard to their Environmental Awareness has been accepted. Because the

above table shows that the mean of science students are slight higher than the mean of arts students. So, it leads to the conclusion that the science students are better than the arts students in respect of the environmental awareness.

OBJECTIVE-3: To compare the Environmental Awareness of Male and Female students at higher secondary level school.

H_3 - The Female students are better than the Male students with regard to their Environmental Awareness.

TABLE - 9

This Table Showing Number of Female Students and Their percentage Level of Attitudes Towards Environmental Awareness

Sl. No	Range of Z-Score	Grade	Category of Environmental Awareness	Number of students	Percentage (%)
1	+2.01 and Above	A	Very High Environmental Awareness	38	95 %
2	+1.26 to +2.00	B	High Environmental Awareness	1	2.5 %
3	+0.51 to +1.25	C	Above Average Awareness	1	2.5 %
4	+0.50 to −0.50	D	Average Awareness	0	0
5	0.50 to −1.25	E	Below Average Awareness	0	0
6	−1.26 to −2.00	F	Low Awareness	0	0
7	−2.01 and Below	G	Very Low Awareness	0	0
				40 Total	100%

TABLE - 10

This Table Showing Number of Male Students and Their Percentage Level of Attitudes Towards Environmental Awareness

Sl. No	Range of Z-Score	Grade	Category of Environmental Awareness	Number of students	Percentage (%)
1	+2.01 and Above	A	Very High Environmental Awareness	40	100 %
2	+1.26 to +2.00	B	High Environmental Awareness	0	0
3	+0.51 to +1.25	C	Above Average Awareness	0	0
4	+0.50 to –0.50	D	Average Awareness	0	0
5	–0.50 to –1.25	E	Below Average Awareness	0	0
6	–1.26 to –2.00	F	Low Awareness	0	0
7	–2.01 and Below	G	Very Low Awareness	0	0
				Total = 40	100%

TABLE - 11

This table showing the difference between mean of male and female students

Sl. No	Name of Group	N	Mean
1	Male	40	90.33
2	Female	40	88.38

➢ **PIE GRAPH : Showing difference between the Mean of male and female students Environmental Awareness**

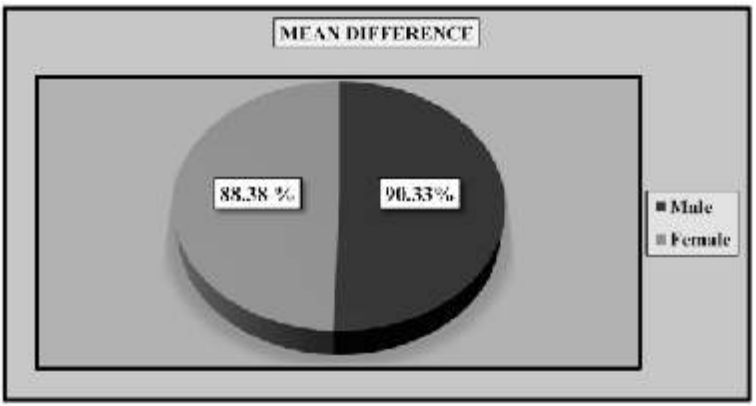

Figure – 8 : Presenting difference between the Mean of male and female students Environmental Awareness with Pie Graph

➢ **BAR GRAPH : Showing difference between the Mean of male and female students Environmental Awareness**

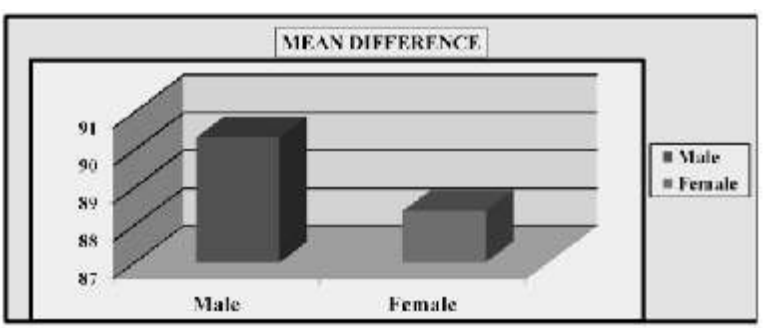

Figure - 9 : Presenting difference between the Mean of male and female students Environmental Awareness with Bar Graph

INTERPRETATION :

The selected hypothesis-H_3, i.e. the female students are better than the male students with regard to their Environmental Awareness has been rejected. Because this table shows that the mean of male students are higher than the mean of female students. So, it leads to the conclusion that the male students are better than the female students in respect of the environmental awareness.

DISCUSSIONS :

- **OBJECTIVE-1 :** To compare the Environmental Awareness of Rural and Urban students at higher secondary level school.
- **INTERPRETATION :** The Urban students are better than the Rural students with regard to the environmental awareness.
- **FINDINGS:** But the major percentage of Rural and Urban students has very high environmental awareness.

- **OBJECTIVE-2:** To compare the Environmental Awareness of Arts and Science stream students at higher secondary level school.
- **INTERPRETATION:** The science stream students are better than the arts stream students with regard to the environmental awareness.
- **FINDINGS :** But the major percentage of Arts and Science stream students has very high environmental awareness.

- **OBJECTIVE-3 :** To compare the Environmental Awareness of Male and Female students at higher secondary level school.
- **INTERPRETATION :** There is the Male students are better than the Female students with regard to the environmental awareness.
- **FINDINGS :** But the major percentage of Male and Female students has very high environmental awareness.

CONCLUSION :

The outcome of this research work has led to the following conclusion from the analyses of the result; it is clearly found that the extent of implementation of Environmental Education in higher secondary level is reflected in consciousness among the students of Bankura district in West Bengal. It is revealed in this study that the students have very high environmental awareness.

SUGGESTIONS FOR THE FURTHER STUDY :

i. The present study covers only Higher Secondary level school students. Further studies may also be taken on secondary level school students, college students and university level students.

ii. The present study covers only Bankura district in West Bengal. Further studies may also be taken on any other district in West Bengal.

iii. The present study covers only Bengali medium school. Further studies may also be taken on English medium school.

iv. Further studies can also be undertaken on more than 80 students and other classes.

v. The present study covers only WBCHSE board level schools. Further studies may also be taken on CBSE board level schools.

REFERENCES :

Astalin, P. K. (2011). *A study of environmental awareness among higher secondary school students and some educational factors affecting it*, ZENITH International Journal of Multidisci-plinary Research Vol.1, Issue-7, ISSN 2231-5780, pp. 90-101

http://zenithresearch.org.in/images/stories/pdf/2011/Nov/7_vol-1_issue-7%20_%20%20%20P%20K%20ASTALIN%20 Paper%20for%20ZENITH.pdf [1]

Erol, G. and Gezer, K. (2006). *Teachers' Attitudes toward Environment and Environmental Problems*, International Journal of Environmental and Science Education, Vol. 1(1), pp. 65–77

http://www.ijese.net/makale indir/IJESE 1261 article 581f138854b8d.pdf [2]

Godara, R. & Khirwadkar, A. (2017). *Creating Environmental Awareness among the Secondary School Students*, Imperial Journal of Interdisciplinary Research (IJIR), Vol-3, Issue-4, 2017, ISSN: 2454-1362, pp. 1711-1718

http://www.onlinejournal.in/IJIRV3I4/297.pdf [9]

Harun, R., Kuang L. and Othman F. (2011). *Environmental Knowledge and Attitude among Students in Sabah*. World Applied Sciences Journal, pp. 83-87

http://psasir.upm.edu.my/id/eprint/23576/ [3]

Kaiser, F., Wölfing, S. and Fuhrer, U. (1999). *Environmental Attitude and Ecological Behavior*. Journal of Environmental Psychology, Vol.19, pp. 1-19

Kaur, N. (2015). *A Study of Environmental Awareness among Senior Secondary School Students in relation to their gender and academic stream*, Journal of Advances in Humanities, Vol-3, No-2, ISSN 2349-4379

https://www.sciencegate.app/doi/abs/10.24297/jah.v3i2.5106 [7]

Kulasekara, P., (2012). *A Study of Environmental Awareness of Higher Secondary School Students in Cuddalore District*. Research Expo International Multidisciplinary Research Journal Volume-II

Padmanabhan, J. & Rao, P.M. (2008). *Environmental awareness and Environmental Attitude of Secondary School Teachers of Maldives,* Conference Paper: Regional Seminar on Recent trends in Environmental Education, At: RIE (NCERT), Mysore: January, 2008

https://www.researchgate.net/publication/291695465_Environmental awareness and Environmental Attitude of Secondary school Teachers of Maldives A study[6]

Shrivastava, B. (2015). *Social issue and environmental problems*, International Journal of Research Granthaalayah, Vol.3, Issue 9, ISSN- 2350-0530(O) ISSN- 2394-3629(P), pp 1-2

http://granthaalayah.com/Articles/Vol3Iss9SE/74_IJRG15_S09_124.pdf [4]

Singh Patial, B. (2016). *Environmental awareness level amongst secondary school students Kangre District based on different variables*, IOSR Journal of Environmental Science Vol.10, e-ISSN:2319-2402, p-ISSN:2319-2399

http://www.iosrjournals.org/iosr-jestft/papers/vol10-issue12/Version-2/D1012022025.pdf [5]

Singh, R. (2016). *Environmental awareness among undergraduate students in relation to their stream of study and area of residence*, Scholarly Research Journal for Interdisciplinary Studies, Vol-4/26, ISSN: 2278-8808, pp. 2830-2845

http://www.srjis.com/pages/pdfFiles/147826265219.%20RAJVIR%20SINGH.pdf [8]

Dr. Nandini Banerjee
Assistant Professor, Department of Education, Kazi Nazrul University, Asansol- 713340, W.B.
Dr. Amarnath Das
Assistant Professor, Department of Education, Arsha College, Purulia-723201, W.B.
Rimpa Betal
M.A. Scholar, Dept of Education, Kazi Nazrul University, Asansol-713340, West Bengal

Green School Leadership in India: The Transforming Facet of Goal-Oriented School Administration

Ms. Rekha Verma • Dr. Naveen Sharma

Introduction

Green Schools exist to create favorable teaching and learning culture to ensure effective and experiential learning for its students. Here, the responsibility of Green school leaders and management becomes relatively imperative as they have to ensure improved learning by initiating and leading with an optimistic approach. To enhance the effectiveness of the school, such vital leadership positions of principals can't be neglected. According to Hoy and Smith (2007) the only key factor responsible for school efficiency is the school principal itself. Several research studies in this context, from different schools and countries, have shown the huge impact of leadership styles implemented by principals on the all-round development of a school. (Norton, 2003; Barnett, 2005; Oluremi, 2008 & Adeyemi, 2011).

To 'lead by action' Green schools show the delegation of authorities in the hierarchy. The second level of management in green schools are academic coordinators, who ensure and enhance greater interference-based results, unity of actions along the smooth implementation of the planned reforms. In the leadership process, the school authorities become rational and sagacious to control, embrace and expand assistance from these mid-level leaders.

In the past few decades, the leadership styles have been transformed according to the needs of the situation. In today's scenario, the autocratic leadership approach (a conservative way) has now changed into - charismatic, transformational, democratic, transactional, and servant leadership. Though, contemporary approaches have their own merits and demerits. For example, collaborative and democratic styles of leadership are considered to facilitate the school principals to

handle the increasing demands with ease when it comes to managing personal or professional resources (Norton, 2003). The significant consideration in this context is that the leadership should encourage all the collaborators by allowing them to work together and contribute in a significant manner to accomplish the goals of an enhanced learning experience for learners. Optimistic leadership behavior and decision-making of the principals highly and positively impact the interest and morale of the teachers' in school activities, also helps in developing mutual trust along with job satisfaction as noted by Hettige (1996).

The need of the hour is to shift the roles and responsibilities of school principals from organization to leadership perspectives, thus being the guiding light. Further, it is time to imbibe those leadership approaches that entail leadership styles apt and effective for a particular Green school. A study by (Gunawardena, C., & Lekamge, D. 2003) reveals that men and women in academic and administrative positions generally work as mere administrators than empathetic and proficient leaders. Therefore, school management needs to adopt those practices which prefer effective leaders over administrative bosses.

The proposed research has been conducted in Govt. Green schools of Gujarat, located in the remote and rural areas of India. Being located in remote areas signifies scarcity of resources to enable the educational progression of the past. The context mainly displays the organizational facet of leadership followed in the past. In the present scenario, the leadership styles have been changed over some time and new developments have been introduced for better future perspectives.

Hence, this research is based on sagacious leadership styles implemented by Green school principals and academic coordinators for disseminating a plethora of improved and enhanced learning prospects available not only for students but also for teachers at the same time.

Literature Review

As a popular concept, Leadership has been extensively researched and studied across many domains be it the business or education sector. In schools, the Principal plays a pivotal role as a leader for handling their managerial roles, activities and implementing apt procedures to induce and sustain the change process in schools.

In the words of (Fullan, 2001) while introducing improvement reforms within their school, principals act as the sentinels of change as they have to deal with different groups of people. It has been asserted by educational policymakers that the school principal acts as a catalyst of change and is a key factor in a student's academic attainment, as they

become mercurial in his/her actions. At different time intervals, principals are required to implement and perform multiple roles and responsibilities. School principals do multitasking as an administrator, manager, instructor, mentor, curriculum developer as s/he wears different hats of leadership daily as mentioned by Day (2004).

The most significant role of School Principals is to motivate students for improved learning outcomes and experiential learning as mentioned by Davis, Darling-Hammond, LA Pointe & Meyerson (2005).

Teachers have been the harbingers of learning but at the school level, principals are distinctively positioned to harness an environment of high expectations, a vibrant vision for improved teaching and learning, and how everyone in the system adults, and children to realizes that vision. (p.2)

It is quite evident from the literature perspectives, that a principal remains instrumental in shaping and harnessing the power of authority using different leadership styles for the overall betterment of the school and act as a forerunner to implement the change processes for further improvement.

Considering a powerful approach and emphasizing autonomous leadership Ummanel, McNamara & Stynes (2016) says that democratic leaders always permit their team to decide on their role while performing any task and gives freedom to decide upon their roles and contribution. He added that a good leader believes in the delegation of authority judiciously, and always holds the onus of leadership. Supporting this, Woods (2005) suggests that the idea of equality and democratic leadership is pivotal in making people understand, the improvisation process of schools. Other studies also recognize democratic leadership as the most powerful tool to influence the teachers for creating better results. In this context, (Green & Carl, 2000) says it is essential for the principals to show confidence in their instructors through delegation of authority and leadership and giving them the chance to act according to the students and demand of the time. Researchers like (Goldring & Pasternak,1994) advocate that principals' role in framing goals and a clear mission for their school is more instrumental in establishing effectiveness compared to traditional ways associated with school effectiveness.

Different studies support varied leadership approaches implemented by school principals for the development and improvement of their schools. For example, Hallinger & Heck (1998) reviewed the role of school principals concerning the efficacy of a school. Research findings indicate that in the process of students' understanding and learning experience, administrative leadership made the greatest

difference and plays the most significant role. The holistic approach adopted by principals was considered most appropriate and suitable for all-around development and improvement of the schools as recognized by some other studies (Hoban, 2002; Harris & Chrispeels, 2006). To assess and examine students' data, and determining suitable development activities for staff members, effective principals use instructional leadership approaches.

Bass and Stogdill (1990) recognizes transformational leadership as the most effective and persuasive approach to create a better impact on teaching and learning processes as it entails the transformation in an individual, which is a must for inducing a change in the entire process of teaching. Mentoring and training have always been the best ways to enhance mentees' performance as stated by Jung, Yammarino & Lee (2009). They assert that school leaders who follow the style of transformational leadership are effective mentors, as they coach their mentees which eventually shows a deep impact on their learning and teaching styles. Transformational leadership has a constructive link with the performance of the team as reflected by (Piccolo & Colquitt, 2006). Similarly, Goleman (2000) supports the authoritarian style of leadership, claiming that the authoritative approach has maximum impact on the environment of groups as compared with the democratic leadership style.

Considering the contextual realities in the Indian situation, Alam (2012) advocates democratic leadership style to be apt for Green schools, accentuating that a lot can be accomplished, if principals consider the willingness of the teacher before delegating or assigning any task to them it augments their self-worth, develops a sense of belongingness and encourages participatory approach. Kanwar (2000) cogitates the visionary leadership approach as a significant feature to aid teachers. He also recommends that the principals need to implement novel approaches in school leadership.

As mentioned above, different leadership styles have been mentioned and highlighted based on various literature perspectives. So, when the leadership approach is evaluated, it is apparent that an appropriate leadership style is essential for the success of any educational entity or school to provide better teaching opportunities and experiences for teachers and to create the best learning experiences and scholastic achievements for its students. However, a particular style of leadership was advocated by many researchers, but it seems that we can't take a one-size-fits-all approach to leadership as it cannot be generalized as the best approach. Therefore, school principals and

coordinators need to choose the leadership style that maximizes their effectiveness in a given situation.

Every school needs effective leaders who are proactive in their attitude and approaches which lead to improved performance, job satisfaction, and commitment among teachers. School leaders need to follow a suitable approach to deal with the specific problem as schools have their own sets of challenges. *Why does a particular leadership style seem to work wonderfully at times and fail miserably at others?* Sometimes people feel stuck up, disoriented, it's often because of lack of proper orientation and how leaders lead - their leadership styles - get in the way. An appropriate leadership style plays a key role in shaping a positive culture within school, classroom, and community. An understanding of different leadership styles can radically improve the quality of professional and personal relationships of a school principal. That's because a leaders' level of skill in navigating difficult conversations depends on his ability to lead and connect with people. Effective leaders must be considerate about any issues, expected to be flexible to accept criticism and feedback positively and constructively as a tool for professional improvement, and needs to incorporate changes in their leadership style accordingly.

In a nutshell, schools need to induce significant reforms which are directly linked with improved teaching and learning processes. Conventional leadership approaches need to be revamped and align towards more productive lines.

Conceptual Framework

Green school: School that creates sustainable communities leading to a healthy environment and promotes saving energy, environmental resources, and money.

Leadership: The art of directing teachers and students in an educational setting using a strategy to meet the educational objectives, needs, and goals while motivating people to act towards attaining a common goal. In an educational setting, this can mean

School Leadership: According to research, school leadership is the only pivotal factor that has a visible impact on student learning among school-related factors, besides teaching. Moreover, School principals strongly shape the conditions for high-quality teaching and learning experiences and are the prime factor in determining whether teachers stay in high-needs schools. For the effectiveness of schools, high-quality principals are vital, especially those serving the children with the fewest advantages in life.

Sarva Shiksha Abhiyan(SSA): Government of India's initiative to open new schools in areas lacking education services and at the same time also strengthen the weak school infrastructure by providing additional grants to improve the same. The objective of this program is to attain the Universalization of Elementary Education (UEE) in a specified time frame. (www.gujarat-education.gov.in, 2021)

Research Methodology

The objectives of this study were to delve deep into exploring the leadership practices implemented by Green school principals and academic planners, therefore the major focus of research is on the following questions:

1. What is the role of school principals and academic coordinators as leaders in Govt. green schools in Gujarat, India?
   a) How do Green school principals/academic coordinators assure participation and involvement of faculty and other decision-makers in the decision-making process?
   b) What are the various practices executed by the Green school principals/ academic coordinators to create better learning prospects for enhancing students learning experience?

The present study examines Leadership styles using qualitative research design, from the perspectives of school principals working in Green schools of Gujarat, India. According to (Rahman, 2017) a variety of issues may be examined under this qualitative research design as it is an overarching concept. It also produces an in-depth explanation of participants' opinions, feelings, experiences and aids in understanding the meanings of their actions (Denzin, 1989).

For this study, twenty-five Green school principals/academic coordinators were interviewed. A semi-structured discussion guide provided a variety of perspectives as they have different educational, personal backgrounds, cities, years of experience, and school types. The Capability Approach (CA), proposed by Sen (1999) was used to explore the results of the study, with respect to the research questions, and general consideration.

Meanwhile, the focus group discussion method was used for data collection for several reasons. Firstly, its environment enables participants to discuss/share their ideas, thoughts, views, and observations (Krueger & Casey, 2000). Secondly, Morgan (1988) asserted that the interaction with participants, in this case, the leading

professionals in the schools would yield valuable data. Since time was an important factor for this study, the third reason for choosing this method was because the in-depth interviews provide relevant data in a relatively short period as per (Johnson & Christensen, 2008).

Participants and Sampling Procedure

According to Morse et al., (2002) , to ensure the reliability and rationality of the data, "the sample must be appropriate and must consist of participants who best represent or have knowledge of the research topic. These guidelines ensure the efficient and effective saturation of categories, with optimal quality data and minimum dross" (p. 18). Based on the functional definition of school leadership professionals for this study, researchers included Green school principals and academic coordinators as participants. According to (Patton, 2014) in qualitative research for the identification and selection of information-rich cases, purposeful sampling is a technique extensively used for the most effective use of limited resources. Bernard (2017) and Spradley (2016) also noted that in addition to the knowledge and experience of the participants, their availability, readiness to participate, the ability to communicate experiences and opinions in an expressive, and reflective manner is utmost important. (Creswell & Plano Clark, 2011) indicated that this involves identifying and selecting individuals that are especially knowledgeable about or experienced with a phenomenon of interest.

The purposeful sampling method was used to select respondents, who served as Green school principals/academic coordinators for at least 5 years and were able to communicate in the English/Hindi/Gujarati language. Based on Creswell's (1998) suggestion of a 20-30 sample size, 25 participants were selected for in-depth interviews and discussions. All participants met the research selection criteria of five years' work experience in the Green schools as leading professionals, had received formal education and training in their respective fields, and are regularly interacting with students from different backgrounds. The age group of the participants ranged from 30 to 48 years.

Ethical Considerations

During the interaction, all participants confirmed that they were willing to participate voluntarily and not due to any coercion from the researcher. Before each interview, the participants were verbally informed of the objectives, procedures, risks, and benefits of the study. They were also given written material about the research and informed

of confidentially. All the participants were available for their in-depth interviews on the assigned date and time. They signified their consent to participate and that they understood the terms and conditions by signing an informed consent form.

Data Collection Procedure

Data collection was done through in-depth interviews conducted from October 2020 to December 2020. Each in-depth interview lasted for approximately 40 minutes to an hour, was recorded and then transcripts were prepared. The researchers prepared semi-structured interview protocols based on the different conceptualizations of Leadership styles found in the past literature to fit the objectives of the study. The questions were open-ended to enable samples to add to their perspective of Leadership style relating to their daily activities as leading professionals in the context of Green schools.

Data Analysis

The interviews were recorded to ensure all relevant information was gathered. The interview data was taken verbatim to prepare transcripts for final analysis. To promote trustworthiness, triangulation and member checking were conducted. According to (Leung, 2015) in qualitative research, validity denotes the relevance of process, study data, and tools. To determine whether the data obtained from all resources in the research converged and led to similar results, triangulation was done (Yin 2011). Member checking was carried out by taking the transcribed data back to the participants to determine its accuracy and synchronicity with their experiences (Birt et al., 2016).

ATLAS.ti was used for data analysis, Open coding through line-by-line analysis was used to ground elements that emerged from the data. Essential words and phrases were labeled to identify concepts. At first, each focus group interview was coded separately. Afterward, a combined open coding session was done to determine emerging concepts and categories across all interviews to confirm data saturation. The open coding resulted in 360 codes. The data were further analyzed using Axial coding, whereby "the researcher develop the concepts into categories and organize the categories" (Johnson & Christensen, 2008, p. 414). Researchers looked for recurring themes or similarities across the interviews which resulted in 43 subthemes. The Axial coding process was followed by Selective coding, focusing on theoretical connections among the core categories that emerged. The researchers looked for a storyline of the theory by rechecking the theory with the data, and by making constant comparisons with existing literature until

theoretical saturation occurred. Theoretical saturation refers to when no new information or concepts emerge from the data (Johnson & Christensen, 2008). From the data analysis, the researchers were able to confirm the final nineteen main themes.

Discussion

The data was meticulously analyzed to investigate the leadership styles followed in the Green schools of Gujarat, India. The shared information indicates that the Principals become vivacious in diverse situations. The responses communicated by the School Principals appeared to be in unison with the specific roles they perform during a specific period (Day, 2004). They act as a manager, administrator, motivator, instructional leader, servant leader, curriculum developer during the entire day. For example, in the response to a question as to how do you ensure teachers' follow the schedule, he said *"We have set rules and norms for our green school, I am persuasive towards those rules, and ensure their applicability"* this refers to an autocratic style of leadership as per (Bass & Stogdill, 1990). Likewise, while taking any kind of decision, the reply *"I always involve my teachers in the decision-making process"* points towards the participatory or democratic style of leadership as mentioned by (Cheng, 1994).

According to the best of my knowledge, understanding and experience-school principals play three key roles which include their social perspective, professional competency and decision-making ability. Bennett (1996) signify them as informational and decisional roles along with peoples' skills. Talking about interpersonal roles or peoples' skills, the leader inspires, guides and also evaluates the performance of the team. At the informational level, the leader observes, measures and disseminates the required information for the smooth functioning of the organization. Whereas at the decisional or managerial level, the leader acts as an individual who allocates resources, manages conflicts, curbs uproar and negotiates effectively. So, these roles/tasks performed by school principals were quite evident from the collected information and data.

The democratic leadership style is more dominant and executed by most school leaders. As per the responses shared by principals, the democratic leadership style appears to be quite dominating in both the data besides other need-based styles. Academic coordinators also authenticated similar information as per data shared by them. It is quite apparent from the responses received from the principal and academic coordinator that teachers and other stakeholders are always involved in

decision-making processes. The responses in this regard seemed to assimilate everybody's opinion before taking any crucial decision for the betterment and improvement in their school.

The democratic approach facilitates principals in deciding the activities required to induce progressive and constructive reforms in school. According to (Silins,1994) a school observes symbiotic and conducive culture among all the stakeholders, if everyone has a say in the decision-making process. A similar approach was also visible while evaluating the data provided by academic coordinators. It was reflected that despite, having the power to control and supervise the teachers they always motivate their faculty and staff to share their ideas and feelings. Academic coordinators believe in executing the democratic style of leadership to help the teachers. Their responses indicate the implementation of a democratic style of leadership within their school. For example, her response that *"I invite all the teachers before making any decision. I don't decide about any issue by myself"* indicates her democratic leadership style. Further to her response on how does she handle issues, she answered, *"As an academic coordinator if I feel or notice any problem, I consult with the principal, and through mutual consensus, decisions are made for bringing reforms in school."* Hence such answers validate that all instructions followed in school are based upon democratic leadership styles.

According to (Grift, 1990) implementation of democratic leadership style facilitates in creating a constructive impact on the entire teaching-learning process, which is quite evident from some of the probing discussions researchers had with the school principal and academic coordinator. The biggest advantage of this approach is that all the teachers work in sync with each other and follow the instructions as their core responsibility to make the system efficient and effective in totality. It was observed that teachers face minor issues in completing the planned activities as the specific tasks have been assigned to them through mutual consensus. Due to motivation teachers can complete the syllabus on time while carrying out other activities efficiently. This leads to better performance, timely execution of work and reporting of minimum problems at the workplace. According to (Leithwood, 1994) a conducive and harmonious work culture is lead and created in a school if there is no dichotomy between principal and teachers about various decisions made as the teachers were involved in the decision-making process. It creates a favorable environment of learning across all verticals and makes learning a meaningful experience for all stakeholders. Moreover, it leads to a sense of belongingness among teachers towards school and other

activities when they are involved in the decision-making process. The reply by the principal, *"Teachers in my school are happy to accept any challenging task and together we do it quite easily."* shows that teachers are encouraged to contribute and this minimizes the probability of official politics in the school premises. Further, there are minimum gaps and barriers in the process of communication between teachers and principals due to shared culture. School leaders are always open to feedback and criticism and are ready to incorporate changes in their leadership style for the betterment of the school. Collegial learning culture and effective communication among all stakeholders enhance the overall performance of the school and its students.

It is very challenging to generalize whether principals and academic coordinators implement a democratic leadership style in their daily practices. In some cases, they exhibit their transformational, transactional and autocratic leadership styles, mainly dependent upon the kind of work and task they are involved with. Comparing both the data, democratic and transformational styles seem to be more dominant.

Responses by the principals and academic coordinators also reflect that at times decision-making process gets delayed as they need to know everybody's opinion, which propels them to have a delay in the decision-making process leading to delayed results. Some researchers claim that the democratic style is time-consuming and less effective for some critical issues (Chelladurai & Doherty, 1998). According to (Murphy & Louis, 1994) democratic style applies to a shared mechanism by all the stakeholders, however, every input may not be included in the decision-making process. School leaders or coordinators might disprove some suggestions which may be excluded at times. Therefore, there might be a possibility of rejection of ideas proposed by teachers making them feel ignored.

Effective leadership methods and its execution by the principal and academic coordinators is worthwhile, but it has some visible challenges. Though they shared different challenges faced by them, their responses somehow mainly pointed towards the lack of resources and absenteeism of the students. It was revealed that lack of resources like certain teaching/learning material hampers the teaching and learning process.

Results

Data analyses revealed various Leadership styles implemented by Green school principals in their daily activities. Nineteen main themes were identified and each theme was described and illustrated as follows.

Themes generated during interviews In-depth interviews of Green School Principals'/Academic coordinators			
S. No.	Quotes from in-depth interview	Key Themes	Leadership Style
1.	"I use shared decision and consultative for school"	Head of the school engage all the decision makers in decision making.	Democratic
2.	"We develop school development plan and work scheme through mutual consensus."	Principal motivates its faculty to make plans for improvement	Democratic
3.	"We have set rules and norms for our green school, I am persuasive towards those rules, and ensure their applicability"	Principal exhibits the ability for the implementation of rules and regulations.	Autocratic
4.	"I always involve my teachers in decision making process"	Head of the school supports teachers' contribution.	Democratic
5.	"Teachers in my school are happy to accept any challeng-ing task and together we do it quite easily."	Head of the school makes sure on motivating the staff members.	Transformational

6.	"I plan and arrange educational trips and project work for students. I observe lessons and discuss with the teachers about the progress of students. These activities contribute in direct and indirect learning and improvement of students' learning".	Principal facilitates students' learning	Facilitative
7.	"I have introduced performance app-raisal for reward and penalty"	Principal gives inducements to encourage the teachers	Transactional
8.	"I have created various teams (cultural, Eco-warriors, technical and sports) and involve all the teachers in these teams"	Head of the school makes sure of the team-work approach	Democratic
9.	"I interact informally with my teachers. I observe their teaching methods and give feedback to improve their teaching and performance."	Head of the school focuses on overall growth of teachers	Transformational
10.	"The teachers are also encouraged to share any challenges/issues faced by them during teaching"	Principal believes in shared mechanism and team work	Democratic

11.	"I don't believe in bossism; I am working as Social reformer."	Principal have faith on optimistic social relations	Democratic
12.	"The major challenge is how to improve grades of the students. For that we conduct repeated meetings"	Principal motivates the teachers to share their experiences for improvisation in students learning	Democratic
13.	"I invite all the teachers before making any decision. I don't decide about any issue by myself."	Teachers can contribute in decision-making processes.	Democratic
14.	"As an academic coordinator if I feel or notice any problem, I consult with the principal, and through mutual consensus decisions are made for bringing improvement reforms in school"	Decision-making process is a shared mechanism in Green schools.	Democratic
15.	"I facilitate teachers in lesson planning and provide feedback. They include my feedback and improve their teaching"	Facilitates professional development of teachers.	Transformational
16.	"I arrange meeting with parents for enhancing students' learning"	Parents involvement in educational	Servant

17.	"I organize debate and creative writing competitions. It helps the students to improve their skills and performance"	activities For better learning outcomes, student centric approach is used.	Visionary
18.	"We must invite educationist and community members to guide and contribute with us in creating awareness about Green schools."	Collaborative learning methodology is encouraged.	Democratic
19.	"I always try to improve learning of the students, we arrange remedial classes too for enhancing their learning experience"	To improve students' learning experience sharing mechanism is implemented.	Democratic

Conclusion

The study shows several implications for the Head of the school and coordinators working in almost similar situations. To produce better results, the observations and results of this research may be used to enhance and improvise leadership practices. Furthermore, to improve the overall culture of the schools' there is a need to develop and cultivate a collaborative learning environment along with shared culture, especially in the context of Green schools.

The profession of School leadership has changed and improved significantly. Educators have a better understanding of how and in what ways, school leadership has contributed to student achievement. An increasing base of knowledge from research and practice has shown that the main job of the school principals and academic coordinators is to emphasize student achievement by creating challenging, caring, and supporting environmental conditions that are conducive to student learning. This research explores the leadership styles adopted by school principals and academic coordinators working in twenty-five govt.

green schools in Gujarat, India to understand how their leadership style helps in the managerial effectiveness of leaders in School. This study depicts how these Green school leaders and academic coordinators, develop and support teachers, create constructive working conditions, efficiently allocate the resources, formulate appropriate organizational policies and systems and get involved in other meaningful activities, outside the classroom setting in an exemplary manner with their leadership practices and carry out their work effectually.

Limitations of Research

Since this is qualitative research, the results generated cannot be applied to a larger population. But it certainly provided some conceptual framework to go ahead with larger quantitative research related to it. The researcher has taken in-depth interviews with focus groups and developed transcripts based on that so minor subjectivity may have affected the analysis of the data slightly as the transcripts have been verified by the participants before the final analysis was carried out.

Implications

This qualitative study also provides a new perspective of Leadership among Green school professionals. The research focuses specifically on School Principals and Academic coordinators in Gujarat, India. The first step towards understanding the similarity and uniqueness of Green school principals, leadership styles adopted by them on daily basis. The data analysis produced 19 themes using ATLAS.ti. It provides a useful framework to understand leadership styles apt for implementation in Green schools for supporting educational entities.

This research is significant to the execution and understanding of the Leadership styles adopted by School Principals in Govt. Green schools, Gujarat, India. They are doing a lot of sustainable activities using various leadership approaches but are failing to enhance, visibility and awareness among people around them. We need to applaud these unsung heroes for their valuable contribution towards education and society, this would boost their morale and give them enhanced visibility across the globe. An understanding of their roles and responsibilities while doing multi-tasking using varied leadership styles in specific situations would motivate other school leaders (Private) too to follow their footprints and opt for a leadership style best suited or tailor-made for their schools.

Future Scope of Research

This is exploratory and qualitative research based on understanding the various leadership styles implemented by Principals'

of Govt. Green schools in Gujarat, India from the perspectives of their school in a specific situation and can be extended further to study the perception of customers (parents and stakeholders) towards enhancing green school leadership for creating a symbiotic, conducive and sustainable school culture.

Originality

The Leadership styles executed by Principals' in Green schools of Gujarat, India have been studied and analyzed.

Acknowledgment

The authors would like to express sincere gratitude to all the Green school principals and academic coordinators who participated in this study and special thanks to **Ms. Shruti Patel, Assistant State Project Engineer, Samagra Shiksha, Gandhinagar, Government of Gujarat, India** for her unwavering support for conducting this research.

References :

(2021, February 05). Retrieved from www.gujarat-education.gov.in: http://gujarat-education.gov.in/ssa/projects/index.htm

Adeyemi, T.O. (2011). Principals' leadership styles and teachers' job performance in senior secondary schools in Ondo State, Nigeria. *Current Research Journal of Economic Theory 3*(3), 84-92.

Alam, S. (2012). Crafting leaders for educational change: Head teacher's perspectives about a tailor-made professional development programme. *International Journal of Social Science and Education*, *2*(1), 1–18.

Barnett, A.M. (2005). *The impact of the transformational leadership style of the school principal on school learning environments and selected teacher outcomes*. Sydney: University of Western Sydney.

Bass, B. M., & Stogdill, R. M. (1990). *Bass Stogdill's Handbook of Leadership: Theory, Research, and Managerial Applications (3rd ed.).* New York: Free Press.

Bennett, L. (1996). *The management of engineering.* New York, NY: John Wiley & Sons.

Bernard, H. R. (2017). *Research methods in anthropology: Qualitative and quantitative approaches*. Rowman & Littlefield.

Birt, L., Scott, S., Cavers, D., Campbell, C., & Walter, F. (2016). *Member checking: A tool to enhance trustworthiness or merely a nod to validation?* Qualitative Health Research, 26(13), 1802-1811.

Chelladurai, P., & Doherty, A. J. (1998). Styles of decision-making in coaching. In J.M. Williams (Ed.), *Applied sport psychology: personal growth to peak performance* (3rd Ed., pp. 115-126). Mountain View, CA: Mayfield.

Cheng, Y.C. (1994). Principal's leadership as a critical factor for School performance: Evidence from multilevel of primary schools. School Effectiveness and School Improvement. 5. 299-317.

Creswell, J. W. (1998). *Qualitative inquiry and research design: Choosing among five traditions.* London, England: Sage Publications.

Creswell, J. W., & Plano Clark, V. L. (2011). Designing and conducting mixed-method research. 2nd Sage. *Thousand Oaks, CA*, *201*.

Davis, S., Darling-Hammond, L., LA Pointe, M., & Meyerson, D. (2005). *School Leadership study: Developing successful principals.* USA: Wallace Foundation.

Day, C. (2004). *The passion of successful leadership: School leadership and Management, 24*(4), 425-437.

Denzin, N. K. (1989). *Interpretive interactionism.* Newbury Park, CA: Sage.

Fullan, M. (2001). *The new meaning of educational change.* London: Routledge Falmer.

Goleman, D. (2000). *Leadership that gets results*. UK: Harvard Business School Press.

Goldring, E. B., & Pasternak, R. (1994). Principals' coordinating strategies and school

effectiveness. *School Effectiveness and School Improvement*, *5*(3), 239-253.

Grift, W. (1990). Educational leadership and academic achievement in elementary education. *School Effective and School Improvement, 1*(3), 26-40.

Green, R. L., & Carl, B. R. (2000). A reform for troubled times: Takeovers of urban schools. *The Annals of the American Academy of Political and Social Science*, *569*(1), 56-70.

Gunawardena, C., & Lekamge, D. (2003). Men and Women in Leadership: A Comparison of Two Universities.

Hallinger, P., & Heck, R. (1998). Exploring the principal's contribution to school effectiveness: 1980-1995. *School Effectiveness and School Improvement, 9* (2), 157-191.

Harris, A., & Chrispeels, J. H. (2006). *Improving schools and educational systems.* USA: Routledge.

Hettige, A.M. (1996). *A study on what characteristics of principals' leadership behavior would contribute to the improvement of enthusiasm and alliance of teaching staff in performing school activities*. USA: University of Colombo.

Hoban, G. F. (2002). *Teacher learning for educational change.* Buckingham, Philadelphia: Open University Press.

Hoy, W. K., & Smith, P. A. (2007). "Influence: a key to successful leadership", *International Journal of educational management*, Vol.21 No.2, pp. 158-167. https://doi.org/10.1108/09513540710729944

Johnson, B., & Christensen, L. (2008). *Educational research: Quantitative, qualitative, and mixed approaches*. London, England: Sage Publications.

Jung, D., Yammarino, F. J., & Lee, J. K. (2009). Moderating role of subordinates' attitudes on transformational leadership and effectiveness: A multi-cultural and multi-level perspective. *The Leadership Quarterly,20* (4), 586603. https://doi.org/10.1016/j.leaqua.2009.04.011

Kanwar, F.A. (2000). *Secondary school head teachers' leadership styles and their implications for school improvement*. Unpublished doctoral dissertation, American University in London, United Kingdom.

Krueger, R. A., & Casey, M. A. (2000). Focus groups: *A practical guide for applied researchers (3rd ed.).* Thousand Oaks, USA: Sage.

Leithwood, K. (1994). Leadership for school restructuring. *Educational Administration Quarterly*, *30*(4), 498-518.

Leung, L. (2015). *Validity, reliability, and generalizability in qualitative research. Journal of Family Medicine and Primary Care, 4(3), 324-327*.

Morgan, D. L. (1988). *Focus groups as qualitative research.* Newbury Park, USA: Sage.

Morse, J. M., Barret, M., Mayan, M., Olson, K., & Spiers, J. (2002). *Verification strategies for establishing reliability and validity in qualitative research.* International Journal of Qualitative method, 1(2), 13-22.

Murphy, J., & Louis, K. S. (1994). *Reshaping the principalship: Insights from transformational reform efforts*. Corwin Press, Inc., 2455 Teller Road, Thousand Oaks, CA 91320-2218 (paperback: ISBN-0-8039-6080-8; hardcover: ISBN-0-8039-6079-4).

Norton, M.S. (2003). *"Let's Keep our Quality School Principals on the Job",* High School Journal, 86(1).

Oluremi, O.F. (2008). *Principals' Leadership Behaviour and School Learning Culture in Ekiti State Secondary Schools.* Journal of International Social Research, 1 (3), 302-311.

Patton, M. Q. (2014). *Qualitative research & evaluation methods: Integrating theory and practice*. Sage publications.

Piccolo, R. F. & Colquitt, J. A. (2006). Transformational leadership and job behaviors: The mediating role of core job characteristics. Academic of Management Journal, 49(2), 327- 340.

Rahman, M. S. (2017). *The advantages and disadvantages of using qualitative and quantitative approaches and methods in language "testing and assessment" research: A literature review.* Journal of Education and Learning, 6(1), 102-112.

Sen, A. (1999). *Development as Freedom.* Oxford: Oxford University Press.

Silins, H. (1994). The relationship between transformational and transactional leadership and school improvement outcomes. *School Effectiveness and School Improvement*, *5*(3), 272-298.

Spradley, J. P. (2016). *The ethnographic interview*. Waveland Press.

Ummanel, A., McNamara, G., & Stynes, M. (2016). The career paths of primary school principals in Ireland. *Irish Educational Studies*, *35*(1), 57-71. DOI: 10.1080/03323315.2016.1151373

Woods, P.A. (2005). *Democratic leadership in education*. London: Paul Chapman Publishing.

Yin, K. (2011). *Qualitative research from start to finish*. New York, USA: The Guildford Press.

Ms. Rekha Verma

Research scholar, International School of Business Management (ISBM), Suresh Gyan Vihar University, Mahal Jagtpura, Jaipur, India. (Accredited by NAAC with 'A' Grade).

Dr. Naveen Sharma

Associate Professor and Controller of Examinations, International School of Business Management (ISBM), Suresh Gyan Vihar University, Mahal Jagtpura, Jaipur, India. (Accredited by NAAC with 'A' Grade).

❑❑❑

Finding Space in a Traditional Society : The *Bheel* Girls of Jaisalmer

• **Dr. Jaya Kritika Ojha**

Abstract

Jaisalmer district is located in the western part of Rajasthan in Thar Desert which has always been highlighted for its low sex ratio and infamous for killing girls, for foeticide. The son preference is deep rooted in the local communities. There are many villages where till recently no barat has ever been welcomed. They say it is 'munchon ka sawaal', 'pagri ki izzat'…to have son is a pride.

Among many villages in the Jaisalmer district where the gaps in the sex ratio are reported to be very high and alarming, there are three villages of Bheel tribal communities namely Moolsagar, Chundhi and Jethwai where the sex ratio is found to be satisfactory and in Chundhi and Jethwai villages there are more girls than boys.

Though these Bheels who are engaged in stone masonry, cutting and carving are not able to earn much for their livelihood, they take a great pride in their Bheel identity. They worship local deities- the seven Aaawad Maatas, symbolizing fertility and continuity of human existence. It is very interesting to note that Chundhi village is the first village of Jaisalmer to declare itself as child marriage free village.

The paper proposes to analyse a case study of three villages of Bheels Jaisalmer and will explore the indigenous value systems, social beliefs and the contexts. The paper will present the necessary data to validate the better sex ratio in Bheel community in Jaisalmer. The paper will also show that the Bheels of Jaisalmer are facing some of the challenges of their social surroundings but they are firm to retain their tribal identity of valuing girls and the mother force.

Keywords : Bheel, Tribal Community, Girls, Jaisalmer, Rajasthan

Introduction

Girls are considered to be the future of any society, as their development decides the progressive direction of any community, society and nation. Prejudices of customs, traditions and attitudes towards female children can lead to an imbalance in the structure of any society. All progress is anti-women if it does not ensure their right to be born, to live, to exist. Amartya Sen, the famous Nobel laureate expressed his deep concerns regarding the constantly decreasing numbers of women in India as "missing girls".

Census of India, 2011 shows that the child sex ratio (number of girls per 1,000 boys) among Scheduled Tribes (STs) in the country has declined faster than in other categories of the population between 2001 and 2011. But the number of girls born per 1,000 boys is still higher in the ST category than in the general population.

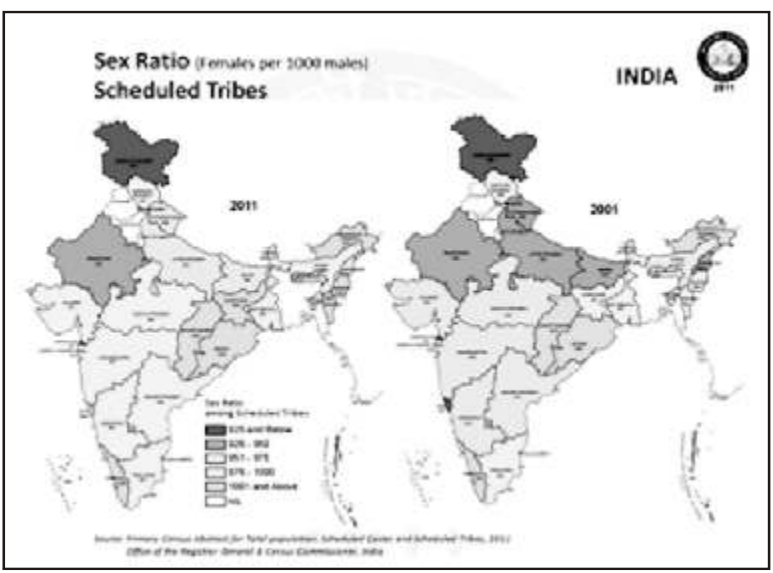

Map 1 : Sex Ratio in Schedule Tribes
Source: Census (2011)

The infamous Jaisalmer for feoticide in Western Rajasthan of The Thar Desert

Western Rajasthan is a land of desert. The toughest terrain of India is sandy, harsh and unfriendly. According to the UNDP and the Census of India, 2011, Rajasthan suffers from a low sex ratio of 926 females per thousand males. Similarly, child sex ratio is also very low at 883 females per thousand males, which is recorded in the census 2011. It was 909 in the census 2001.

The feudalistic pattern of society in Rajasthan, for decades has clear-cut notions about the importance of male child. There have been many stories that have filtered through generations about the humiliation, a family had to face if it had a girl born. They were supposed to be inferior in society, the ones who would go to beg from others, the hands of their sons to marry off the daughters. The birth of a girl child was, and is still referred to, in sayings like *Bhaato Aigyo*- a stone has come, or *Bhaato Janam Gayo*-a stone has been born, *chanvari mandgi(the girls marriage is on head), moonch neechi hogyi*-the moustache has lowered down. *Beti ka baap* (father of a girl) is a phrase that is still commonly used to refer to a person who is supposed to be helpless, weak, a beggar, a borrower. It meant-"you have become the father of a daughter and now you must realise your lowered position''. Such phrases are very common in society that is male dominant, patriarchal, and has double sets of values and codes of conduct, one for men and the other for women.

Jaisalmer has always been highlighted for its low sex ratio. which always been infamous for killing girls, for foeticide. The son preference is deep rooted in the local communities. There are many villages where till recently no *barat* has ever been welcomed. They say it is *munchon ka sawaal, pagri ki izzat...to* have son is a pride.

People say that there are villages in Jaisalmer where till only two decades back no *barat* has ever come. A few villages like *Devda, Hameera* and *Dawa* did not witness any *barat* (marriage procession) in the last 100 years.

Map 2 : Map of Jaisalmer District

Source:http://www.jaisalmertourism.com/jaisalmer-map.html (2014)

The girl children in the border villages of Jaisalmer are doubly jeopardised, first there is the traditional discrimination they face and secondly poverty and insecurity of living at the 'edge' also adds to daughters being seen as burdens.

Objectives

a) To study the *Bheel* tribe of Jaisalmer to explore the indigenous value systems, social beliefs and the contexts.

b) To understand the reasons for the better sex ratio in *Bheel* tribal community in Jaisalmer which has been severely hit distrct of very low sex ratio.

c) To understand the challenges which *Bheels* of Jaisalmer are facing with the modern society which poses threat to retain their indegenous and tribal identity.

d) To study the reasons of the firm belief of Bheel tribes to value girls and the mother force.

Methodology

The method used to satisfy the objectives of the study relies

on qualitative analysis leading to develop case study of the Bheel community of Jaisalmer in district of western Rajasthan. The study used both primary and secondary data. The tools and methods adopted for collection of primary data for the paper were in-depth-interviews from the Bheel community leaders, observations, and area survey. The secondary data was collected from books, articles, journals, research papers, official documents and institutional websites. All the information and data collected was critically examined and described in order to discuss the issues.

A positive case of Valuing Girls and the Mother Force by the *Bheel* Tribal Community of Jaisalmer, Rajasthan

Kshatriya and Kapoor (2003) states that 'the tribal groups of India inhabit widely varying ecological and geo-climatic conditions in different concentration. During last fifty years significant progress has been achieved in the context of economic, social and demographic attributes of the tribal communities'.

Among many villages in the Jaisalmer district where the gaps in the sex ratio are reported to be very high and alarming, there are three villages of *Bheel* tribal communities namely *Moolsagar, Chundhi* and *Jethwai* where the sex ratio is found to be satisfactory and in *Chundhi* and *Jethwai* villages there are more girls than boys. According to Nagda (2004), 'the sex ratio of tribal population was higher than the general population. No discrimination of sex of birth in the tribes'.

Though these *Bheels* who are engaged in stone masonry, cutting and carving are not able to earn much for their livelihood, they take a great pride in their *Bheel* identity. They worship local deities- the seven *Aawad Maatas,* symbolizing fertility and continuity of human existence. It is very interesting to note that *Chundhi* village is the first village of Jaisalmer to declare itself as child marriage free village.

The three villages of *Bheel* tribe of Jaisalmer possess the indigenous value systems, social beliefs and the contexts. The studies show better sex ratio in *Bheel* tribal community in Jaisalmer. The *Bheels* of Jaisalmer are facing some of the challenges of their social surroundings but they are firm to retain their tribal identity of valuing girls and the mother force.

Sex ratio in the non-tribal and tribal villages of Jaisalmer

Table 1 : Child-sex ratio in the non-tribal villages (census, 2001)

S.No.	Villages	Boys	Girls
1.	Dewa	276	216
2.	Basanpeer (Jooni)	104	96
3.	Basanpeer (Southern)	78	65
4.	Sata	88	62
5.	Pithala	98	35
6.	Gorera	51	41

The table above shows that the numbers of girls are less than boys in the non-tribal villages of Jaisalmer district in Rajasthan. It significantly shows that a very high sex ratio gap exists in the region. Villages like *Dewa, Sata, Pithala* etc. have very less number of girls.

Table 2 : Child-sex ratio in the tribal villages (census-2001, 2011)

		2001		2011	
S.No.	**Villages**	**Boys**	**Girls**	**Boys**	**Girls**
1	Jethwai	116	122	163	151
2	Moolsagar	62	54	80	60
3	Chundhi	34	53	58	54
4	Manpiya	38	39	48	42
5	Darbariyon ka gaon	86	93	96	116
	TOTAL	**402**	**427**	**445**	**423**

The table 2 indicates the child sex ratio among the tribal villages of Jaisalmer district. The *Bheel* tribal villages namely *Moolsagar, Chundhi* and *Jethwai* have the satisfactory sex ratio as

reported in the Census 2011. In the Census 2001, in *Chundhi* and *Jethwai* villages there were more girls than boys.

The Social and Economic Context

Jaisalmeri Bheels are sheep and goat rearing community. Every household have 20 to 100 animals. Some of them also have 2-4 cows. The wool collected from sheep and goat is used to weave Bardies (blankets). Gold carries no charm for them but they love to wear silver jewellery. Women wear traditional dresses. The younger generation girls wear *salwar kurtas* and even western wear. Bheel community follows a value system that is quite different from Rajputs, boasts Sheraram, "we believe in our own value system and pursue it collectively".

They have got some land allotted from the government of Rajasthan under the canal settlement project and through this new livelihood opportunity of becoming an agriculturist; the *bheels* of the desert villages are searching new avenues for betterment.

Addiction is there, they take liquor but no one consumes *amal-dodha* (opium). But they are trying their best for the eradication of drug addiction. Tribal community leader says that there are no incidences of sex selection or abortion. They traditionally believe in equality of boys and girls, so there is no question of dowry. Child marriages are there but as they voiced that they have been involved with the project of UNICEF to become child marriage free villages. The *Bheel* tribals practice equality, no dowry and no exploitation of women. They value girl child.

The Cultural Context

They worship *Tanot Rai Mata, Bhadariya Rai Mata, Kali Dungarai Mata* mainly, amongst *Aawad Matas*. A *Mela* near *Lodarwa* is dedicated to *Sheetla Mata*. Once a year all *Bheels* congregate here for this annual fair with all excitement and complete faith in *Sheetala Maa*, the saviour goddess of children from infectious diseases. They take pride in their cultural practices, beliefs, their way of living their lives, and above all their Bheel identity.

The Political Context

The two-child norm forces a woman not to become a *sarpanch* of village if she has more than two children. It forces women to remain a deprived class, as they are not eligible to be a

part of the political structure due to this norm. When equal political rights have been provided by the constitution of nation to all the citizens then why this norm has its existence at the grassroots *panchayati raj* level politics but not at the national politics. The process is undemocratic. It makes women secondary on the political platforms though.

The Education Facilities and Digital Platforms

Once the parents realised the potential of the girls there was no looking back. They felt proud of the their girls success. They soared high with the achievements of the girls. This in itself was a great incentive, community also became committed towards providing better environment and facilities available for the girls.

The school system and the government authorities also became eager to support the parents and act as an important stakeholder in the community endeavours. Today the community leaders are running a girls hostel for tribal girls in Jaisalmer with all facilities to give them a conducive environment. *Bheel* tribal girls are residing in this hostel and pursuing their studies. These girls are from the entire Jaisalmer district. The community leader says that 'we met the minister and sought permission for increase in seats in the hostel for girls, the number is now hundred'. This shows the pace of success of an initiative that began as an attempt to allow the girls to breath to live and to learn.

According to Sheraram Bheel, a prominent bheel community leader,*"we are trying to move forward as a community. We have procured five bighas of land in Jaisalmer for student hostels and other community activities. Hundred girls are studying in K.G.B.V.at Bhadariya Rai place. Two girl students are studying in Medical College, many are doing B.Ed. and many others are waiting to be employed in education department. More youngsters are entering college for their higher studies being encouraged by scooty yojana for girls and scholarships for SBC category. Modern techniques are all attracting the newer generation. T.V.s arrived first of all, almost fifteen years ago. Gradually fridges, sofa-sets, bikes etc. arrived."*

Modern technology has entered in the day-to-day transactions of the community most of them on smartphones android phones and have become tech savvy. The community in a united voice demanded for girls' education facilities to be improved from the government. They succeeded in getting allotted funds for girls

hostel in *Jethwai* village from the Government of Rajasthan, under promotion scheme for Scheduled Tribes girls.

Conclusion

The question of inclusiveness of these tribals is debatable. We need to find answers to a very big question that till when they would be able to follow their indigenous beliefs to resist the mainstream challenges of modern life style, the basic human desires to be considered equal to other communities, copying and following others?

The one and only answer to this is to give due honor to their firm beliefs in valuing girls, collectivity, simplicity and their faith in Mother Force. We need to learn their sense and sensibility of equality of gender. This will lead us to be a better human society.

References :

B.L. Nagda (2004) Tribal Population And Health In Rajasthan, Studies of Tribes and Tribals, 2:1, 1-8, DOI: 10.1080/0972639X.2004.11886496

Census of India. (2011). Accessed from www.censusindia.net/

http://www.downtoearth.org.in/content/child-sex-ratio-worsening-faster-among-scheduled-tribes-census-report

http://www.genderforum.org/issues/passages-to-india/sociology-of-female-foeticide-and-infanticide/page/2/

http://www.in.undp.org/content/india/en/home/operations/about_undp/undp-in-rajasthan/about-rajasthan/

Kshatriya, G.K and Kapoor, A.K. (2003). Population Characteristics of the Bhil of Rajasthan. *Indian Anthropologist*. 33 (1). Accessed from https://www.jstor.org/stable/41919923

Rajasthan Human development Report (RHDR), 2002. Accessed from http://data.undp.org.in/shdr/raj/rajhdr.pdf.

Dr. Jaya Kritika Ojha
Department of Society Technology Interface
School of Social Sciences
Central University of Rajasthan
Email: jaya.kritika@curaj.ac.in

❑❑❑

A Study on Effect of Covid-19 Pandemic on Economic Condition of Traditional Marine Fishers

Pradip Roy • Dr. Chetan Chaudhari

Abstract : This paper studies on effect of Covid-19 pandemic on economic status of traditional marine fishers from Royapuram. The researcher has carried out a comparative analysis on differences in economic condition among traditional marine fishers from Royapuram, Chennai during pre-pandemic and pandemic era. The factors that played a major role behind this massive change are drop in market demand and selling price due to lockdown. Masters of Ninety three marine fishing boats form Royapuram fishing village at Chennai were interviewed by structured questioner to explore effect of pandemic on lifestyle and economic condition of fishers. This paper studies their answers to compare pre-pandemic and pandemic conditions to evaluate economic changes among respondents under study.

Keywords : Traditional, Marine, Motorized, In-board, Outboard.

Introduction

The contribution of marine fishery to national economy of India is immense. The marine fishing sector contributes 5.3% on agricultural GDP 1.21% to GDP. Marine fishing is a means of livelihood of more than 10 million people in nation. The marine fisheries of India have recorded phenomenal growth during last five decades while producing exponential increase marine catch. The country has witnessed rapid development in efficiency and productivity at end of the 20^{th} century. The technological advancements by mechanization and motorization of the traditional crafts are prime factors behind this massive development. However, traditional method of marine fishing is proved to be more useful during challenging days (Infantina et al. 2016).

In India, marine fishing is a source of livelihood and generates employment to more than ten million people. It is also an element of food security and produces adequate fish to sustain her population. However, due to administrative issues, the overhaul food security for all citizens could not be achieved. Indian marine waters contain more than one thousand seven hundred species of fishes; but only around two hundred are commercially explored.

Tamil Nadu has 1076 KM long coastline comprising 573 fishing villages and 407 landing centres. The state has 192,697 fishermen families; out of which 185,465 are traditional. The state has 198,856 engaged in actual full time fishing among 214,064 active fishers. The state holds 46,070 fishing boats among which 10,436 are non-motorised, 24,942 are motorised and 10,692 mechanised. The Chennai coastline is prone to cyclones and coastal erosion like common natural hazards apart from manmade pollutions due to oil spill. Royapuram fishing village is located at District and Taluk Chennai in the state of Tamil Nadu. The village has 420 fishers families, out of which 333 are traditional and 398 are BPL families. The village has 1907 fisherfolk population. It has 323 actual full time among 326 active fishers. They have membership in 525 fisheries co-operatives. The fishing village has 72 mechanized and 21 outboard fishing boats.

Literature Review.

"Fishing Methods in India Fisheries", (2020), identified that traditional fishing methods mostly used in India. However, modern fishing technique like electro-fishing; which uses electromagnetic waves to concentrate fishes in one place to facilitate better catch using nets.

Pike & Borgstrom, (2020), in their study has explained how traditional method of fishing has been replaced by modern aids for better efficiency and productivity of fishing. They have identified popularity on use of bag nets which are opened by hoop-like instrument and connected by long chains to trap catches easily.

Kadfak (2019), in his survey on a small fishing village from Karnataka has observed that the mechanized or motorized fishing boat owners could easily manage bank loans. Earning from local fish market is more predominant due to near proximity and absence of whole sale opportunities. He has mentioned that motorization and mechanization in presence of private trawler yards and fish net

mending zones have increased productivity/ income in marine fishing sector and improved state economy.

Radhakrishnan *et al.* (2018), opined requirement of government support for small-scale, traditional, motorized and mechanized fishing as return to income from marine fisheries. The researcher has established that traditional fishing even with lower investments yields 21% as compared to motorized (14%) and mechanized sector (10%). He has also reiterated about enhanced efficiency of mechanized sector as they are equipped with modern equipment.

Infantina *et al.* (2016), mentioned about two different bodies govern fishing in Tamil Nadu; village self-governance across coasts and association with modern equipment of fishing to cater common interests. The traditional self-governing body of fisherfolk take care of livelihood/ safety of small-scale fishers, decision making on community living and product pricing. The association take care of modern equipment like motorized boats, market, export and pricing of products. The traditional fishing in Tamil Nadu which lacks fishing database is facing reduced catch rate due to capitalization and over capacity. The researcher has suggested implementation of modern management system to conduct responsible fishing in the state.

Radhakrishnan *et al.* (2016), has mentioned about 5% annual stable growth of fishing in Tamil Nadu in last decade. He has impressed upon fisheries law/ actions and modern technologies/ equipment ensured better productivity and efficiency.

Kalita *et al.* (2015), in his survey has mentioned about basic age, sex, housing, qualification, fishing gears and fish catch by fishers from Assam. He observed that 72.10% were uneducated, 2.17% matriculate and 25.73% have completed only till lower primary level. He also observed that 11.23% does fishing for subsistence. He has identified that a little more than 26% belongs to the age group 20-30, however, fisher from age group of 31-40 were most active. He found that 52% and 48% of the fishers respectively work as farmer and labours as part time earning source.

Objectives of research.

- To evaluate effect of mechanisation during pandemic on family structure of traditional marine fishers.

- To assess if adequate post-harvest services are available to support mechanization during pandemic.
- To analyse effect of mechanization on income of traditional marine fishers during Covid-19 pandemic.

Hypotheses.

- H1: Mechanization has significant effect on family structure of traditional marine fishers during pandemic days.
- H2: Adequate post-harvest services are available during pandemic to support mechanization.
- H3: Mechanization has improved income of traditional marine fishers during Covid pandemic.

Methodology.

Masters of Ninety three marine fishing boats from Royapuram fishing village at Chennai were interviewed with structured questionnaire. The questionnaire was framed to evaluate usage of mechanisation on economic condition during Covid-19 pandemic days in comparison with pre-pandemic era.

Research Design.

A descriptive survey of random sampling has been taken to analyze the data in a comparative analysis. The dependent variables have been taken and their co-relation with the independent variable has been proved. The results are found using statistical analysis such as Mean, SD, percentile calculation and graphs showing the inference. The hypothesis has been tested by Tukey's Range Test (Tukey's Honest Significant Difference Test) to assess significance of differences (at 0.05 level) between pair of group means.

Variables taken.

Independent Variable: Mechanization.

Dependent Variable: Family structure and dependence, Fishing income, Economic conditions.

Questionnaire survey.

The questionnaire was developed to follow pilot survey method.

Primary data source.

The respondents were interviewed outside of their doorstep at Royapuram fishing village in Tamil Nadu; as most of them were at

home due to the Covid-19 lockdown. Mandatory Covid protocol was maintained during interview with traditional marine fishers.

Secondary datasource.

The secondary source of data was collected from books, journals, thesis papers and other Governmental and Non-Governmental reports.

Limitations of study. This study considered Ninety three samples from Royapuram, Chennai.

Findings and Analysis.

Changes among traditional marine fishers form Royapuram, Chennai due to Covid-19.

Fishing boats used.

Table 1. Fishing boats used by traditional marine fishers from Royapuram during pre-pandemic and pandemic Covid-19 era

Type of Boats	Pre-pandemic Covid-19		Pandemic Covid-19	
	Number	Percentile	Number	Percentile
Outboard Motorized	21	22.58	21	61.76
In-board Motorized	72	77.42	13	38.24
Total	93	100	34	100

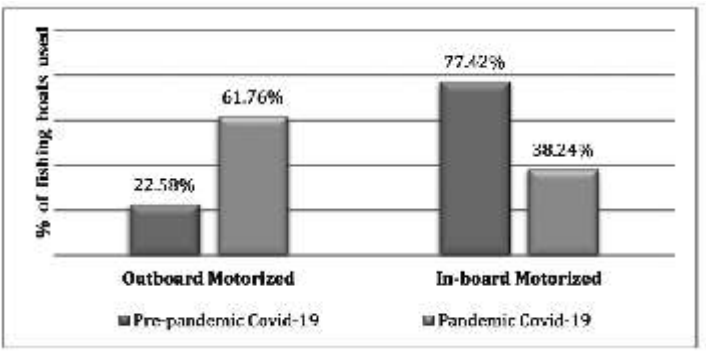

Graph 1. Fishing boats used by traditional marine fishers from Royapuram during pre-pandemic and pandemic Covid-19 era

Interpretation.

Among total fishing boats plied during pre-pandemic Covid-19, 22.58% were outboard motorised. However, during pandemic

era, 61.76% are total fishing boats were outboard motorised. 77.42% of total fishing boats used during pre-pandemic era was in-board motorised, in comparison with 38.24% during pandemic Covid-19. Thus, it is realized that during pandemic days, outboard fishing boats plied more in comparison with in-board motorized. The primary reason behind this changes in use of varied fishing boats is in-board motorized which generally prefer longer voyage for more catch restricted themselves due reduced market demand and selling price.

- Average number of fishing days per month.

Table 2. Average number of fishing days per month by traditional marine fishers from Royapuram during pre-pandemic and pandemic Covid-19 era

Type of Boats	Number of fishing days per month	
	Pre-pandemic Covid-19	Pandemic Covid-19
Outboard Motorized	17	21
In-board Motorized	25	6

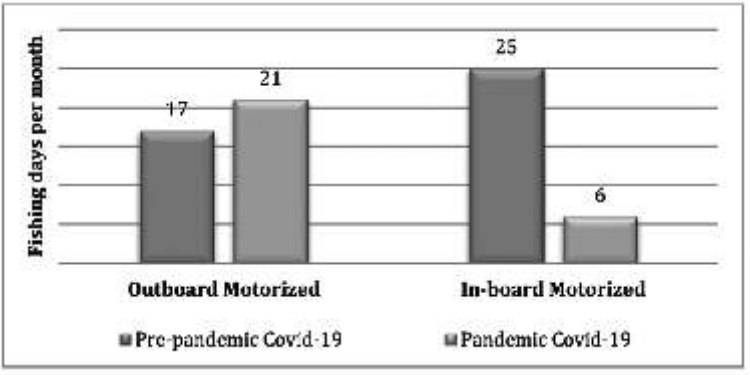

Graph 2. Average number of fishing days per month by traditional marine fishers from Royapuram during pre-pandemic and pandemic Covid-19 era

Interpretation.

The traditional marine fishers from Royapuram, Chennai have recorded 17 fishing days during pre-pandemic Covid-19 in comparison with 21 fishing days during pandemic era by outboard motorized fishing boats. However, the fishers have recorded 25 and

6 fishing days with in-board motorized fishing boats during pre-pandemic and pandemic Covid-19 era respectively. Thus, it is realized that outboard fishing boats have increased number of fishing days to compensate reduced selling price and livelihood during Covid-19 era. The income of in-board motorized fishing boats were not compensating operational expenditure required for longer voyage due reduced selling price. Hence, in-board motorized fishing boats recorded lesser number of fishing days during Covid-19 era.

- Income

Table 3. Income from varied fishing boats used by traditional marine fishers from Royapuram during pre-pandemic and pandemic Covid-19 era

Type of Boats	Percentile of income from marine catch	
	Pre-pandemic Covid-19	Pandemic Covid-19
Outboard Motorized	38.9	73.2
In-board Motorized	61.1	26.8
Total	100	100

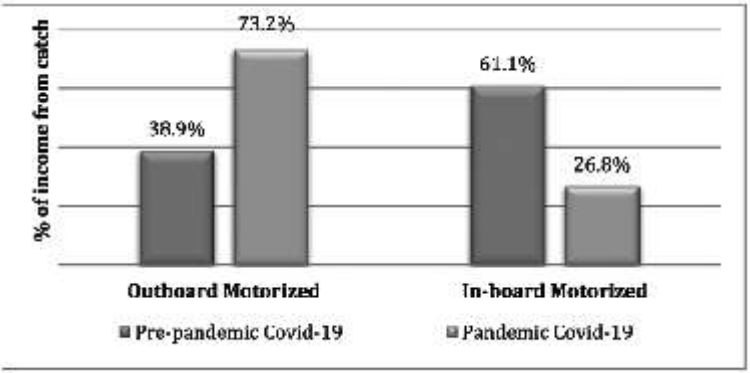

Graph 3. Income from varied fishing boats used by traditional marine fishers *from Royapuram during pre-pandemic and pandemic Covid-19 era*

Interpretation.

The traditional marine fishers from Royapuram, Chennai have earned 38.9% and 73.2% of total marine fish production using outboard motorized fishing boats during pre-pandemic during pandemic days respectively. However, income by in-board

motorized fishing boats from total marine fish production during pandemic days has reduced to 26.8% as compared to 61.1% during pre-pandemic days. Thus, it is understood that income of in-board motorized fishing boats have reduced as they went for less and short voyage to reduce operational expenditure for fishing during pandemic days.

Testing of Hypotheses.

- H1: Mechanization has significant effect on family structure of traditional marine fishers during pandemic days.

Table 4.Testing significance of mechanization on family structure

Variables	Category	N	Mean	SD	Q	df	p-value	Significance at 0.05 level
Family structure	Joint	17	9	4.89	2.81	91	0.049	Insignificant
	Nuclear	76	38.5	21.9				

From table-4, it is found that p (significance) value 0.049 is less than á (level of significance) 0.05, the Null hypothesis is rejected. Hence, traditional marine fishers from Royapuram have not changed family structure for better living with mechanization during Covid-19 pandemic.

- H2 : Adequate post-harvest services are available during pandemic to support mechanization.

Table 5. Testing significance of post-harvest services to support mechanization

Variables	Category	N	Mean	SD	Q	df	p-value	Significance at 0.05 level
Adequate post-harvest services	Strongly disagree	3	2	0.8	3.94	88	0.049	Insignificant
	Disagree	3	2	0.8				
	Neither agree nor disagree	9	5	2.5				
	Agree	36	18.5	10.3				
	Strongly agree	42	21.5	12.1				

From table-5, it is found that the p (significance) value 0.049 is less than á (level of significance) 0.05, the Null hypothesis is rejected. Hence, adequate post-harvest services are not available during pandemic to support mechanization.

H3 : Mechanization improved income of traditional marine fishers during Covid-19 pandemic.

Table 6. Testing significance of mechanization with income

Variables	Category	N	Mean	SD	Q	df	p-value	Significance at 0.05 level
Income	Below Rs 6,000	14	7.5	4.03	3.37	90	0.05	Insignificant
	Rs 6,000-10,000	60	30.5	17.3				
	Above Rs 10,000	19	19	5.4				

From the table-6, it is found that the p (significance) value 0.05 is equal to á (level of significance) 0.05, the Null hypothesis is rejected. Hence, mechanization could not assure better income of traditional marine fishers from Royapuram during Covid-19 pandemic.

Conclusion.

The marine traditional fishers have faced stiff cut in market demand and reduction in selling price of their catch due to Covid-19 pandemic and subsequent lockdown. This has adversely affected economic conditions of this socially suppressed community of our society. However, traditional marine fishers have not changed family structure for better living with mechanization during Covid-19 pandemic.The condition has worsened to such an extent that, the fishers could hardly think for further investment on fishing inputs due to fear of either loss or marginal income from their good effort. This is not only pushing marine fishing community in crisis, but also affecting country's economy. The marine fishers are forced to curtail regular fishing trips by in-board motorised fishing boats; which essentially require more operational expenditure for better catch. In addition, inadequate post-harvest services have been observed during pandemic to support mechanization. Hence, fishers have started depending on outboard motorised boats for short fishing trips to avoid loss due to reduced market demand and lesser selling price. Thus, even in the era of mechanisation, the in-board motorised fishing boats are tied alongside for months together due to ill effect of pandemic. In turn, this has resulted lesser supply of protein rich sea food to market, which otherwise had been ample during pre-pandemic days. Today, fish consumers and society have added responsibility to support age old marine fish producing industry for survival both

in humanitarian ground and for early reinstatement of food supply chain in forthcoming post pandemic days to come.

References.

1. Infantina, J. A., Jayaraman, R., Umamaheswari, T., Viswanatha, B. S., & Ranjith, L. (2016). Governance of marine fisheries in India: Special reference to Tamil Nadu.
2. Nair, R. (2020). Retrieved 13 September 2020, fromhttps:// www.researchgate.net/ publication/ 323224470 An Overview of Marine Fisheries of India.
3. Kalita, G. J., Sarma, P. K., Goswami, P., & Rout, S. (2015). Socio-economic status of fishers and different fishing gear used in Beki River, Barpeta, Assam. Journal of Entomology and Zoology Studies, 3(1), 193-198.
4. Rao, G. S., Sathianandan, T. V., Kuriakose, S., Mini, K. G., Najmudeen, T. M., Jayasankar, J., & Mathew, W. T. (2016). Demographic and socio-economic changes in the coastal fishing community of India. Indian Journal of Fisheries, 63(4), 1-9.
5. Santha, S. D. (2015). Adaptation to coastal hazards: the livelihood struggles of a fishing community in Kerala, India. Disasters, 39(1), 69-85.
6. Jayakumar, K., &Malarvannan, S. (2016). Assessment of shoreline changes over the northern Tamil Nadu coast, south India using Web GIS techniques. Journal of Coastal Conservation, 20(6), 477-487.
7. Kadfak, A. (2019). More than just fishing: The formation of livelihood strategies in an urban fishing community in Mangaluru, India. The Journal of Development Studies, 1-15.
8. Radhakrishnan, K., Prakash, S., Narayanakumar, R., Krishnan, M., Madan, M. S., & Kumar, N. R. (2018). Economic analysis of marine fishing crafts in Thoothukudi province, Tamil Nadu.
9. Fishing Methods in India Fisheries. Fish Farming Techniques. (2020). Retrieved 12 September 2020, from http:// www.fishfarmingtechniques.com/fishing-methods/ fishing-methods-in-india –fisheries/13487#:~:text= (i) %20 Fixed % 20 or % 20stationary%20nets, Drift%20nets%20and%20gill%20nets.
10. Pike, D., & Borgstrom, A. (2020). Commercial fishing - Methods. Encyclopaedia Britannica. Retrieved 12 September 2020, from https:// www.britannica.com/ technology/ commercial-fishing/ Methods.

11. Radhakrishnan, K., Tesfom, M. A., Infantina, J. A., Krishnan, M., &Velmurugan, R. (2016). Marine fisheries growth, performance and institutional arrangements in Tamil Nadu. International Journal of Fisheries and Aquatic Studies, 4, 342-346

12. Varma, M. (2020). Device to cut diesel expenses of fishers launched. The Hindu. Retrieved 14 September 2020, fromhttps:// www.thehindu.com/news/cities/ puducherry/device-to-cut-diesel-expenses-of-fishers-launched/article27036932.ece.

13. ICAR, K. (2020). Krishi.icar.gov.in. Retrieved 14 September 2020, fromhttps:// krishi.icar.gov.in/jspui/bitstream/123456789/30998/2/03Netting%20Materials%20for%20Fishing%20Gear.pdf.

14. Marine Fisheries Census 2010, Department of Fisheries, Government of India.

Pradip Roy
Research Scholar
Global Business School & Research Centre
Dr.. D. Y. Patil Vidyapeeth (Deemed To Be University), PUNE

Dr. Chetan Chaudhari
Director, Global Business School & Research Centre
Dr.. D. Y. Patil Vidyapeeth (Deemed To Be University), PUNE

❑❑❑

Inspiring Change Through Women Empowerment

Anam Tahir Hashmi • Mohd Shakir

Abstract :

Empowered women are the reflection of a developed and effectively functioning society. Empowerment has brought significant changes in the lives of women. The term empowerment refers to the state of being informed about one's rights, perform duties and lead a dignified life. Women have continued to be the oppressed and deprived group for a fairly long period of time, but with the emergence of women empowerment many positive changes have occurred, such as increased awareness of rights and duties, positive attitude towards education, reduced discrimination, enhanced work participation, decision making ability, financial stability, increased self worth, better standard of living etc. Several previous studies have shown that women have been among the most deprived and backward section of the society. A lot has been accomplished but a lot is yet to be accomplished.

For the present study information is gathered through research papers, articles e-newspapers and different websites. The aim of this paper is to understand the concept and present status of women empowerment in India, to know the major stumbling blocks in the path of women empowerment and to suggest some plausible measures for overcoming barriers in the path of women empowerment in India. The findings revealed that there are a number of obstacles in the path of women empowerment such as unawareness, illiteracy, high dropout rate, poor work participation, financial instability, low self worth etc. In order to overcome these obstacles the researchers have tried to put forward some measures, apart from this genuine and collective efforts on the part of

Government and each individual are needed to make every woman empowered.

Keywords : empowerment, women empowerment, self worth, issues and measures.

Introduction

The concept of women empowerment has gained much popularity in the 21st century. The words empowerment and women are often associated, as empowerment has brought significant positive changes in the lives of several women in India and abroad. The term empowerment refers to the state of being informed about one's rights, perform duties and lead a dignified life. Empowerment may be regarded as means of creating an egalitarian society where every individual has the right for making decisions and choices for social transformation (Schuler and Hashemi, 1996).

Women empowerment is vital for the progressive development of a nation. In this regard *Dr. Abdul Kalam* has rightly said that, *"Empowerment of women leads to development of a good family, good society and, ultimately, a good nation."* Women constitute about half of the world's population, their education and work participation can substantially contribute to the overall development of nation. A number of influential women leaders like Indra Gandhi, Sarojini Naidu, Prathiba Patil, Angela Merkel, Malala Yousufzai and many more across the globe have emerged as inspiration for a number of women and are glaring examples of women empowerment. Their remarkable contributions have brought significant changes in lives of many women. Although women *have proven* their potentials in almost every field such as education, politics, economics, scientific, social, household, film *industry, etc.* yet, complete women empowerment is still a challenge in a developing country like India. The rampant social evils like, gender disparity, indifferent attitude towards education and attitude towards working women, unawareness of rights and duties etc are major obstacles in the path of empowerment of women in India. Apart from this the harassments faced by women at home or outside such as workplace or on roads and streets are also the major barriers. Despite various efforts of the Government, NGO's, social activist, etc, such evils are still prevalent in our society and posing obstacles in the path of women empowerment.

Another factor for bringing about change through women empowerment is the dire need to reach the unreachables, such as women residing in the remote areas, more efforts are needed to educate women, make them aware of their rights and duties, encourage them to fight against all forms of discrimination and ill-treatment, help them realize their potentials and self worth. Women should also not consider themselves inferior in terms of strength and capabilities. In this regard, *Mahatma Gandhi* has rightly remarked *"To call woman the weaker sex is a libel; it is man's injustice to woman. If by strength is meant moral power, then woman is immeasurably man's superior."* Women should come forward, be fearless, fight against all forms of exploitation and gain equal status in the society. Genuine and collective efforts on the part of Government and each individual are needed to make every woman empowered. Being empowered will further help women to lead a, healthy, happy and dignified life.

Objectives of the study:

1. To understand the concept of women empowerment.
2. To study the present status of women empowerment in India.
3. To get acquainted with the major stumbling blocks in the path of women empowerment.
4. To suggest plausible measures for women empowerment.

Methodology :

For the present study, a comprehensive literature survey was conducted through secondary sources such as, research papers, articles, e-newspapers, e-books and different websites.

Women empowerment in India: Current scenario :

The status of women in India has constantly been changing. Traditionally the role of women was limited to household chores, and looking after the wellbeing of the family. Education and work participation of women did not receive much importance. It is observed that many women have less or no financial stability and have to mostly depend on men even for their basic needs.

However, the condition of women is undoubtedly improved in the modern era. One of the major indicators of women empowerment is the rising literacy level among women. The Table 1 shows the changing trend in literacy rate over a last few decades.

Table 1

Changing trends in literacy rate during 1951-2011			
Five and Five years above aged individuals			
Year	**Female**	**Male**	**Total**
1951	8.86	27.15	18.32
1961	15.35	40.40	28.31
1971	21.97	45.96	34.45
Seven and seven years above aged individuals			
1981	29.76	56.38	43.57
1991	39.29	64.13	52.21
2001	53.67	75.26	64.83
2011	64.63	80.88	72.98

Source: Women and Men in India 2018 (A statistical compilation of Gender related Indicators in India)

From Table 1, it can be inferred that there is a rising literacy rate among women although at a slower pace. However the years 1981 to 2011 noted significantly increasing literacy rate as compared to men. With the advent of empowerment, women today are not just restricted to household chores, but now they are coming forward to create their self-image in the outside world. Women empowerment has enabled them realize their potentials, develop their capacities, live with dignity and function as a responsible and well informed citizen of a country. Women are now active participants and contributor in almost every field, be it medicine, engineering, education, civil services, politics, science, arts, economics, etc. Thus, changing rate of work participation among women becomes another major indicator of women empowerment. The table 2 shows the changing trends of work participation:

Table 2

Work Participation Rate (1971-2011)			
Year	**Females**	**Males**	**Total**
1971	12.11	52.61	33.08
1981	19.67	52.62	36.70
1991	22.27	51.61	37.50
2001	25.63	51.68	39.10
2011	25.5	53.3	39.8

Source : Statistical Profile on Women Labour 2012-2013

The Table 2 shows an increasing trend of work participation of women. However there is a decrease in the rate of work participation from the years 2001 to 2011 among women. Despite various advancement and provisions a decreasing work participation rate was quite unexpected. The low work participation might have occurred due to the increasing rate of crimes against women.

Empowerment of women has brought significant positive changes; however this is just one side of the story. A number of women are still facing challenges, related to health, literacy, work participation, economic stability etc. The safety of women has also become a vital issue. The cases of domestic violence, human trafficking, prostitution, rapes, acid attacks, harassment etc demands immediate and strict action on the part of Government. Safety of women is not just the duty of Government but every individual should also consider it as his/her duty and serve as responsible human being.

Stumbling blocks in the path of Women Empowerment:

1. **Lack of awareness :** It is observed that many women are unaware of their rights and status that Indian Constitution has given to them. Many women have little or no knowledge about their rights, thus they remain deprived or get exploited which is the major barrier in the path of women empowerment. Many people are still unresponsive to the campaigns for women empowerment.
2. **Poor work participation :** Poor work participation among

women is another obstacle for women empowerment. Women constitute approximately half of the world's population thus their work participation can bring about significant change in their lives and national economy at large.

3. **Lack of education:** Despite cultural and technical advancements, many people still hold indifferent attitude towards education of girl child, especially in rural and remote areas.
4. **High dropouts and low rate of enrolments in schools:** It is observed that many girls leave the school or sometimes never attend the schools as they have to perform domestic chores, look after their young siblings, get married at an early age, etc. which results in high dropout and low enrolment of girls in schools (Sharma, Samantaray and Dash, 2017).
5. **Financial constraints:** Due to financial problems many girls leave school at an early age and get engage in income generating activities with their parents.
6. **Lack of vocational training:** Curriculum that does not encompass vocational training has caused education of girls to be looked as superfluous activity especially by the people who have poor economical and financial conditions. It is observed that many parents especially in India consider their girl child as undesirable and liability due to their preference for the male child (Selamu and Singhe, 2017). Consequently people spend on the education of the male child considering them to be the future earning member of the family while the education of girl child is neglected as girls are supposed to leave the house after marriage; therefore spending on their education seems futile to such people (Gouri, 2017).
7. **Lack of women friendly environment:** Lack of schools and adult education centres within the reachable distance, poor infrastructure, lack of clean drinking water and sanitation facility, poor transport facility (Sharma, et al., 2017) are some other obstacles in the path of women empowerment.
8. **Low economic independence and self reliance:** Low work participation on the part of women leads to economic and financial instability and ultimately poor standard of living.
9. **Health and hygiene practices:** Lack of awareness about health and hygiene leads to diseases, malnutrition, poor

physical and mental health among women. Women in backward areas have less or no knowledge about maintaining necessary menstrual hygiene and care, and hesitate to talk about such matters during health awareness campaign (Panchani, 2014). Rising cases of cancers among women ranging from cervical to breast cancer and lung cancers have become a great concern.

10. **Psychological backwardness:** The inferiority complex among many women especially the ones residing in backward areas, has led to psychological backwardness. Many women consider themselves inferior to their male counterparts thus have low self esteem, low confidence, poor self image etc. Women who are psychologically empowered can realize self worth and conquer social stigmas (Gupta, 2018).
11. **Gender biasness:** Gender biasness at various levels such as family, education, employment, wage rate etc is another barrier in the path of women empowerment (Bhat, 2015). Few men who think themselves as superior gender and the worst part that many women have accepted themselves as inferior to men have promoted male-dominance in most of the fields.
12. **Commodification of women:** Representation of women on screen as mere commodity in item number songs such as "mai to tandoori murghi hu…" song name: fevicol se…, from the movie Dabangg 2 (2012), "tu cheez badi hai mast mast…" from the movie Mohra (1994), "khambe jaisi khadi hai…" from the movie Dil (1990), such songs are undoubtedly disgrace to the dignity of women. This has encouraged some people with low mentality to look at women as mere commodity or an object of pleasure. Further in many movies the uninspiring characters of women, whose only role is to add the element of glamour, have also adversely affected the image of women.
13. **Rising crimes and security risks:** Social evils like marital rapes sadly which is not criminalised in India (Malik, 2015, Naikade and Pal, 2018), domestic violence, abusive relationship, dowry demanding etc have raised potential threats to women security and dignity. Rising cases of violence against women such as harassments, stalking, sexual assaults, acid attacks etc discourage parents to send their

daughters outside the homes. Apart from this victim shaming, insensitive police service and patriarchal mindsets also hinders the victims of assaults.

Measures for Women Empowerment:

In the light of above mentioned issues, below are certain measures that can be taken to overcome the stumbling blocks in the path of women empowerment:

1. **Awareness campaign:** Social activists and NGO's in collaboration with teachers in rural areas can organise awareness programmes to make women aware of their constitutional rights and various Government provisions. In a multi-religious country like India, many people hold firm belief upon their religious leaders, such leaders should also come forward and make women aware of their rights and status. Educated women should form "self help groups" (Dutta and Bhakta, 2017) to spread awareness, and enhance work participation and self employment among other women.

2. **Sensitisation and capacity building programmes:** Sensitisation and training programme for girls should be held in every village to encourage their active participation in every field and enable such girls to discover and polish their abilities. Women should be encouraged to participate in income generating activities and thus improve their standard of living.

3. **Attitudinal shift:** There is a dire need to change the indifferent attitude of people towards the education of girl child. Gender sensitisation programmes should be carried out especially in backward areas. NGO's, social activist and other influencing women could reach and counsel such people and make them realize the importance of educating girl child and its long term benefits.

4. **Enhancing retention in schools:** Schools and adult education centres should also provide for vocational training and decent work opportunities, so that women can earn while they learn. This will ultimately result in retention of girls in schools and lower their drop out rates. It will also make women independent and their education would not appear burden to their families.

5. **Initiatives for financial support:** Steps should be taken by Government to ensure that the benefits of various Government efforts such as educational and empowerment schemes, namely, "Sarva Shiksha Abhiyaan 2001". "Beti Bachao Beti Padhao 2015", "Mahila-e-Haat 2016", "Mahila Shakti Kendra 2017", "One Stop Centre Scheme (Sakhi) 2015" etc are equally enjoyed by every woman. Providing seed money to skilled women for setting up small business and training impoverished girls in various arts may be a beneficial idea.
6. **Programmes for technical and vocational empowerment:** A systematic scheme of change is needed for the technical and vocational empowerment of women. Training in different vocations should receive priority. Computer centres should be established in every area, for providing technical training, and benefiting people with the online courses.
7. **Creating women friendly environment:** Schools especially for girls and adult education centers should be made available at a reachable distance; proper transportation facility such as special bus and cabs facility for women should be made available, quality education should be given priority, proper infrastructure, clean drinking water and adequate sanitation facilities should be available. Appointment for more female teachers should be made.
8. **Providing decent employment opportunities:** As defined by ILO decent work refers to, "productive work for women and men in conditions of freedom, equity, security, and human dignity." (Rantanen, Muchiri and Lehtinen, 2020). Providing decent working opportunities to all the women in working age group is necessary for making women economically and financially stable. A financially stable woman can improve her standard of living and support her family emotionally and financially. Working women can also contribute significantly in the economic growth of the nation.
9. **Improving health and hygiene practices:** Good health and hygiene is prerequisite for ensuring over all wellbeing. Awareness programmes for maintaining menstrual hygiene should be organised, as according to a study only 47.63% of the urban and 37.96% of the rural girls in West Bengal practiced menstrual hygiene, (Paria, Bhattacharyya and Das,

2014). Further proper nutrition, special care during puberty and pregnancy phase, should also be carried out. This would help in eradicating wide range of diseases. Expecting women should receive extra care and proper medical services. Timely immunization, breaking taboos related to female health, and easy access to health services should also receive due importance.

10. **Psychological empowerment:** Women should be counseled for not falling victim to abusive relationship with their spouse and other family members. They should be psychologically empowered by realizing their self efficacy and self worth. Influential women of the society can come forward to support oppressed women so that such women can overcome their complexes, realize that they are no less than men and create a positive self-image.
11. **Creating gender inclusive environment:** Efforts should be made for creating a gender inclusive environment, where every individual gets equal status and treatment. Gender sensitisation should begin at initial stages of life. Categorization of work on the basis of gender such as reserving household or domestic chores only for girls should be avoided. Boys should be taught to respect girls and consider them as their equal partners from a very young age. Equal status of women and opportunities for education and employment should be encouraged at all the levels.
12. **Dignified representation of women on screen:** The film fraternity and drama industry should not promote songs and scripts that represent women as a mere commodity; rather they should give female actors roles which shows the real and daily life struggle of women and the inspiring stories. The celebrities can also use their star power to acquaint people about the hardships of women and promote women empowerment.
13. **Ensuring security and confronting perpetrators of violence:** Substantial steps should be taken by Government to safeguard the rights of women and protect them from crimes. Strict rules and immediate action against all forms of violence against women is the need of the hour. Every school, colleges, universities, private and government offices should have efficiently functioning internal complaint committees or

women cell where women could complain against their harasser and strict action could be taken in a time bound manner.

Conclusion:

Undoubtedly, the advent of women empowerment has significantly changed lives of many women in India and abroad. Today women are more active, responsible and informed citizens. Women empowerment has enable them realize their potentials, and lead a dignified life. Women have understood that their role is not just limited to homes, but they are inspirations for many and tremendous contributors to the world's economy. However the condition is yet to be changed in many regions especially the backward ones, where women are still the victims of patriarchal society, other social evils and living a miserable life. Unawareness, economical backwardness, passivity, gender biasness etc are the major causes behind their backwardness. There is a dire need to change the irrational mindset of people, so that every woman could live with dignity. Genuine efforts on the part of Government and every individual are needed to ensure that every woman is empowered.

References:

Abedi, Z., (2011). *Indian Muslims; social, economic and educational status.* New Delhi, Arise Publishers & Distributors.

Bano, F (2017). Educational Status of Muslim Women in India: An Overview *IOSR Journal of Humanities and Social Science (IOSR-JHSS)* 22, (6), 10-13.

Bhat, R, A. (2015). Role of Education in Empowerment of Women in India, *Journal of Education and Practice,* 6(10), 188-191.

Chadha, S. K. (2017). Women Empowerment in India: Rationale and Present Status ESSENCE - *International Journal for Environmental Rehabilitation and Conservation* VIII (1). 160 – 167.

Channawar, S. (2016). Role of Education in Women Empowerment, *International Journal of Recent Trends in Engineering & Research (IJRTER)* 02, (11) 357-359.

Dandona, A. (2015).Empowerment of Women: A Conceptual Framework, *The International Journal of Indian Psychology*, 2 (3), 35-45.

Dominic, B., Jothi. C, A, A., Education- a tool of women empowerment: Historical study based on Kerala Society *International Journal of Scientific and Research Publications*, 2, (4), 1-4.

Dutta, N., Bhakta, K (2014). Women Empowerment: Dimensions, Needs and Hurdles in *India International Journal of Commerce and Management Research*, 5(30), 48-52.

Gouri, K, V. (2017) Women Education and Empowerment in India with reference to Telangana and Andhra Pradesh, *Journal of Community Guidance & Research,* 34(2), 394-414.

Gupta, D, C. (2018) The Psychological aspect of women empowerment at workplace, *International Journal of Current Research and Modern Education (IJCRME)* 3(1), 375-378.

Hussain, M., Khan, M, A. and Khan, F, A.(2018). Educational Status of Muslim Women in India: Issues and Challenges, *Scholars Journal of Arts, Humanities and Social Sciences*; 6(2), 311-316.

Islam, F., et.al. (2014). Comparative Study of Muslim Women's Education in the Context of employment, access to media, marital status, family planning and political participation - Case Study of Azamgarh District, *IOSR Journal Of Humanities And Social Science (IOSR-JHSS)* 19 (3), 186-196.

Malik, N. (2015). Marital Rape Laws and Women Security in India: A Critical Analysis, *Global Journal for Research Analysis*, 4(10), 131-132.

Mishra, G. (2016). The Psychological Facets of Women Empowerment at Workplace *International Journal of Recent Trends in Engineering & Research (IJRTER)* 02(11), 2455-1457.

Naikade, K. and Pal, G.(2018). Issues and Challenges related to Marital Rape in India, *International Journal of Humanities and Social Science Invention (IJHSSI),* 7(4), 58-69.

Nisha, M, A. (2018). Political Empowerment and Participation of Women in India *International Journal of Pure and Applied Mathematics*, 120 (5), 4721-4736.

Pachaiyappan, P.(2015). Education: A Tool for Empowerment of Women. *Journal of Education and Practice* 6 (10), 187-190.

Panchani, M. (2014). Role of Primary Health Care in the Empowerment of Women and Concern about Health Issues, *International Journal of Research Studies in Biosciences* (IJRSB), 2(11), 21-27.

Paria, B., Bhattacharyya, A., and Das, S.(2014).A comparative study on menstrual hygiene among urban and rural adolescent girls of West Bengal, *Journal of family medicine and primary care*, *3*(4), 413–417.

Rantanen, J., Muchiri, F. and Lehtinen, S.(2020). Decent Work, ILO's Response to the Globalization of Working Life: Basic Concepts and Global Implementation with Special Reference to Occupational Health, *International Journal of Environmental Research and Public Health,* 17(10), 1-27.

Saba,T., Chell, M,M. Ahmad, S,R. (2017). Education as a powerful weapon for empowering Muslim women in West Bengal, *International Journal of Advanced Educational Research* 2(3) 43-45.

Salam, N. (2018). Education as a weapon for Muslim women empowerment in India, *International Journal of Current Advanced Research* 7(3) 10694-10697.

Schuler, S, R. and Hashemi S, M. (1994). Credit Programs, Women's Empowerment, and

Contraceptive use in Rural Bangladesh, *Studies in Family Planning*, 25(2): 65–76.

Selamu, G, L. and Singhe, S, M (2017). The Psychosocial Empowerment of Women: A Critical Review". *EC Psychology and Psychiatry* 5(1), 8-15.

Sharma, A., Samantaray, A. and Dash, S, R. (2017). Demographic Analytical Study of Girl Child Dropout from Schools in India, *International Journal of Engineering Technology Science and Research* IJETSR, 4 (10), 921-926.

Singh, P. and Gupta, S. (2013). A Conceptual Study on Women Empowerment-Facts and Realities, *IOSR Journal of Humanities and Social Science (IOSR-JHSS)* 11(4), 54-63.

Sundaram, M, S., Subburaj, M, S, A. (2014). WOMEN EMPOWERMENT: ROLE OF EDUCATION *International Journal in Management and Social Science* 2 (12), 76-85.

Webliography

Understanding women's safety, towards gender inclusive city, retrieved on 15/03/2020 fromhttp://www.endvawnow.org/uploads/browser/files/understanding_womens_safety.pdf

Visualising women safety in 2019: how India can do better By Elsa Marie D' Silva retrieved on 15/03/2020 from https://yourstory.com/2019/01/visualising-women-safety-2019-india-do-better

http://bharatmoms.com/blog/9-empowering-quotes-women-inspirational-leaders-68th-republic-day-2017/

Retrieved on 12/03/2020 Women and Men in India (A statistical compilation of Gender related Indicators in India) 2018 retrieved on 16/03/2020, from http://www.mospi.gov.in/sites/default/files/publication_reports/Women%20and%_20Men_%20%20in_%20India%202018.pdf

Workers and work participation rate retrieved on 16/03/2020 from http://censusmp.nic.in/censusmp/Data/PCA_DATA/006%20-%20Chapter%20-%204%20-%20WPR%20.pdf

STATISTICAL PROFILE ON WOMEN LABOUR 2012-2013 retrieved on 16/03/2020 from http://labourbureaunew.gov.in/UserContent/Statistical_Profile_2012_13.pdf

Status of women in India retrieved on 16/03/2020 fromhttps://vikaspedia.in/social-welfare/women-and-child-development/women-development-1/women-development

International Women's Day: 5 Government schemes working for women empowerment retrieved on 08/10/2020 from https://www.indiatoday.in/education-today/gk-current-affairs/story/international-women-s-day-5-govt-schemes-working-for-women-empowerment-1653587-2020-03-08

Ms Anam Tahir Hashmi
Research Scholar, Department of Education
Aligarh Muslim University

Dr. Mohd Shakir
Assistant Professor, Department of Education
Aligarh Muslim University,
Aligarh.202002, U.P. (INDIA)

❑❑❑

आभिलेखिक उद्वाचन में पाठ-भेद : समस्याएँ एवं समाधान

• प्रो. सीताराम दुबे

'पर' या 'ऊपर' एवं 'लिखना' के उद्बोधक पद क्रमशः 'इपी' एवं 'ग्राफी' से निष्पन्न 'इपीग्राफी' का आशय वह शास्त्र-विशेष है, जिसमें हम प्रस्तर, धातु, मिट्टी, लकड़ी, शंख आदि से निर्मित पदार्थों पर उत्कीर्ण लेख, जिन्हें अभिलेख (Inscription या Epigraphy) के नाम से जाना जाता है, का अध्ययन करते हैं। अपवाद स्वरूप ही सही खरोंच कर, घिसकर अथवा स्याही से अथवा उभरे अक्षरों में लिखे अभिलेखों के उदाहरण भी उपलब्ध होते हैं। सुविधा के लिये इसमें मुहर एवं मुद्रांक का भी समावेश किया जाता है। मुद्रांक उभरे हुए अक्षरों के महत्त्वपूर्ण उदाहरण हैं। ये अभिलेख 'ध्वनि' एवं उसके लिये विहित 'आकार' के रूप में 'आत्मा' एवं शरीर रूप क्रमशः भाषा एवं लिपि का संश्लिष्ट रूप प्रस्तुत करते हैं। भाषा एवं लिपि देश-काल एवं समाज के अनुरूप अपना भाव एवं रूप ग्रहण करती है और उसी के अनुरूप उसमें संशोधन-परिवर्धन होता रहता है।

भारतीय उपमहाद्वीप के पश्चिमोत्तर भाग में प्रारम्भ में जहाँ ग्रीक, अरमेइक एवं खरोष्ठी का प्रचलन रहा, वहीं शेष भारत में ब्राह्मी का। पश्चिमोत्तर भारत की शेष लिपियाँ भारतीय सन्दर्भ में शीघ्र ही प्रचलन से बाहर हो गईं, किन्तु खरोष्ठी लिपि चौथी-पाँचवीं शती तक प्रचलन में बनी रही। लगभग इसी समय इसका बिहार क्षेत्र में प्रवेश हुआ और ब्राह्मी लिपि के साथ छोटे-बड़े लेखों में द्विमिश्रित लिपि के रूप में इसका प्रयोग होने लगा। अशोकोत्तर काल से ब्राह्मी लिपि के अभिलेखों में 50-100 वर्षों के अन्तर के साथ क्षेत्रीय भेद प्रकट होने लगा। रेखीय, कोणीय, पेटिकीय शीर्ष एवं उसके भिन्न-भिन्न भेदोपभेदों के साथ अक्षरों के आकार-प्रकार में भी विविधता आई। सुविधा की दृष्टि से ये मौर्य, कुषाण, वाकाटक, गुप्तयुगीन ब्राह्मी के नाम से जानी जाती हैं। किंचित अनन्तर कुछ क्षेत्रों में शारदा तो कुछ क्षेत्रों में कुटिल, सिद्धमातृका आदि में रूप

परिवर्धन के साथ ब्राह्मी लिपि प्रकट हुई और उत्तर भारत के एक बड़े भाग में अन्ततः आद्य नागरी, नागरी आदि में परिवर्तित हो गई। दक्षिण भारत में ग्रन्थ (एक प्रकार की लिपि), कन्नड़, तेलुगू आदि लिपियों का भी प्रचलन हुआ।

भाषा की दृष्टि से मौर्य सम्राट अशोक के अभिलेखों में जहाँ प्राकृत का प्रयोग हुआ, वहीं तृतीय-चतुर्थ शताब्दी तक संस्कृत प्राकृत का स्थानापन्न हो गई, किन्तु यह परिवर्तन अकस्मात न होकर क्रमिक विकास का परिणाम था। विकास के दूसरे चरण में प्राकृत-संस्कृत-मिश्रित और पुनः शुद्ध संस्कृत का उपयोग होने लगा। कुषाण शासकों के कतिपय अभिलेख प्राकृत-संस्कृत मिश्रित भाषा का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। संस्कृत के संरक्षक गुप्तों के समय से संस्कृत अभिलेखों की प्रमुख भाषा बन गई। यद्यपि संस्कृत भाषा में लिखे अभिलेखों का प्रारम्भिक सूत्र (घोसुण्डी) हाथीबाड़ा नारायण-वाटक अभिलेख, षोडास के समय के मथुरा, धनदेव के अयोध्या और रुद्रदामन के जूनागढ़ अभिलेख तक जाता है। दक्षिण भारत के आन्ध्र एवं कर्नाटक क्षेत्र में भी चौथी शती तक प्राकृत का प्रयोग बना रहा। समकालीन नागार्जुनी कोण्ड के इक्ष्वाकुओं के अभिलेख संस्कृत भाषा में लिखे मिलते हैं। तेलुगू क्षेत्र के सालंकायनों के प्रारम्भिक लेख तो प्राकृत में हैं, किन्तु पाँचवीं शती से उनमें भी संस्कृत भाषा का प्रयोग होने लगा। गुप्तों के समकालीन मध्यभारत एवं दकन के वाकाटक, कदम्ब, कर्नाटक के उत्तरवर्ती गंग तथा दक्षिण के पल्लवों ने भी अपने अभिलेखों में संस्कृत भाषा का प्रयोग किया। कालान्तर में अभिलेख-लेखन में क्षेत्रीय लिपियों का प्रचलन तो हुआ, किन्तु अल्परूप में ही सही संस्कृत का प्रयोग भी बना रहा। पल्लव, चोल, पाण्ड्य राजवंश के शासकों के अभिलेख इसके महत्त्वपूर्ण उदाहरण कहे जा सकते हैं, जिनमें संस्कृत एवं तमिल दोनों भाषाओं का प्रयोग मिलता है। तमिल क्षेत्र के कतिपय उपलब्ध अभिलेखों की लिपि को हाल के वर्षों में तमिल ब्राह्मी लिपि के रूप में अभिहित किये जाने का भी प्रचलन बढ़ा है। क्रमशः कन्नड़ एवं तेलुगू भाषा का भी व्यवहार होने लगा।

इस प्रकार भारतीय अभिलेखों में लेखन-पदार्थों में विविधता के साथ ही भाषा और लिपि में भी विविधता मिलती है। स्पष्ट ही इस प्रकार की बहुविध विविधता इन अभिलेखों के उद्वाचन में सबसे बड़ी समस्या है। इस समस्या के निवारण के लिए प्रथमतः उद्वाचक का उद्वाच्य अभिलेख में प्रयुक्त भाषा-लिपि से सुपरिचय आवश्यक है। दूसरे, समय के साथ अनेक अभिलेख क्षतिग्रस्त हो गए मिलते हैं और उनके अक्षर टूट-फूट चुके होते हैं। इसके साथ ही इनमें प्रयुक्त प्रतीक-बिम्बों की भी बहुतायत है। तीसरे अशोक के रुम्मिनदेई स्तम्भ- लेख

जैसे कतिपय अभिलेखों को छोड़ दिया जाये तो प्राय: अधिकांश प्राचीन भारतीय अभिलेख शब्दों में न हो अक्षरों में उत्कीर्ण हैं। उनसे शब्द एवं वाक्य-संरचना करना उद्वाचक का स्वयं का कार्य होता है। अत: इसमें दृष्टि, सामर्थ्य एवं परिवेश भेद वाले भिन्न-भिन्न उद्वाचकों के लिए यह सम्भव नहीं कि वे सभी एक जैसे शब्द एवं वाक्य-संरचना कर सकें। अभिलेखों के पाठ-भेद के लिए ये सभी महत्त्वपूर्ण कारक हैं। ऐसी स्थिति में जिस उद्वाचक का चिन्तन-क्षितिज जितना व्यापक होगा, भाषा पर जितनी पकड़ होगी, लिपि का जितना अधिक ज्ञान और उद्वाचन का जितना अधिक अभ्यास होगा वह अभिलेख के वस्तुनिष्ठ उद्वाचन में उतना ही अधिक निपुण होगा और उनकी शब्द एवं वाक्य रचना उतनी ही अधिक वस्तुनिष्ठ होगी। इन सबके साथ अभिलेख-उत्कीर्णन के युग तथा पूर्वापर काल की ऐतिहासिक, राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, शैक्षिक आदि परिस्थितियों का ज्ञान तथा उस क्षेत्र-विशेष से सुपरिचय भी आवश्यक होता है। यहाँ कतिपय उदाहरणों द्वारा अभिलेखों की उद्वाचन सम्बन्धी समस्याओं और पाठभेद के हेतु-भूत प्रत्ययों को समझा जा सकता है।

अक्षरों में उत्कीर्ण होने के कारण शब्द-संरचना में आये विभेद का खारवेल का हाथीगुम्फा अभिलेख महत्त्वपूर्ण उदाहरण है। इस अभिलेख की द्वितीय पंक्ति का अन्तिम तथा तृतीय पंक्ति का प्रारम्भिक भाग, 'संपुंण चतुवीसति-वसो-तदानि वधमानसेसयोवनाभिविजयो ततिये कलिंग राजवंसे पुरसियुगे महाराजाभिसेचनं पापुनाति'[1] इस सन्दर्भ में उद्धरणीय है। यही बात 17वीं पंक्ति के 'राजसि वसूकुल' के बारे में भी कही जा सकती है।[2] जहाँ प्रथम में 'वधमान सेसयोवनाभविजयों'[3] तथा 'वधमान सेसयोवेनाभिविजयों'[4] जैसे दो भिन्न पाठ किये जाते हैं, वहीं, 17वीं पंक्ति के उक्त पाठ को 'राजसिवंसकुल'[5] भी पढ़ा जाता है। यह भेद इस अभिलेख पर क्रमश: पौराणिक प्रभाव देखने, न देखने वाले उद्वाचकों के पाठ का परिणाम है। सामान्य भाव वाले इसे जहाँ यौवन के शेष समय को विजयों से अभिवर्धित करने जैसे अर्थ के निमित्त 'वधमानसेसयोवनाभिविजयो' पढ़ते हैं, वहीं पौराणिक प्रभाव मानने वाले 'पौराणिक शासक राजा वेणु की तरह विजयों से सम्वर्धित करने' के अर्थ में उद्वाचित 'वधमान सेसयोवेनाभिविजयो' जैसा उद्वाचन करते हैं। इसी प्रकार पौराणिक प्रभाव में राजर्षि वसुराज उपरिचर के कुल का मानने के लिए 'राजसि वसूकुल' जैसा पाठ किया जाता है। पौराणिक प्रभाव न मानने वाले इसे 'राजसि वंसकुल' पढ़ने के पक्षधर हैं और खारवेल को राजर्षि वंश का मानते हैं।

जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है कि ये प्राचीन अभिलेख संयोग

से ही पूर्ण सुरक्षित मिलते हैं। प्राय: क्षतिग्रस्त एवं घिसे-पिटे अभिलेखों की ही बहुलता है। अत: उनके पाठ में अनुमान का सहारा लेना पड़ता है और स्वोपज्ञ अध्याहार करना पड़ता है। इनके उद्वाचन में आग्रहपूर्ण पाठ-निर्धारण की कल्पना को बल मिलता है। इस संबंध में खारवेल के हाथीगुम्फा अभिलेख, समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति, स्कन्दगुप्त के भीतरी स्तम्भलेख आदि के कतिपय अंश प्रतिनिधि उदाहरण कहे जा सकते हैं। इन अभिलेखों के क्षतिग्रस्त अंशों की विद्वान् अलग-अलग ढंग से तत्कालीन राजनीतिक सांस्कृतिक परिस्थितियों के आलोक में स्वयं की मंशा के अनुरूप सतर्क पूर्ति करते हैं—

1. खारवेल के हाथीगुम्फा अभिलेख की पंक्ति 8 के–'एतिनं च कंमपदान संनादेन....सेनवाहने विपमुंचितुं मधुरं अपयातो यवन रा.....मि'.....

अर्थात् इस प्रकार के कार्य-सम्पादन के समाचार से भयभीत यवन रा....मि....मथुरा भाग गया। इस अंश में आये....मि.... को यवनराज मानते हुए नष्ट अंश की पूर्ति करने के प्रयास में 'दिमित' अथवा 'दिउमिद' पढ़ा गया है।[6] यह पाठ इस अभिलेख की तिथि को द्वितीय शती ईसापूर्व के प्रथम चरण का मानने के अनुकूल है। किन्तु यहाँ यह उल्लेखनीय है कि प्रथम तो यवनराज दिमित के मगध पर आक्रमण की बात अन्य साक्ष्यों से समर्थित नहीं है। दिउमिद के समय में तो यवन सत्ता अवसान पर थी अत: उसके द्वारा मगध तक आक्रमण का अनुमान कठिन है। दूसरे इस अभिलेख को लिपि आदि के आधार पर इसे द्वितीय शती ईसा पूर्व का नहीं माना जा सकता।

परमेश्वरी लाल गुप्त इस अभिलेख को प्रथम शती ई.पू. के अन्तिम चरण अथवा प्रथम शती ई. का प्रारम्भिक चरण मानते हुए यवनराज को शाब्दिक अर्थ में यवन शासक न मानते हुए विदेशी आक्रान्ताओं के अर्थ में ले इस अंश को 'यवनरा.....विमिक' पढ़ा है। अत: इसे कुषाण शासक विमकदफिस से अभिन्न मानना चाहिए। कुषाण-केन्द्र के रूप में मान्यता प्राप्त स्थल मथुरा लौटने से इस प्रकार के अभिज्ञान की संगति भी बैठती है।[7]

2. इसी प्रकार समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति की पंक्ति[8] के एक अंश के तीन पाठ भेद 'आयर्येहीत्युपगुह्य' 'आयर्योहीत्युपगुह्य'[9] 'ऐह्येहीत्युपगुह्य'[10] है। प्रथम द्वितीय पाठ जहाँ चन्द्रगुप्त द्वारा 'समुद्रगुप्त को तुम श्रेष्ठ हो' 'ऐसा कह आलिंगन किया गया' वहीं तृतीय 'आओ आओ कह आलिंगन किया गया' जैसे अर्थ में निर्धारित किया गया।
3. नष्ट अंश के स्थान पर स्वोपज्ञ अध्याहार में राजनीतिक क्षितिज प्रभावित उदाहरण की दृष्टि से स्कन्दगुप्त का भीतरी अभिलेख महत्त्वपूर्ण उदाहरण

कहा जा सकता है। इस अभिलेख के चौथे श्लोक की द्वितीय अर्धाली की प्रथम पंक्ति के नष्ट अंश का सरकार ने समुदितबलकोशान [पुष्यमित्रांश्च] [जि]त्वा[11] दिवेकर ने [युध्यमित्रांश्च] [जि]त्वा[12] तथा सोहनी ने [राष्टमित्राणि] [यक] त्वा[13] पढ़ा है। इन सबके अपने-अपने निहितार्थ हैं। जहाँ प्रथम से आशय पुष्यमित्र जनों को जीतने से लिया जाता है वहीं दूसरे का युद्ध में आये शत्रुओं को जीतने से लिया जाता है। तीसरे का आशय प्रजा एवं मित्रों की सहायता से बल और कोश प्राप्त करने से है। सोहनी के इस पाठ को परमेश्वरी लाल गुप्त ने भी स्वीकार किया है और यही अपेक्षाकृत अधिक प्रासंगिक भी लगता है।[14]

4. भ्रष्ट पाठ के भी अनेक उदाहरण मिल जाते हैं। इस प्रसंग में प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्त्व अध्ययनशाला, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन में संरक्षित एवं खंडित प्रस्तर अभिलेखांश उद्धृत किया जा सकता है।

निर्वाणनारायण उपाधिधारी परमार शासक नरवर्मा के इस अभिलेख की प्रथम पंक्ति के एक अंश को 'साकेतोपवनावनीषुकरणा' के रूप में उद्घाचित किया गया है।[15] जबकि यह 'साकेतोपवनावनीषुकेलि' है और इस पाठ से 'उपवनों की शृंखला से सम्पन्न साकेत में क्रीड़ा का' जैसा अर्थ भी प्रासंगिक हो उठता है।

अक्षरों से शब्द एवं शब्दों से वाक्य-निर्माण में सतर्कता की अपेक्षा होती है। कुछ अंश के नष्ट हो जाने पर उद्घाचनकर्ता के लिए चुनौती और अधिक बढ़ जाती है। नागनिका के नाणेघाट अभिलेख का इस प्रसंग में उदाहरण दिया जा सकता है। ब्राह्मी लिपि एवं प्राकृत भाषा में उत्कीर्ण इस अभिलेख के अनेक अक्षर एवं अंश क्षतिग्रस्त हो गए हैं। इससे इस लेख के प्रारम्भिक अंश के वाक्य के प्रारम्भ और अन्त के निर्धारण में मतभेद हैं। यथावश्यक अक्षरों, पदों, शब्दों का अध्याहार कर पूरित [ऊँ सिधं नमो प्रजापति] नो धंमस नमो ईदस नमो संकसन वासुदेवान चंदसूरान [महि] मा [व] तानं चतुनं च लोकपालानं यम-बरुन-कुबेर वासवानं नमो कुमारवरस [वेदि] सिरिस.....

इस अभिलेख के अक्षर बहुत घिस चुके हैं और कुछ नष्ट हो चुके हैं। कोष्ठ में दिए गए अक्षर नष्ट हो चुके हैं, किन्तु उनमें से अनेक के ब्यूलर के पाठ के समय सुरक्षित होने की संभावना की जाती है। यथा 'नमो प्रजापति'।[16] इसी प्रकार वेदि को कृष्ण शास्त्री ने 'खद'....पढ़ा है।[17] ब्यूलर द्वारा उद्घाचित 'चन्दसूतानां'[18] को 'चन्दसूरानं'[19] पढ़ा जाता है। ये सभी पाठ तत्कालीन राजनीतिक, सांस्कृतिक क्षितिज के ज्ञान के प्रकाश में दृष्टि-प्रेरित हैं। वाक्य-निर्माण में भी इसी प्रकार की

विविधता है। ब्यूलर देवताओं के नमस्कार के साथ प्रारम्भ प्रथम वाक्य का अन्त 'नमो कुमारवरस वेदिसिरिस' के साथ मानते हैं और 'श्रेष्ठ राजकुमार वेदश्री को नमस्कार' अर्थ करते हैं।[20] रेप्सन नमो शब्द को पूर्ववर्ती षष्ठी विभक्तियुक्त संज्ञा के साथ संलग्न करते हुए 'वासवानं नमो' के साथ इसका अन्त मानते हैं और 'कुमारवरसवेदिसिरिस' के साथ दूसरे वाक्य का प्रारम्भ।[21] मिराशी ने नमो शब्द देवताओं के नाम के पूर्व प्रयुक्त होने की परम्परा का स्मरण कराते हुये इस वाक्य का अन्त 'नमो कुमारवरम्' अर्थात स्वामि कार्तिकेय को नमस्कार के साथ मानते हैं।[22] मेरी दृष्टि में यही पाठ युक्तिसंगत भी है।

भाषा सम्बन्धी ज्ञान की आवश्यकता की दृष्टि से, उल्लेखनीय है कि उद्वाचक का दायित्व होता है कि उसे भाषा-शास्त्रीय ज्ञान के आधार पर शुद्ध पढ़े और अभिधा, व्यंजना और लक्षणा पद्धति को ध्यान में रखते हुए सुसंगत अर्थ करे। इस दृष्टि से स्वयं अशोक के अभिलेखों का उदाहरण दिया जा सकता है। जिनमें 'र' युक्त संयुक्ताक्षर-निर्माण की व्यवस्थित विधा का पालन नहीं हुआ है। यथा 'भुतप्रुव', 'ध्रममहमत्र', 'सव्रप्रषंडेषु' आदि[23], जिन्हें क्रमशः भूतपूर्व, धर्ममहमत्र, सर्वप्रषंडेषु आदि के रूप में देखना चाहिए।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचित विविध आभिलेखिक उद्धरणों से स्पष्ट है कि अभिलेखों के पाठोद्धार में लिपि, भाषा एवं तत्कालीन ऐतिहासिक परिदृश्य से सुपरिचय अपरिहार्य है। इसी प्रकार उद्वाचन के समय पूर्वाग्रविमुक्त दृष्टि की अपेक्षा होती है अन्यथा अर्थ के अनर्थ हो जाने की सम्भावना बनी रहती है।

सन्दर्भ :

1. डी.सी. सरकार, *सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस*, जिल्द 1 दिल्ली, 1993, पृ. 214
2. बी.एम. बरुआ, *ओल्ड ब्राह्मी इंस्क्रिप्शंस*, नं. 1, इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली, पृष्ठ 261 और आगे
3. बरुआ, वही, 261 और आगे देखें, श्रीराम गोयल, *प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह*, भाग 1 जयपुर, 1982 पृ. 365
4. डी.सी. सरकार, *सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस*, जिल्द 1 दिल्ली, 1993, पृ. 214
5. वही, पृ. 219
6. के.पी. जायसवाल, *जर्नल ऑव बिहार एण्ड ओडीसा रिसर्च सोशायटी*, जिल्द 3, पृ. 425 और आगे, जिल्द 4, पृ. 364 और आगे, जिल्द 13, पृ. 221 और आगे। के.पी. जायसवाल एवं आर.डी. बनर्जी, *इपिग्राफिया इण्डिका*, जिल्द 20, पृ. 72 और आगे, स्टेन, कोनो, एक्टा ओरिएण्टालिया, जिल्द 1, पृ. 12, ए.के. नारायण, द *इण्डोग्रीक्स* पृ. 42-43.

7. परमेश्वरी लाल गुप्त, *प्राचीन भारत के प्रमुख अभिलेख*, खण्ड 1, वाराणसी, 1979, पृ. 104 और आगे।
8. परमेश्वरी लाल गुप्त, वही, खण्ड 2, 2002, पृ. 8.
9. जॉनफेथफुल फ्लीट, *कॉरपस इंस्क्रिप्शनम् इण्डिकेरम्* जिल्द 3 वाराणसी, 1970, पृ. 6
10. डी.सी. सरकार, वही, पृ. 263
11. देखें फ्लीट, वही पृ. 54, सरकार, वही पृ. 322
12. एच.आर. दिवेकर, *अनल्स ऑव भण्डारकर रिसर्च इंस्टिट्यूट*, 1 पृ. 89
13. एस.वी. सोहनी, जर्नल ऑव बिहार रिसर्च सोसाइटी, 43, 1997, पृ. 98
14. परमेश्वरी लाल गुप्त, वही, खण्ड 2, पृ. 160, ए.के. मित्तल, द *इंस्क्रिप्शंस ऑव द इम्पीरीयल परमारस*, अहमदाबाद, 1979, पृ. 179-80
15. जे.एन. दुबे एवं भगवती लाल पुरोहित, *भारतीय अभिलेख*, (पद्मश्री स्व. विष्णु श्रीधर वाकणकर द्वारा संकलित-वाचित अभिलेख) उज्जैन, 2002, पृ. 80
16. जार्ज ब्यूलर, *आर्क्यालॉजिकल सर्वे ऑव वेस्टर्न इण्डिया*, जिल्द 5, पृ. 60 और आगे, पृ. 86 और आगे
17. कृष्ण शास्त्री, *आर्क्यालॉजिकल सर्वे ऑव वेस्टर्न इण्डिया*, एनुवल रिपोर्ट, 1923-24, पृ. 88
18. ब्यूलर, वही
19. सरकार, डी.सी. वही, पृ. 193
20. व्यूलर, वही
21. रेप्सन, कैटलॉग, पृ. 45-46
22. वी.वी. मिराशी, *जर्नल ऑव न्यूमिसमेटिक सोशायटी ऑव इण्डिया*, वाल्यूम 14, पृ. 26
23. देखें, पंचम दीर्घज्ञापन, मानसेहरा, परमेश्वरी लाल गुप्त, *भारत के प्रमुख अभिलेख*, 1931, 1979 वाराणसी, पृ. 21. आदि

प्रो. सीताराम दुबे
उच्चानुशीलन केन्द्र
प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-221005

❑❑❑

पौराणिक आख्यानों एवं लोककथाओं में किन्नर विमर्श

• डॉ. निशा यादव

सारांश :

भारतीय संस्कृति अथवा समाज का वर्तमान स्वरूप उस महासागर की तरह है जिसमें विविध नदियों का जल समाहित होकर एक हो जाता है। विविध धर्मों, जातियों, बोलियों और वर्गों को अपने में समाहित करने वाले भारतीय समाज के इतिहास पर दृष्टिपात करें तो पौराणिक काल से ही किन्नरों का अस्तित्व समाज में विद्यमान रहा है। वैदिक अथवा पौराणिक काल में तृतीय प्रकृति के रूप इनकी पहचान मिलती है। रामायण, महाभारत तथा मनुस्मृति में भी इनके अस्तित्व के प्रमाण मिलते हैं। पौराणिक आख्यानों के समानांतर लोककथाओं की परम्परा में भी किन्नरों का वर्णन मिलता है। 'परम्पराओं का तिथि-निर्धारण निश्चयपूर्वक नहीं किया जा सकता, किंतु उनके भीतर जो सत्य गूंजता है, वही जातियों का वास्तविक इतिहास होता है।'[1]

तुलसीदासकृत रामचरितमानस तथा सूरदास द्वारा रचित सूरसागर में किन्नरों का वर्णन मिलता है। प्राचीनकाल से लेकर वर्तमान काल तक किन्नरों के आगमन को मांगलिक कार्यों में शुभ माना जाता है। तुलसीदास तथा सूरदास दोनों ने ही राम तथा कृष्ण के जन्मोत्सव पर किन्नरों के मंगलगान का वर्णन किया है। हिन्दू, मुस्लिम, जैन तथा बौद्ध तथा अन्य सभी धर्मों में इन्हें ईश्वर की संतान माना जाता है। किन्नर समाज हिन्दू देवताओं के साथ-साथ 'बहुचरा देवी' जिसकी सवारी मुर्गी होती है तथा अर्जुन पुत्र 'अरवान' की पूजा करते हैं। पौराणिक काल से लेकर वर्तमान समय किन्नरों के अस्तित्व को नकारा नहीं जा सकता है।

संकेताक्षर:—किन्नर, पौराणिक, विद्याधर, कन्नौर प्रदेश, दन्तकथाएं, स्त्रियोचित, सुत्तपिटक, कूथाण्डावार महोत्सव, बहुचरा देवी, यूनेस्को, विश्वधरोहर।

किन्नर या हिजड़ा

प्राचीनकाल से ही हिजड़ों या तृतीयलिंगियों की उपस्थिति के प्रमाण पर्याप्त मात्रा में इतिहास में मिलते हैं। कालान्तर में इनके लिए 'किन्नर' शब्द का प्रयोग होने लगा जो वर्तमान समय में भी इस समुदाय विशेष के लिए आम जनमानस के बीच काफी प्रचलित है। लेकिन समीक्षात्मक अध्ययन के बाद दोनों शब्दों में अर्थ भिन्नता देखने को मिलती है। 'किन्नर' शब्द की अगर बात करें तो यह हिमाचल प्रदेश के कन्नौर प्रदेश में रहने वाली जनजाति के लिए प्रयुक्त होता है। राहुल सांकृत्यायन ने अपनी पुस्तक 'किन्नर देश में' में इस प्रदेश की भौगोलिक स्थिति के साथ ही यहां के निवासियों के लिए 'किन्नर' शब्द का प्रयोग किया है। 'यह किन्नर देश है। किन्नर के लिए किंपुरुष शब्द भी संस्कृत में प्रयुक्त होता है। ....किन्नर उपदेवताओं की सूची में सम्मिलित है।[2] चन्द्रभागा (चनाब) नदी के तट पर आज कहीं कन्नौरी-भाषा नहीं बोली जाती, किन्तु सुत्तपिटक के 'विमानवत्थु' में लिखा है 'चन्द्रभागानदीतीरे अहोसिं किन्नरी तदा' जिससे स्पष्ट है कि पर्वतीय भाग के चनाब के तट पर उस समय किन्नर रहा करते थे।'[3] महाभारत और रामायण जो भारतीय संस्कृति के आधार ग्रंथ हैं दोनों ही हमारे सामने प्राचीन जातीय-इतिहास का विवरण प्रस्तुत करते हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने निबंध संग्रह 'आलोक पर्व' में नगाधिराज हिमालय के महत्त्व का वर्णन करते हुए इसके पाद प्रदेश में बसने वाली जातियों में यक्ष, गंधर्व, नाग, विद्याधरों के साथ-साथ किन्नरों के निवास करने को भी वर्णित किया है। महाभारत के सभापर्व और वनपर्व में हिमालय के आंचल में बसी विभिन्न जातियों का उल्लेख देखने को मिलता है, जिसका आभास आज भी प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से हमारी संस्कृति में परिलक्षित होता है। 'रामायण और महाभारत में हिमालय के उत्तर में स्थित देशों और जातियों की भी चर्चा है। वह हमारा मात्र प्रहरी नहीं है, हमारी अन्तरात्मा का अभिन्न अंग भी है, नर-नारायण की तपोभूमि है, यक्ष-किन्नर-गन्धर्व-विद्याधरों का निवास है। .....सभा पर्व में तुषारों, क्रचिकों, विद्याधरों, किन्नरों, खस्ते, काम्बोदों आदि का विस्तारपूर्वक उल्लेख है।'[4] पौराणिक आख्यानों एवं क्लासिकल रचनाओं में इनको देव-योनि मानने के पीछे इनका मैत्रीपूर्ण व्यवहार, स्वच्छंद एवं उदार जीवनवृत्ति, कला और संगीत प्रेम ही परिलक्षित होता है।' नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा 12 खण्डों में प्रकाशित हिंदी विश्व कोश (1963) के तीसरे खण्ड पृष्ठ 9 पर किन्नर की जो व्याख्या दी गई है वह इस प्रकार है–किन्नर हिमालय में आधुनिक कन्नौर प्रदेश के पहाड़ी, जिनकी भाषा कन्नौरी, गलचा, लाहौरी आदि बोलियों के परिवार की है।'[5] इससे स्पष्ट है कि किन्नर हिमालयप्रदेश में निवास

करने वाली एक जाति है जिसका वर्णन रामायण तथा महाभारत में भी मिलता है लेकिन वर्तमान समय में 'किन्नर' शब्द जननेन्द्रियों से हीन उस वर्ग का पर्याय बन गया है जिसे उर्दू या हिंदी में हिजड़ा, गुजराती में पवैय्या, फारसी में ख़्वाजासरा, पंजाबी में खुसरा तथा अंग्रेजी में युनक (enuch) कहा जाता है ज़ाहिर है कि शारीरिक रूप से अक्षम लोगों के लिए अर्थात् नपुंसक के लिए 'किन्नर' शब्द का प्रयोग करने के कारण हिमाचल प्रदेश के किन्नौर वासियों ने इसका काफी विरोध भी किया है क्योंकि इस आधार पर किन्नर और हिजड़े में फर्क होता है। किन्नर शारीरिक रूप से पूर्ण एवं सामान्य व्यक्ति होता है। 'अगर हम थोड़ा ध्यान उनकी शारीरिक संरचना पर दें तो यह देखना असंभव नहीं है कि किन्नरों से पुराण लेखकों का तात्पर्य उत्तर भारत के पर्वतीय प्रदेश में रहने वाले मंगोल नस्ल के पीत वर्ण लोगों से है, जिनमें स्त्री-पुरुष का भेद शारीरिक एवं परिस्थितिजन्य विशेषताओं के कारण आसानी से न किया जा सके, कहा जा सकता है बाद में इसी विशेषता ने स्थूल अर्थ ले लिया होगा एवं कोई भी स्त्री या पुरुष जिसकी स्पष्ट पहचान उसके लैंगिक हावभाव एवं रुचियों के आधार पर अस्पष्ट हो उसे 'किन्नर' कहा जाने लगा होगा।'[6] वैदिक काल में किन्नरों के उल्लेख की चर्चा करें तो शतपथ ब्राह्मण तथा भारवि के प्रसिद्ध ग्रन्थ **किरातार्जुनीयम महाकाव्य** में भी इनका वर्णन मिलता है। 'महाकवि भारवि ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ किरातार्जुनीयम महाकाव्य के हिमालय वर्णन खण्ड (पांचवा सर्ग, श्लोक 17) में किन्नर, गंधर्व, यक्ष तथा अप्सराओं आदि देव-योनियों के किन्नर देश में निवास होने का वर्णन किया है। वायुपुराण में महानील पर्वत पर किन्नरों का निवास बताया गया है।'[7]

पौराणिक आख्यानों एवं लोककथाओं में किन्नर

पौराणिक आख्यान, कथाएं, दन्तकथाएं, लोककथाएं तथा जातक कथाएं ये विभिन्न विधाएं भारतीय साहित्य की अपनी समृद्ध संपत्ति है। भारतीय साहित्य की यह विशेषता विभिन्न युगों और भाषाओं में अभिव्यक्ति पाती हुई वर्तमान रूप में पहुंची है। पुराण भारतीय संस्कृति के प्राण कहे जा सकते हैं जिनमें पुरातन अथवा अतीत के तथ्यों, नीतियों तथा नियमों के विवरण के साथ-साथ परम्परागत वृत्तांतों, कहानियों, कथाओं तथा राजाओं की वंशावली का वर्णन तक मिलता है। इसी कड़ी में अगर हम किन्नरों की बात करें तो इन पौराणिक कथा-आख्यानों में इनकी उपस्थिति को नकारा नहीं जा सकता है। शतपथ ब्राह्मण, वायुपुराण तथा भारवि के किरातार्जुनीयम में किन्नर शब्द का

प्रयोग किस अर्थ में हुआ है इसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं लेकिन वर्तमान समय में किन्नर जो कि हिजड़े का पर्याय माना जाता है, के रूप में इसका मूल हमें रामायण तथा महाभारत से मिलता है लेकिन बीज रूप में हम इसके प्रमाण पुराणों में उल्लेखित मनु और श्रद्धा के प्रसंग में देख सकते हैं। प्रभाकर क्षोत्रिय के मिथकीय नाटक 'इला' के वर्ण्य-विषय का आधार यही प्रसंग है। पुराणों के अनुसार जब मनु और श्रद्धा को संतान उत्पन्न करने की इच्छा हुई तो वशिष्ठ ऋषि से यज्ञ करवाया गया। श्रद्धा पुत्री को जन्म देना चाहती थी तथा मनु पुत्र को किंतु कन्या उत्पन्न हुई। बाद में वशिष्ठ ऋषि ने उसे पुत्र बना दिया जिसका नाम सुद्युम्न पड़ा। सुद्युम्न का विवाह धर्मदेव की पुत्री सुमति से हुआ परन्तु सुद्युम्न में स्त्रियोचित गुणों की अधिकता रहती है। युवा सुद्युम्न शिकार के दौरान एक बार अभिशप्त वन में पहुंच जाते हैं वहां वे युवती बन जाते हैं और उनका नाम इला पड़ा। इला का विवाह बुध से होता है लेकिन वशिष्ठ द्वारा उसे फिर से सुद्युम्न बना दिया जाता है। राजा मनु प्रकृति के साथ खिलवाड़ करते हैं। वह अपनी पुत्री को रासायनिक क्रिया द्वारा पुत्र बनाना चाहता है। वह जानता है कि इला का शरीर तो पुरुष का है परन्तु उसकी आत्मा स्त्री की। इसीलिए मनु कहता है'अपनी विसंगतियों को लेकर वह वैसे भी प्रजा में उपहास का पात्र है। उस जैसा आधा पुरुष मनु का उत्तराधिकारी नहीं हो सकता।'[8]

रामचरितमानस में किन्नरों को लेकर जो कथा मिलती है वह इस प्रकार है कि जब राम चौदह वर्ष के वनवास के दौरान चित्रकूट गए तो, वहां भरत उन्हें अयोध्यावासियों सहित वापस अयोध्या लाने के लिए गए थे। भरत के अनुनय-विनय के बाद भी राम ने भरत सहित सभी स्त्री-पुरुषों को वापस अयोध्या जाने के लिए कहा—

'जथा जोगु करि विनय प्रणामा।
विदा किए सब सानुज रामा।
नारि पुरुष लघु मध्य बड़ेरे।
सब सनमानि कृपा निधि फेरे।'[9]

लेकिन राम ने किन्नरों के बारे में कुछ नहीं कहा जबकि वे वहां मौजूद थे। अत: किन्नर समुदाय ने चौदह वर्षों तक वहीं बैठकर उनकी प्रतीक्षा की। वनवास के पश्चात् जब राम अयोध्या लौटे तो उन्होंने किन्नरों को वहीं प्रतीक्षारत पाया। भगवान राम के कारण पूछने पर किन्नरों ने बताया कि आपने सिर्फ स्त्री और पुरुषों को ही वापस जाने के लिए कहा था। हमारे बारे में कुछ नहीं कहा। अत: हम कहीं नहीं गए। 'भगवान राम किन्नरों के कथन से बहुत प्रभावित हुए और

प्रसन्न होकर किन्नरों को वरदान दिया कि जब पृथ्वी पर कलियुग आएगा, तब तुम लोग राज करोगे।'[10]

महाभारत में काशीराज की पुत्री 'अम्बा' प्रतिशोध हेतु अपने दूसरे जन्म में 'शिखण्डीनी' के रूप में भीष्म की मृत्यु का किस प्रकार कारण बनती है, यह प्रासंगिक कथा तत्कालीन समय में किन्नरों की उपस्थिति बयां करती है। साथ ही वर्तमान समय में यह समुदाय अपनी प्रचलित पूजा-पद्धति के द्वारा स्वयं को महाभारत के पात्रों से जोड़कर व्याख्यायित करता है। इसकी झलक हमें 'कूथाण्डावार महोत्सव' में मिलती है। किन्नरों को लेकर एक कथा आती है जो इस प्रकार है कि पांडवों को कुरुक्षेत्र युद्ध में अपनी विजय सुनिश्चित करने के लिए वीर योद्धा की बलि मां काली को देनी होती है। इस अवसर पर नागकन्या उलूपी तथा अर्जुन का पुत्र 'अरवान' स्वयं की बलि हेतु सामने आते हैं परन्तु बलि देने से पूर्व उसकी किसी सुंदर स्त्री से विवाह करने की इच्छा हेतु भगवान कृष्ण स्वयं 'मोहिनी' का रूप धारण कर अरवान से विवाह करते हैं। किन्नर समुदाय आज भी अर्जुन-पुत्र अरवान की पूजा करता है।

'तमिलनाडु के विल्लुपुरम जिले के कूवांगम गांव के कूथाण्डावार मंदिर परिसर में प्रत्येक वर्ष अप्रैल-मई माह में अट्ठारह दिन 'कूथाण्डावार महोत्सव' मनाया जाता है, जिसमें सम्मिलित होने के लिए देश-विदेश से हजारों की संख्या में किन्नर पहुंचते हैं। सारे किन्नर अरवान देवता से विवाह रचाते हैं, रात भर नाच-गाना होता है और अगले दिन सुबह-सवेरे अरवान के बलि चढ़ने के बाद उनकी मृत्यु का शोक मनाते हैं अपनी चूड़ियां फोड़ते हैं।'[11] चूंकि अर्जुन-पुत्र अरवान शादी के बाद एक रात ही जिन्दा रहे थे। अत: किन्नर इस उत्सव की रात अपने को दुल्हन की तरह सजाते हैं तथा अगली सुबह विधवा होने के शोक में चूड़ियां फोड़ते हैं।

सर्वविदित है कि समाज की मुख्यधारा से कटने के बाद न इनका कोई परिवार होता है, न धर्म होता है, न जाति होती है और न ही कोई गोत्र इसलिए ये लोग आपस में ही बुआ, चाची, नानी, मौसी और बेटी के रिश्ते में बंधे रहते हैं। अत: इसी आधार पर ये समाज के सामान्य त्योहार तथा उत्सवों से उस उत्साह और जोश से नहीं जुड़ पाते जिस तरह से समाज में रहने वाले सामान्य व्यक्ति जुड़ते हैं। यही कारण है कि किन्नर समाज की भी अपनी कुछ औपचारिक रस्में-रिवाजें तथा त्योहार होते हैं जिसमें वो सिर्फ अपनी तरह के लोगों से मिलकर खुशियां साझा करते हैं।

किन्नरों से संबंधित एक और कथा खिलजी वंश से जुड़ी हुई है। यहां यह

भी ध्यातव्य रहे कि अलाउद्दीन खिलजी के शासनकाल में ही मलिक काफूर नामक एक किन्नर वीर योद्धा था जो उच्च-पद पर आसीन था। यह कथा किन्नरों की पूज्या बहुचरा देवी से जुड़ी हुई है। बहुचरा देवी हिंदू तथा मुस्लिम दोनों धर्मों के किन्नरों की पूज्या हैं। 'अलाउद्दीन खिलजी की सेना जब मां बहुचरा देवी के मंदिर को विध्वंस करने पहुंची, तब उसके तमाम सैनिकों ने मंदिर की मुर्गियां खा ली। जब देवी के संज्ञान में यह आया, तब उन्होंने सारी मुर्गियों का आह्वान कर अपने पास बुलाया। देवी के आह्वान करने से सारी मुर्गियां सैनिकों का पेट फाड़कर देवी के समक्ष उपस्थित हुई। उन सैनिकों के प्राण बच गए, जिन्होंने मुर्गियां नहीं खाई थी। वे सारे के सारे जीवित सैनिक देवी के अनुयायी बन गए और देवी की प्रसन्नता के लिए उन्होंने स्त्री वेश धारण कर लिया। मां बहुचरा देवी ने उन्हें किन्नर रूप प्रदान कर उन सभी को अपनी सेवा में ले लिया। ये सारे लोग यद्यपि मुस्लिम थे तथापि देवी की आराधना करने लगे।'[12]

किन्नरों की पूज्या देवी 'बहुचरा' के संदर्भ में भी जनमानस के बीच काफी लोककथाएं व्याप्त हैं जिनके माध्यम से हिजड़ा सम्प्रदाय की उत्पत्ति के कयास लगाए जाते हैं। दोनों ही कथाओं में बहुचरा पुरुष जाति द्वारा देय मानसिक और शारीरिक पीड़ा से त्रस्त हो उन्हें अपने प्रकोप का शिकार बनाती है और इसी के परिणामस्वरूप हिजड़ा सम्प्रदाय का जन्म होता है। पहली लोककथा के अनुसार शादी के बाद बहुचरा का पति रोज रात को घोड़े पर सवार होकर कहीं चला जाता था। एक रात बहुचरा द्वारा पीछा करने पर एक अप्रत्याशित घटना से उसका सामना होता है। वह अपने पति को जंगल में स्त्री के भेष में देख, अपने साथ हुए छल को सहन नहीं कर पाती और आगबबूला हो देवी रूप धारण कर लेती है। पति द्वारा क्षमा-याचना करने पर 'देवी उसे क्षमा कर देती है परन्तु यह घोषणा करती है कि आगे से जो कोई भी पुरुष इन स्त्रैण गुणों का अनुभव करे अपने यौनांग खंडित करे और नारी की वेशभूषा धारण करे। इस प्रकार हिजड़ा सम्प्रदाय का जन्म हुआ है।'[13]

गुजरात में भी देवी बहुचरा को लेकर लोककथाएं जनमानस में व्याप्त हैं। गुजरात में देवी बहुचरा के काफी मन्दिर हैं जिनमें मूर्ति से लेकर यंत्र द्वारा देवी-पूजा का प्रावधान देखने को मिलता है। गुजरात के 'पावागढ़' में देवी बहुचरा की पूजा देवी कालिका के साथ आदिशक्ति के रूप में की जाती है। पावागढ़-चांपानेर मंदिर के नाम से विख्यात यह मंदिर यूनेस्को विश्वधरोहर की सूची में शामिल है। यहां पर प्रचलित लोककथा में देवी के प्रकोप से अत्याचारी पुरुषत्वहीन हो जाते हैं और हिजड़ा सम्प्रदाय यहीं से अस्तित्व में आता है। 'बहुचरा एक कुमारी कन्या के रूप में सामने आती है जो यात्रा में डाकुओं द्वारा

उसके समूह पर आक्रमण करने के कारण अपने सतीत्व की रक्षा हेतु अपने स्तन कटार से काट लेती है। ...डाकू उनके क्रोध से पुरुषत्वहीन हो जाते हैं, इन्हीं से हिजड़ा सम्प्रदाय की उत्पत्ति होती है।'[14]

हिजड़ा सम्प्रदाय के अस्तित्व में आने को लेकर इससे संबंधित लोककथाएं एवं पौराणिक आख्यान जनमानस में भलीभांति रचे-बसे हुए हैं। लोककथाओं एवं परम्पराओं के प्रति लोक का अगाध विश्वास और श्रद्धा उसे दृढ़ता प्रदान करने का कार्य करता है, और यही कारण है कि सहस्त्र वर्षों की यात्रा के पश्चात् भी ये लोककथाएं एवं परम्पराएं अपनी जड़ें जनमानस के बीच मजबूती से गड़ाए हुए हैं। परन्तु बावजूद इसके, इनके पीछे के वैज्ञानिक कारणों को अनदेखा नहीं किया जा सकता है।

निष्कर्षत: हम देखते हैं कि भारतीय संस्कृति के प्राण कहे जाने वाले पुराणों से लेकर इतिहास तथा लोककथाओं में किन्नरों के बीज-सूत्र मिलते हैं। राम तथा कृष्ण के जन्मोत्सव पर जहां तुलसीदास और सूरदास किन्नरों के मंगलगान का वर्णन मिलता है वो इनके आस-पास दैवीय शक्तियों का परिचायक है जो कि पुराणों में भी वर्णित है। इतिहास में इनकी स्थिति की बात करें तो अलाउद्दीन खिलजी तथा जहांगीर के समय में इनके काफी उच्च पदों पर आसीन होने के प्रमाण मिलते हैं। वर्तमान समय में समाज की मुख्यधारा से कटकर यह समुदाय हाशिये की जिंदगी बसर कर रहा है, जो इनकी दयनीय सामाजिक स्थिति को स्पष्ट करता है। बिना नाम और किसी पहचान के ये लोग शहर की लाल बत्ती पर भीखमांग कर पेट पालने को मजबूर हैं। जन्म और विवाह के अवसरों पर भी ये लोग अपना नेग लेने पहुंच जाते हैं। लोगों द्वारा बिना किसी बहस-बाजी के इनको तुरन्त कुछ देकर जल्दी से जल्दी पीछा छुड़ाने की एक कोशिश रहती है। इसके पीछे लोगों में यह धारणा रहती है कि इनकी बददुआएं बहुत जल्दी लगती हैं जाहिर है आज भी लोग इन्हें समाज की मुख्यधारा से जोड़ने में कतराते हैं।

सन्दर्भ

1. रामधारी सिंह दिनकर : **संस्कृति के चार अध्याय,** लोकभारती प्रकाशन, पहली मंजिल, दरबारी बिल्डिंग, महात्मा गांधी मार्ग प्रयागराज-211001, पृ. सं. 50
2. किन्नर बहुअर्थी शब्द है। 2013 ई. में प्रकाशित हिन्दी थिसारस उपदेवता की सूची संकलित की है जिसमें किन्नर के अतिरिक्त अप्सरा, अर्चिष्मान, भूत, यक्ष, राक्षस, विद्याधर, विद्येश्वर, विमूढ़ एवं सिद्ध सम्मिलित हैं, तुलनीय, *बृहत् समांतर कोश,* सं. अरविन्द कुमार एवं सहायिका कुसुम कुमार, संदर्भ खण्ड, दिल्ली

2013 सन्दर्भ 7।6.21 पृ. 512। द्वितीय अर्थ में किन्नर कई अर्थों में प्रयोग होता है यथा अश्वमुख, किंपुरुष, कुबेरसखा, गायक वादक जाति, तुरंग वंदन, संगीत प्रेमी, गन्धर्व एवं यक्ष, वही, पृ. 516; उपर्युक्त अर्थों के अतिरिक्त हिजड़े के अर्थ में भी उपयोग होता है जिसके लिए कई वैकल्पिक शब्द प्रयोग होते हैं यथा अक्षतवीर्य, अपुरुष, इत्वर, किन्नर, क्लीव, ख़स्सी, ख़ोजा, ख़्वाजा, ख़्वाजासरा, छक्का, ज़नख़ा, जन्नत की चिड़िया, नपुंसक पुरुष, नरदारा, नसकटा, नामर्द, बृहन्नला, शिखंडी, षंड एवं अंतपुरदास आदि वही, पृ. 178।

3. राहुल सांकृत्यायन *किन्नर देश में*, इण्डिया पब्लिशर्स, 333 मोहतशिमगंज, प्रयाग, पृ. सं. 346
4. हजारीप्रसाद द्विवेदी, *आलोक पर्व*, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज नई दिल्ली-110002, पृ. सं. 21-23
5. *जनकृति*, अंतरराष्ट्रीय पत्रिका, प्रकाशन जनकृति (साहित्यिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक संस्था) वर्धा, महाराष्ट्र, अगस्त 2016, पृ. 50
6. लवली गोस्वामी, प्राचीन भारत में मातृसत्ता और यौनिकता, दखल प्रकाशन, दिल्ली, पृ. सं. 98
7. 'आधुनिक सन्दर्भों में इला', संवेद, मार्च 2015, उपर्युक्त, पृ. सं. 50
8. 'आधुनिक सन्दर्भों में इला', संवेद,
9. अयोध्याकाण्ड, रामचरितमानस, टीकाकार–हनुमानप्रसाद पोद्दार, पृ. 611
10. महेंद्र भीष्म, *किन्नर कथा*, पृ. 40
11. वही, पृ. 92
12. महेंद्र भीष्म, *किन्नर कथा*, पृ. 93
13. लवली गोस्वामी, *प्राचीन भारत में मातृसत्ता और यौनिकता*, पृ. 100
14. उपर्युक्त पृ. 101

डॉ. निशा यादव
असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग,
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार, उत्तराखण्ड

❑❑❑

प्रारम्भिक मध्यकाल में स्त्रियों की स्थिति : राजस्थान के अभिलेखीय साक्ष्यों के विशेष संदर्भ में

• डॉ. रजनी शर्मा

इतिहास अतीत का दर्पण होने के साथ ही भविष्य का प्रकाश स्तंभ भी है, और अभिलेख इतिहास निर्माण के प्रमुख साधन है। हाल के वर्षों में भारत के प्राचीन इतिहास लेखन के लिए पुरातत्त्व से प्राप्त साक्ष्यों का उपयोग किया जा रहा है। किसी भी राज्य के इतिहास लेखन तथा राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक व सांस्कृतिक स्थिति का ज्ञान अभिलेखों में उत्कीर्ण विवरणों से सहज ही प्राप्त किया जा सकता है। चूंकि इतिहास को जानने में खण्डहर, मुद्राएं, विदेशी तथा देशी स्त्रोत साहित्य आदि साधन सामग्री सहायक होती है परन्तु अभिलेखों में विषय की स्पष्टता तथा घटनाओं के विवरण की प्रामाणिकता की निश्चित अभिव्यक्ति पायी जाती है, वैसी इतिहास की अन्य पुरातात्विक सहायक शोध सामग्री में विरल ही प्राप्त होती है। यदि अभिलेखों की पुरातत्ववेत्ताओं द्वारा खोज न की जाती तो निश्चय ही भारत अपने अतीत के गौरव तथा कई अनछुएं पहलुओं से वंचित रह जाता। अभिलेख इतिहास के साधन है, वैज्ञानिक इतिहास की प्रक्रिया एवम् सतत् गतिशील सत्य के शोध की प्रक्रिया है।

प्रस्तुत शोध पत्र में राजस्थान क्षेत्र विशेष के अभिलेखों में स्त्रियों से सम्बन्धित विवरणों को एकत्रित करने का प्रयत्न किया गया है तथा इन विवरणों के आधार पर नारी स्थिति पर प्रकाश डाला गया है।

इसी संदर्भ में रानी जयावती का बुचकलां (धंगक ग्राम) अभिलेख (वि.सं. 872) जो बिलाड़ा क्षेत्र, जोधपुर से प्राप्त है, इसके अन्तर्गत प्रतिहार गोत्रीय श्रीहरिगुप्त के पुत्र भंभुवक की पत्नी के द्वारा परमेश्वर (विष्णु) मंदिर का निर्माण करवाने का उल्लेख है।[1]

महेन्द्रपाल द्वितीय का प्रतापगढ़ अभिलेख विक्रम संवत्, 1003, ई. सं.

946 में वट यक्षिणी देवी के मन्दिर के निमित्त भूमिदान किये जाने का उल्लेख है।[2] यह अभिलेख प्रारम्भिक मध्यकाल में प्रचलित देवी पूजा के साक्ष्य है।

ओसियाँ का (वत्सराज के उल्लेख का) महावीर मन्दिर अभिलेख (वि.सं. 1013-ई.सं. 956) में वणिक शान्त मनाजिन्दक और उसकी साध्वी पत्नी प्रसन्न मुखी-चदुहवरा के धर्मानुरागी पुत्र ने सरोवर संयुक्त भवन बनवाया। उसके दिवंगत होने पर उसकी पत्नी ने इस भवन में दुर्गाप्रतिमा की प्रतिष्ठा की।[3]

रानी संपिका का अभिलेख (वि. सं. 1082) में रानी संपिका जो प्रतिहारवंशीय शुभेच्छु राज की पत्नी थी, उनके द्वारा पति के साथ 'उपगत होने' का सही लेख है।[4]

चाहमान वंशीजा जल्लदेव के सादड़ी और नाडौल अभिलेख में (1090 ई. शती) में देवताओं के विभिन्न उत्सवों में सभी राजकर्मचारियों और साथ में नृत्यांगनाओं को भी सम्मिलित होने का निर्देश दिया गया है तथा इस परम्परा का साधु, वृद्ध या किसी विद्वान द्वारा उल्लंघन वर्जित कहा गया है।[5]

परमार वीसल देव के अभिलेख (वि.स. 1174) में उनकी रानी मेलर देवी द्वारा सिन्धु राजेश्वर के मन्दिर के शीर्ष पर सुवर्ण कलश चढ़ाये जाने का उल्लेख है।[6]

चौहान महाराज रत्नपाल के ताम्रपत्र (वि.स. 1176) में चौहान महाराज पुनः (पूत) पक्षदेव की रानी गिरिजादेवी ने शिव मंदिर बनवा कर एक शिलालेख भी लगवाया था।[7]

बस्सी गाँव के स्तम्भ लेख (वि.स. 1189, ई.स. 1132-33) में चौहान महाराज अजयपाल की मृत्यु व उनकी तीन रानियों के सती होने का उल्लेख प्राप्त होता है, जिसमें मुख्य रानी का सोमलदेवी, दूसरी का नाम (वि)ष्ठल देवी तथा तीसरी का नाम श्रीदेवी के रूप में अंकित है।[8]

इसी क्रम में सती स्मारक लेख मण्डोर के वृहस्पति कुन्ड (पंचकुन्ड) के अभिलेख में भी (वि.सं. 1213) राठौड़ भुवणिग के पुत्र सलखा राव की तीन रानियों 1. सलखादेवी चौहान 2. सांवलदेवी सोलंकिनी और 3. सेजण देवी गहलोत का सती के रूप में नामोल्लेख हुआ है।[9]

महाराजाधिराज अल्हणदेव का खण्डित ताम्रपत्र (द्वितीय खण्डमात्र) (वि. सं. 1215, ई. शती 1148) में भी टलवाड़ा ग्राम के चन्दलेश्वर व त्रिपुरुषदेव के मंदिरों को अनेक दान किये गये। इसमें महाराजअल्हणदेव ने नन्दाना गाँव के स्वकौटुम्बिक उमपोनणाल (पाल) और महणसिंह को त्रिपुरुष देव के लिए

(सेवायें) धर्मशासन के रूप में सेवार्थ दान में दी गयी। इस दान के साथ नर्तकी, नौकर, वांशिक (बंशी बजाने वाला), मॉर्दगिक (मृंदग बजाने वाला) पाणविक (शंख बजाने वाला) आदि की आजीविका निर्वहन हेतु वृत्ति बांधी गयी। महरी शोभिका को उपभोगार्थ पिछवल्ली ग्राम निर्बाध उपभोगार्थ प्रदान किया गया।[10]

नाड़ौल के अश्वराज के पौत्र और कुन्तपाल के पुत्र पूत (न) पक्षदेव और उनकी रानी गिरिजादेवी का रतनपुर अभिलेख (वि.स. 1202 से 1207 के मध्य) में रानी द्वारा राजाज्ञा प्रसारित कर ग्यारस, चौदस, अमावस और अन्य श्रेष्ठ तिथियों को जीव हिंसा का निषेध किया, यह जीव हिंसा के निषेध का धर्मशासन था।[11]

जैन प्रतिमा तोरण-लेख (वि.स. 1219) में श्रेष्ठी सर्वदेव की पत्नी सा. विद्यादेवी ने अपने (श्रेयस) हेतु प्रति मातोरण का निर्माण करवाया।[12]

महाराजाधिराज कुमारपाल के सामन्त चौहान अल्हणदेव के शासन का ताम्र पत्र (वि.सं. 1219) में रानी शंकरदेवी द्वारा करार्पित गौरीदेवी के प्रतिदिन के भोग हेतु चार द्रम्मप्रदान किये गये।[13]

नाडोल के राजपुत्र लखनपाल अभयपाल का लेख (वि.सं. 1233) में कीर्तिपाल देव के पुत्रों लखनपाल व अभयपाल ने रानी श्रीमहिबलदेवी सहित श्री शान्तिनाथ की देवयात्रा के निमित्त पैदावार का भाग ग्राम पंचकुल के समक्ष, पुण्य प्राप्ति हेतुदान किया।[14]

चालुक्य भीमदेव के समय का किरात कुप (किराडू) का अभिलेख (वि.स. 1235) में किरात कूप स्थान पर शिव की मूर्ति को तुरूष्कों ने भग्न कर दिया था, उसे त्रुटित देखकर मंत्री तेजपाल की पत्नी अनुपमादेवी ने उमापति की मूर्ति बनवाकर पुनः प्रतिष्ठित किया। इसके लिये राजा से आज्ञा प्राप्त की गयी तथा दो विशोंपक (ताम्रमुद्रा) तथा दीपदान के तेल भी अनुपमादेवी ने प्रदान किया।[15]

सच्चिका देवी प्रतिमा (जूना बाड़मेर) के अभिलेख वि. सं. 1237 में उपकेशगच्छ की सत्यशील सर्वदेवा नाम की विनयशील शिष्या ने जनसाधारण के कल्याण के लिए सच्चिका माता की प्रतिमा का निर्माण करवाया।[16]

राजकुमारी रूपादेवी का बावली अभिलेख (वि.स. 1340) में चौहान (सोनगरा) समरसिंहदेव के वंश में राजकुमार रूपादेवी ने वि.सं. 1340 में बावड़ी की प्रतिष्ठा करवायी।[17]

राणकपुर के लघु जैनलेख (वि.सं. 1507) में धार्मिक कार्य को सामूहिक रूप से किये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है। इसके अन्तर्गत केल्हा परिवार और सिंघवी भीमा परिवार के व्यक्तियों के नामोल्लेख व प्राप्त होते हैं।

जिसमें भीमा की तीन स्त्रियों-भामिनी, नानलदेवी और पद्मादेवी के नाम उल्लेखित है जो जैनश्रावकों में बहुपत्नी विवाह का उदाहरण प्रस्तुत करता है।[18]

उपरोक्त अभिलेखिकीय साक्ष्यों से प्रारम्भिक मध्यकालीन राजस्थान क्षेत्र में महिलाओं की स्थिति के विभिन्न पक्षों का ज्ञान प्राप्त होता है। सकारात्मक पक्ष को देखने पर यहाँ की रानियों, राजकुमारियों द्वारा बावड़ियों, सरोवर, कूप, मन्दिर निर्माण, मूर्तियों की प्रतिष्ठा, ताम्रमुद्रा व भूमिका दान आदि कल्याणकारी कृत्यों के साक्ष्य प्राप्त होते हैं। दान एवं सामाजिक उत्थान की परम्पराएं मुख्य रूप से धर्म से ही जुड़ी थी। उपरोक्त परमार्थिक कार्यकुलीन वर्ग की स्त्रियों (वणिक वर्ग, शाही परिवार, सामन्त वर्ग, श्रेष्ठी वर्ग) द्वारा किये जाने के अपेक्षाकृत अधिक उदाहरण प्राप्त होते है, परन्तु एक साक्ष्य में उपकेशगच्छ सम्प्रदाय की शिष्या द्वारा भी मूर्ति निर्माण कराया गया। चूंकि कुछ साक्ष्यों में इन कार्यों को सम्पन्न करने में राजाज्ञा अथवा पंचकुल की सहमति की आवश्यकता के प्रसंग भी मिले है। अर्थात् राजपरम्परा से इतर मन्त्रियों की पत्नी तथा सामान्य स्त्रियों द्वारा भी दानकृत्य के साक्ष्य उपलब्ध होते हैं। यहाँ के साक्ष्यों में राजपरम्पराओं के साथ सांस्कृतिक धार्मिक व नैतिक पक्ष से जुड़े होना इस क्षेत्र के धर्मानुशासन को दर्शाता है तथा यहाँ जैन, शैव, वैष्णव व दैवी पूजा के अस्तित्व को परिलक्षित करता है।

उपरोक्त अभिलेखिकीय साक्ष्य स्त्रियों की समाज में नकारात्मक स्थिति को भी उजागर करते है, साक्ष्यों से देवदासीप्रथा, सतीप्रथा, बहुपत्नी विवाह, वैश्याप्रथा आदि सामाजिक बुराइयों के अस्तित्व की भी प्रारम्भिक मध्यकाल में पुष्टि होती है। इस काल में स्त्रियों का एक वर्ग जो मन्दिरों के देवताओं की सेवा में नियुक्त था, वे देवदासी कहलाती थी इनका मुख्य कार्यदेव मन्दिरों में नृत्यगान करना था, इस प्रथा को राजाओं एवं उच्च वर्ग का पूर्ण समर्थन प्राप्त था। वे स्वयं मन्दिरों के विभिन्न उत्सवों और मनोरंजन में सम्मिलित होते थे तथा इनके कार्यक्रमों को मनोयोग से देखते थे।

डॉ. अल्ते कर के अनुसार 'इस प्रथा का प्रचलन प्राय: छठी सदी में हुआ।'[19]

हर्षनाथ प्रशस्ति में भी कई कन्याओं को मन्दिर में प्रदान किये जाने का उल्लेख है।[20]

अभिलेखों से देवदासियों और वेश्याओं को भूमिदान किये जाने एवं उन पर करारोपण का संकेत मिलता है। बारहवीं सदी के एक चाहभान अभिलेख में उल्लेख मिलता है कि किसी राणक ब्राह्मण ने एक देवदासी को देशबंध नामक कर से मुक्त कर दिया था।[21]

इस प्रथा को शासकों द्वारा आश्रय देने से सामाजिक व्यवस्था को हानि पहुँची,

जिनदेव मन्दिरों में जाकर मनुष्य आत्मिक शान्ति चाहता था, सांसारिकता से परे ईश्वर की उपासना करता था, उन्हीं देवालयों में देवदासियों के श्रृंगार परक कृत्यों द्वारा मनुष्य की भावनायें उद्वेलित होने लगी, देवपूजन के स्थान पर मनुष्य काम पूजा की तरफ उन्मुख होने लगा, ये काम मन्दिर में परिणित होने लगे, जिस सेना केवल समाज वरन् राष्ट्र के प्रति भी लोगों की चेतना क्षीण होने लगी, कालान्तर में विदेशी आक्रमणों ने भारत को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया।

इसी प्रकार सती प्रथा जैसी सामाजिक बुराई अपनी जड़ें जमा चुकी थी, इसका अस्तित्व यहां के साक्ष्यों में दृष्टिगत होता है, पूर्व मध्यकाल में सती प्रथा जैसी सामाजिक बुराई अपनी जड़ें जमा चुकी थी, इसकाल में विधवा नारी के लिये दो मार्ग थे। प्रथम तो सती हो जाना और दूसरा ब्रह्मचर्यपालन। सती होने के दो रूप थे पहला सहगमन या अन्वारोहण और दूसरा अनुमरण। पति की मृत्यु पर पति के शव के साथ जल जाने को सहगमन या अन्वारोहण कहा गया है तथा पति की कहीं अन्य जगह मृत्यु होने पर उसकी भस्म या पादुका लेकर पत्नी अग्नि में प्रवेश कर अपने प्राण त्याग देती है। उसे अनुमरण कहा गया है।[22]

इसी की समरूपता में राजस्थान व गुजरात में वीरगल अर्थात् वीर पुरुषों तथा स्त्रियों की स्मृति में स्थापित पत्थर के स्मारक प्राप्त हुये हैं। बारहवीं सदी से राजस्थान तथा गुजरात के कुछ हिस्सों में वीरगल एवं सती स्मारक अधिक आम हो गए। यद्यपि उनमें से बहुतों का संबंध बाजब्ता किए गये युद्धों से था। राजस्थान में शिलाओं पर अंकित अभिलेखों में कभी-कभी नामों के भी उल्लेख होते थे और कुछ में घटना की तिथि का जिक्र होता था। वीरगल से ही जुड़ा हुआ था सती स्मारक। आमतौर पर यह एक शिला पट्ट हुआ करता था। जिसमें सती का सामान्य प्रतीक लक्षित होता था—चूड़ियों से युक्त दाहिनी भुजा उसके विवाह के जारी रहने का प्रतीक था, हथेली पर अशुभ निवारक नींबू रखा जाता था। इसके अलावा चिरन्तनता के प्रतीक सूर्य और चंद्रमा उसी तरह चित्रित किये जाते थे। जैसे वीरगलों पर। यह आनुष्ठानिक मृत्यु मूलत: युद्ध में वीरगति को प्राप्त क्षत्रिय की क्षत्राणी पत्नी के लिए विहित की गयी थी। अंत में सती को देवी का रूप दे दिया। सती की मृत्यु एक पूर्वचिंतित कृत्य थी। यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि यह कृत्य हमेशा स्वैच्छिक ही होता था, इसके पीछे सती के परिवार के लोगों द्वारा भौतिक लाभ उठाने की मंशा होती थी।[23]

प्रारंभिक मध्यकाल में स्त्रियों की खासकर उच्चतरवर्गों अथवा नारियों की दासता अपने चरम रूपक में आ जाती है, इस काल में भारत में सामंती मूल्य विकसित हो रहे थे, पुरुषों के द्वारा स्त्रियों पर शासन करना और चल संपत्ति समझना प्रमुख मूल्य हो जाते है, इसी भावना के कारण सती प्रथा का विकास

होता है और प्रसार भी। प्रारम्भिक राजपूत राज्यों में सती स्मारक शिलाएं पायी गयी है इनमें से अधिकांश राजस्थान में पायी गयी है। जौहर की प्रथा दिल्ली सुल्तानों के आक्रमण के साथ शुरू हुयी, इसमें राजपूत राजाओं और सरदारों की पत्नियाँ किले की भीतर स्वयं जलकर मर जाती थी। जौहर शब्द यम गृह अथवा जमघर से निकला है, राजस्थान में शिलाभिलेखों की प्रथा बीसवीं शताब्दी तक जारी रही है। यह प्रथा विशेषकर राजपूतों में प्रचलित थी। परन्तु ब्राह्मणों में भी सती के उदाहरणों का अभाव नहीं है। राजपूत समुदाय के कुलीन व्यक्तियों की अन्त्येष्टि के अवसर पर सेवकों व स्त्रियों को मालिक के साथ जला देने की प्रथा यहाँ प्रचलित रही।[24]

अर्थात् प्रारम्भिक मध्यकाल संक्रमणकाल रहा है, हिन्दू सामाजिक संरचना में नारी अनन्तकाल से संवेदनशील केन्द्र बिन्दु रही है, उसे इस समय पुनर्विवाह, नियोग, सम्बन्ध विच्छेद, विधवा विवाह आदि के अधिकारों से वंचित कर दिया गया, सती-प्रथा ने एक अनिवार्य प्रथा और सामान्य धर्म का स्वरूप ग्रहण कर लिया, प्रशासनिक और राजनीतिक क्षेत्र में वेश्यावृत्ति ने प्रवेश ले लिया। अर्थात् नारी के नैतिक स्तर को निम्न दृष्टि से देखा गया, जिससे बाल विवाह को प्रोत्साहन मिला और अर्न्तजातीय विवाह तथा विधवा विवाह को हतोत्साहित कर दिया गया। स्त्री को पति के चुनाव के अधिकार से भी वंचित कर दिया गया। चूंकि कुलीन वर्ग की स्त्रियों को कई क्षेत्रों में स्वतंत्र स्थिति प्राप्त थी, परन्तु इनके भी स्वतंत्र निर्णयों पर सीमायें साक्ष्यों में परिलक्षित होती है।

प्रारम्भिक मध्यकाल के साहित्यिक साक्ष्यों में स्त्रियों और शुद्रों को समाज का दलित तथा गर्हित अंग कहा गया है। यद्यपि एक आदर्श पत्नी और माता के रूप में उसकी महत्ता पूर्ववत् बनी हुयी थी, परन्तु धर्म और समाज की रक्षा के नाम पर ऐसी व्यवस्थाओं का नियमन हुआ, जिनसे उसकी दशा निरन्तर दयनीय होती गयी तथा उस पर नियंत्रण और अधिक कठोर हो गये।

संदर्भ ग्रंथ

1. गोविन्दलाल श्रीमाली, *राजस्थान के अभिलेख* (मारवाड़ के संदर्भ में) भाग-1, महाराजमानसिंह प्रकाशन, जोधपुर 2000, पृ. 09
2. एपिग्राफि आइण्डिका, खण्ड XIV, 1917-1918, द डायरेक्टर जनरल आर्कियोलोजिकल सर्वे ऑफ इंडिया, जनपथ, न्यू दिल्ली, प्रकाशित 1982 पृ. 176-188
3. वही, पृ. 36
4. *एपिग्राफि आइण्डिका*, खण्ड 11, पृ. 19

5. *एपिग्राफि आइण्डिका,* 11/26
6. गोविन्दलाल श्रीमाली, (पूर्व लिखित) पृ. 89
7. वही पृ. 92
8. गोविन्दलाल श्रीमाली, (पूर्व लिखित), पृ. 99
9. डॉ. गोपीनाथ शर्मा, *राजस्थान के इतिहास के स्त्रोत,* पब्लिकेशन स्कीम, जयपुर, पृ. 89-90
10. गोविन्दलाल श्रीमाली, (पूर्व लिखित), पृ. 118-119
11. *ऑर्कियोलोजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया,* वेस्टर्न सर्किल ई. सन् 1908, पृ. 51-52
12. गोविन्दलाल श्रीमाली, (पूर्व लिखित), पृ. 145
13. वही, पृ. 146
14. श्री पूर्णचन्द नाहर का *जैनलेख संग्रह,* भाग-1, वी. जे. जोशी, *जैन विविधा साहित्य शास्त्र माला* ऑफिस, बनारस, वीर संवत 2444, पृ. 231
15. गोविन्दलाल श्रीमाली, (पूर्व लिखित), पृ. 174-175
16. रामवल्लभ सोमानी, 'जूना बाड़मेर के शिलालेख', वरदा, वर्ष 35, अंक 4 अक्टू.-दिसं. 1992, पृ. 1-4
17. डॉ. गोपीनाथ शर्मा, *राजस्थान के इतिहास के स्त्रोत,* पृ. 115-116
18. गोविन्दलाल श्रीमाली, पूर्वलिखित, पृ. 289
19. अल्तेकर, द *पॉजिशन ऑफ वीमन इन हिन्दू सिविलाइजेशन,* मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशिंग हाउस न्यू दिल्ली, 1987, पृ. 183
20. दशरथ शर्मा, *अर्ली चौहान डायनेस्टीज,* मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशिंग हाउस, न्यू दिल्ली 1975, पृ. 92
21. वासुदेव उपाध्याय, द *सोसियोरिलिजस कन्डीशन ऑफ नॉर्थ इण्डिया,* चौखम्बा भवन, वाराणसी, 1964 पृ. 155
22. पी.वी. काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 1, भंडारकर ओरियन्टलरिसर्च इंस्टिट्यूट, पूना 1975 पृ. 349
23. रोमिला थापर, पूर्वकालीन भारत (प्रारम्भ से 1300 ई. तक) हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 2015, पृ. 505-506
24. दशरथ शर्मा, *अर्ली चौहान डायनेस्टीज* (पूर्व लिखित), पृ. 289-291

डॉ. रजनी शर्मा
सह-आचार्य इतिहास
श्री र.क.पा. राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, किशनगढ़ (अजमेर)

❑❑❑

खांप पंचायतों की मिथक और वास्तविकता : पंचायत और खांप पंचायत का ऐतिहासिक विश्लेषण

डॉ. सूरजभान भारद्वाज* • अनु. डॉ. राजेन्द्र कुमार**

पिछले कुछ वर्षों के दौरान, जाट समुदाय के 'गोत्र' (कबीले) के भीतर कुछ विवाह सुर्खियों में आए हैं। बहुधा, एक ही गोत्र के जिन जोड़ों ने भाग कर विवाह किया, उनकी बुजुर्गो की तानाशाही द्वारा बेरहमी से हत्या कर दी गई- इन्हें 'ऑनर किलिंग' के रूप में जाना जाता है। हरियाणा, पश्चिमी उत्तर प्रदेश और दिल्ली के ग्रामीण क्षेत्रों में इस तरह की कई घटनाएं हुई हैं: इन क्षेत्रों ने आधुनिकीकरण और विभिन्न सुविधाओं जैसे कि शिक्षण संस्थानों, स्वास्थ्य केंद्रों, आधुनिक सड़कों, और बहुराष्ट्रीय व्यावसायिक प्रतिष्ठानों तक अपनी सहज पहुंच बनाई है, साथ ही इन्होंने विदेशी निवेश को भी प्रोत्साहित किया है। इस आधुनिकीकरण और खांप पंचायतों के लोगों की सामंती मानसिकता के बीच एक विशाल खाई मौजूद है, जो अन्तर-गोत्रीय विवाह में प्रवेश करने वाले नव जोड़ों को या तो कहीं और जबरन शादी करने के लिए या भाई-बहनों की तरह रहने के लिए मजबूर करती हैं। बड़ी संख्या में ऐसे विवाहित जोड़े अपनी जान गंवा चुके हैं। इस प्रकार, खांप पंचायतें उनके गोत्र साम्यता के अनुसार उन्हें भाई-बहन के रूप में मानती हैं। खांप पंचायतें अपने निर्णयों का समर्थन करने के लिए अनिश्चित उत्पत्ति के आधार पर ऐतिहासिक पूर्वजों को उद्धृत करके अपने कार्यो को वैध बनाने का प्रयास करती हैं। उनका मानना है कि खांप पंचायत एक सदियों पुरानी संस्था है, जिसकी शुरुआत मध्ययुगीन काल में हुई थी।

---

* **डॉ. सूरजभान भारद्वाज**, (पूर्व प्राचार्य, मोतीलाल कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली), द्वारा लिखित यह आलेख सेज द्वारा प्रकाशित जर्नल 'स्टडीज इन हिस्ट्री', वॉल्यूम 28, अंक 1, मई 2013 में अंग्रेजी भाषा में प्रकाशित हुआ था।

सामाजिक और आर्थिक रूप से ऊपर की घुमक्कड़ जातियों द्वारा वैधता का ऐतिहासिक समायोजन कोई नई घटना नहीं है और इसने समकालीन समय में दुर्भाग्यपूर्ण महत्व प्राप्त किया है।[1] इस तरह के मनगढ़ंत दावों के कई कारण हैं, लेकिन लोकतंत्र के प्रतिनिधियों ने ऐसी प्रवृत्तियों को बढ़ावा देने में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। वैश्वीकरण और बढ़ते उपभोक्तावाद के युग में, इस तरह की पहचान की अवधारणा ने विभिन्न जातीय समूहों को स्व-प्रचारित जाति नियमों और कानूनों को लागू करने के लिए प्रेरित किया है। इसलिए, खांप पंचायतों द्वारा दिल्ली क्षेत्र के आसपास अपने समुदाय में 'गोत्र' विवाहों को नियंत्रित करने के लिए जारी किए गए हुक्मों पर ध्यान देना आश्चर्यजनक नहीं है। दुर्भाग्य से गोत्रीय विवाहों पर इस तरह के प्रयास प्राय: 'ऑनर किलिंग' के रूप में समाप्त हुए हैं। ये हाल के दिनों में, भयानक स्तर के रूप में स्थापित हो चुके हैं और नागरिक जीवन से जुड़े लोकतांत्रिक और संवैधानिक कार्यों के लिए एक गंभीर खतरा पैदा कर रहे हैं। इस लेख में खांप पंचायतों के प्रमाणिक आधार की जांच ऐतिहासिक स्रोतों के आधार पर करने का प्रयास किया गया है : विशेष रूप से इंडो-फारसी और राजस्थानी ऐतिहासिक स्रोतों के माध्यम से।

शक्ति वाहिनी संस्था द्वारा राष्ट्रीय महिला आयोग की सहायता से किए गए एक हालिया सर्वेक्षण के अनुसार, वर्ष 2008-09 के दौरान घटित 'ऑनर किलिंग' से जुड़ी हिंसा के 354 मामलों का विश्लेषण किया गया है (एफआईआर से लिए गए आंकड़ों के आधार पर)। इसके अनुसार यह पाया गया कि 72 प्रतिशत मामले अंतर-जातीय विवाह, 3 प्रतिशत समान गोत्र विवाह, तथा 15 प्रतिशत मामले माता-पिता की गैर-सहमति से संबंधित थे। इस प्रकार केवल 2.4 मामले गोत्र विवाह की श्रेणी में आते हैं।[2] ध्यान देने वाली बात यह है कि इन तथाकथित अपराधों में से अधिकांश पंचायतों के निर्देशों पर उकसाए गए हैं। यह एक अलग बात है कि इन पंचायतों में से अधिकांश के पास व्यावहारिक रूप से कोई कानूनी या संवैधानिक अधिकार नहीं है। अधिकांशत: ये पंचायतें कुछ लंबी ऐतिहासिक परंपरा या कुछ सामाजिक सम्मेलनों के लिए वैधता का दावा करती हैं।

जनपद मुजफ्फरनगर के ग्राम शौरम निवासी पंडित कान्हाराम की अप्रकाशित हस्तलिखित पोथी द्वारा सर्वखांप पंचायत के इतिहास के बारे में जानकारी प्राप्त हुई है। उन्होंने अपनी पोथी में खांप पंचायतों से संबंधित कुछ ऐतिहासिक प्रसंगों की चर्चा की है। पोथी में 16 हस्तलिखित पृष्ठ हैं, जिसमें खांप पंचायतों की बैठकों के स्थानों और तारीखों का वर्णन है।[3]

पोथी के अनुसार, सर्वखांप पंचायत की पहली बैठक वि.सं. 1252 (1195 ई.) में बड़ौत के जंगल में हुई थी। इसमें मोहम्मद गोरी के हमलों के

विरुद्ध एक सेना जुटाने का फैसला लिया गया था।[4] यह काल्पनिक प्रतीत होता है क्योंकि इस दावे का समर्थन करने के लिए कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है। इस दौरान जाटों का निकटतम संदर्भ बताता है कि 1192 ई. में पृथ्वीराज चौहान की पराजय के बाद, हांसी (हरियाणा) के आसपास के क्षेत्र में किसानों ने जैतवन के नेतृत्व में विद्रोह कर दिया। कुतुबुद्दीन ऐबक ने विद्रोह को दबा दिया।[5] इस विद्रोह का सबसे प्रशंसनीय कारण तुर्कों द्वारा लागू की गई नई भू-राजस्व नीति का विरोध था। इसके अतिरिक्त, पोथी का सुझाव है कि मुजफ्फरनगर जिले में चौगाम के जंगलों में वि.सं. 1455 (1398 ई.) में खांप पंचायत की एक और बैठक हुई थी। पोथी में बताई गई इस बैठक का उद्देश्य तैमूर लंग के हमलों का विरोध करना था।[6] हालाँकि, तैमूर की आत्मकथा, *मलफुजात-ए-तैमूरी*, बताती है कि जाटों ने उन्हें टोहाना (हिसार के पास) के क्षेत्रों में बहुत परेशान किया, लेकिन चौगाम के जंगल के निकटवर्त्ती क्षेत्र में जाटों के किसी भी विरोध का उल्लेख नहीं किया। आगे, वह लिखता हैं कि जब उनकी सेना भेजी गई थी, तब जाट पास के गन्ने के खेतों में छिप जाते थे[7] और इस तरह सीधे टकराव से बचते थे। इसके अतिरिक्त, यह ध्यान रखना महत्वपूर्ण है कि जब तैमूर ने मेरठ और हरिद्वार से सटे क्षेत्रों पर हमला किया, तो कहीं भी कोई ठोस सबूत नहीं मिला कि उसने जाटों के किसी प्रतिरोध का सामना किया था।

इसके बाद, सर्वखांप पंचायत का यह भी दावा है कि उन्होंने 1527 ई. में सीकरी (खानवा) की लड़ाई में बाबर के विरुद्ध राणा साँगा के पक्ष में 5000 सैनिकों की एक सैन्य टुकड़ी भेजी थी,[8] हालांकि, साक्ष्य के अभाव में यह सत्यापित करना फिर से मुश्किल है। यह मात्र एक दावा है। इसके अतिरिक्त, बाबर ने राणा साँगा के पक्ष में लड़ने वाले लगभग सभी शासकों और समुदायों का उल्लेख किया हैं, जबकि वह जाटों का उल्लेख उसके विरोधी के रूप में नहीं करता है। इसी तरह, एक और सर्वखांप पंचायत को कथित तौर पर वि.सं. 1718/1661 ई. में मेरठ और मुजफ्फरनगर के आसपास के क्षेत्र में स्थित छपरौली में आयोजित किया गया था। इसका उद्देश्य मुग़ल बादशाह औरंगज़ेब द्वारा लगाए गए जजिया कर का विरोध करना था और उससे इसे वापस लेने का अनुरोध किया गया था।[9] लेकिन इस सर्वखांप पंचायत की तारीख जजिया कर की तारीख से मेल नहीं खाती है, जो औरंगज़ेब ने अपने शासनकाल के 22वें वर्ष में अर्थात् 1679 ई. में हिंदुओं पर लगाया था।[10] गोकुल जाट के नेतृत्व में 1668 ई. के जाट विद्रोह का भी जजिया कर से कोई लेना-देना नहीं था। यह एक किसान विद्रोह था, जो मथुरा के क्षेत्र में हुआ था, क्योंकि औरंगज़ेब के शासनकाल के दौरान भू-राजस्व का बोझ बढ़ रहा था।[11]

सर्वखांप पंचायत का दावा है कि पानीपत की तीसरी लड़ाई में, जो अहमदशाह अब्दाली और मराठों के बीच लड़ी गई थी, उन्होंने मराठों के समर्थन में शौरम गांव, जिला मुजफ्फरनगर के चौधरी श्रीलाल जाट के नेतृत्व में 22,000 सैनिकों की एक सेना भेजी थी।[12] यह जानकारी भी ऐतिहासिक स्रोतों द्वारा समर्थित नहीं है। यह एक सर्वविदित तथ्य है कि भरतपुर के जाट राजा सूरजमल ने इस युद्ध में मराठों की कोई सहायता नहीं की थी। इसलिए यह दावा करने के लिए कि सर्वखांप पंचायत ने मराठों[13] के समर्थन के लिए इतनी बड़ी सेना भेजी थी, तथ्य से अधिक काल्पनिक प्रतीत होता है।

यह गौर करना आश्चर्यजनक नहीं है कि जाट, पंडित कान्हाराम की हस्तलिखित पोथी पर विश्वास करते हैं, जो उनके अनुसार खांप पंचायत की ऐतिहासिक भूमिका को वैधता प्रदान करती है। दिलचस्प बात यह है कि यह आधुनिक हिंदी में लिखी गई है। वर्तमान में, यह पोथी मुजफ्फरनगर जिले के शौरम गाँव के चौधरी काबुल सिंह के अधिकार में है। इस पोथी का दावा है कि वि.सं. 1252 से लेकर वि.सं. 1817 (1195-1760 ई.) तक सर्वखांप पंचायत की कुल 24 बैठकें हुई थीं। वैधता के उनके दावों को आगे बढ़ाने के लिए, इनमें से 8 बैठकें मुग़ल सम्राटों के शासनकाल के दौरान आयोजित की गईं और शेष अकबर के शासनकाल से पहले।[14] यहां बताई गई कुछ तिथियां वास्तविक ऐतिहासिक तिथियों के साथ मेल नहीं खाती हैं। इन तारीखों के अतिरिक्त, इस पोथी में वर्णित घटनाएं, समकालीन ऐतिहासिक स्रोतों के अनुरूप नहीं हैं, जिनके आधार पर इन घटनाओं को तथ्यों के साथ जोड़ा जा सकता है।

वास्तव में, सर्वखांप पंचायतों के दावों को स्वीकार करना कठिन है, क्योंकि वे आक्रमणकारियों (मोहम्मद गोरी, तैमूर लंग, बाबर, और अहमदशाह अब्दाली) के विरुद्ध किए गए युद्ध की प्रकृति का प्रतिनिधित्व करते हैं, पूरी तरह से अविश्वसनीय है। प्रथम, सेनाओं को संगठित करने के प्रयास राज्य के समर्थन के बिना अवास्तविक लगते हैं; द्वितीय, सर्वखांप पंचायतों में इस तरह का राष्ट्रीय जागरण कैसे हो सकता है? जबकि पूरे देश में केवल उन्नीसवीं शताब्दी में ही ऐसा जागरण हुआ था। इसका सबसे अच्छा उदाहरण 1857 के विद्रोह के रूप में देखा जा सकता है, जहाँ बहुसंख्यक भारतीय शासकों ने विद्रोहियों के जनाधार को दबाने के लिए अंग्रेजों का समर्थन किया।

पोथी की प्रामाणिकता से सम्बद्ध किसी भी अस्पष्टता को खारिज करने के लिए भाषा शैली के आधार पर जांच करने की आवश्यकता है। चूंकि पोथी

लंबे समय से चली आ रही ऐतिहासिक वैधता का दावा करती है, इसलिए यह उम्मीद करना स्वाभाविक है कि भाषा समकालीन परंपराओं के अनुरूप होगी। यहां तक कि इस पोथी की भाषा पर एक सरसरी नज़र डालने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये खड़ी बोली हिंदी में लिखी गई थीं और उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भिक दौर में उपयोग में ली जाने वाली भाषा से मेल नहीं खाती थी। ऐसा प्रतीत होता है कि शौरम गाँव (मुजफ्फरनगर जिला) के चौधरी को पंडित कान्हाराम द्वारा लिखा गया मनगढ़ंत इतिहास मिला है। पोथी ने बार-बार दावा किया कि खांप पंचायतों ने मध्यकालीन शासकों के अत्याचारों के विरुद्ध लड़ाई लड़ी। हालांकि, यह आश्चर्य की बात है कि जाट विद्रोहों की ऐतिहासिक रूप से मान्य घटनाएं इन पोथियों में नहीं हैं। जब मोहम्मद तुग़लक ने अन्य क्षेत्रों की तुलना में पश्चिमी उत्तरप्रदेश (गंगा-जमुना दोआब) के इन क्षेत्रों पर भू-राजस्व में 20 प्रतिशत की वृद्धि की, तो किसान अकाल के दौरान भारी राजस्व का भुगतान नहीं कर सके। मोहम्मद तुग़लक ने विरोध प्रदर्शन को खत्म करने के लिए एक सेना भेजी और किसानों का अधिकांश भाग जंगल में चला गया।[15] खाप पंचायतों को रखने की प्रथा को देखते हुए, कोई भी इस मोड़ पर 'सर्वखाप पंचायत' की बैठक की उम्मीद करेगा।

इसी तरह, औरंगज़ेब के शासनकाल के दौरान, 1668 ई. में, मथुरा के पास गोकुल जाट के नेतृत्व में एक भयंकर युद्ध हुआ और सम्राट औरंगजेब़ को जाटों को दबाने के लिए एक सेना भेजनी पड़ी। गोकुल का सरेआम सिर काट दिया गया था।[16] इसके बाद, औरंगजेब ने जाटों को दबाने की नीति अपनाई और बाद में लोगों को इकट्ठा होने की अनुमति नहीं दी गई, सिवाय जजिया़ के एकत्र करने की एक बैठक के। इस विवरण को ध्यान में रखते हुए, पंडित कान्हाराम की पोथी को एक प्रामाणिक स्रोत के रूप में नहीं माना जा सकता है।

एम.सी. प्रधान, नामक समाजशास्त्री, ने अपनी पुस्तक द *पॉलिटिकल सिस्टम ऑफ द जाट्स ऑफ नॉर्दर्न इंडिया* के शोध हेतु पंडित कान्हाराम की पोथी का व्यापक उपयोग किया है।[17] तथ्य के रूप में, यह कार्य पश्चिमी उत्तर प्रदेश में ऐसे समय में प्रकाशित हुआ था, जब जाट, चौधरी चरण सिंह के नेतृत्व में अपनी राजनीतिक पहचान स्थापित करने की कोशिश कर रहे थे। हालांकि, इस पुस्तक को इतिहासकारों ने गंभीरता से नहीं लिया।

इन खांप पंचायतों की वैधता प्रमाणिक साक्ष्यों पर निर्भर नहीं है। इन पंचायतों के तथाकथित रिकॉर्ड की ऐतिहासिकता का उपयोग उनके दावों को वैध बनाने के लिए किया गया है। यह बताता है : क्यों यह इतिहासकारों के लिए

एक बड़ी चुनौती है। इस लेख में, मैंने मुग़ल काल के दौरान ग्राम पंचायत की प्रकृति पर चर्चा करने की कोशिश की है, साथ ही जाटों की खांप पंचायतों और गोत्रों (कबीले) की जांच की।

खांप शब्द की उत्पत्ति 'फांक' से हुई है, जिसका अर्थ अंश है। ऐतिहासिक रूप से 'खांप' शब्द का उपयोग पहली बार राजस्थान में मध्ययुगीन काल के दौरान राजपूत शासक वर्ग के संदर्भ में किया गया था। *मुहणोत नैणसी री विगत* या *मारवाड़ राज्य की ख्यात* में खांप शब्द का राजपूत शासक वर्ग की विभिन्न शाखाओं के संदर्भ में विस्तार से उल्लेख किया गया है। धर्म और जाति पर आधारित पहली 'जनगणना रिपोर्ट जोधपुर' में वर्ष 1890-1891 में तैयार की गई थी, जिससे भारत के लोगों को धर्म और जाति के आधार पर विभाजित किया गया। यहाँ तक कि जातियों को गोत्रों के आधार पर विभाजित किया गया।[18] 'खांप' शब्द उक्त 'जनगणना रिपोर्ट' में अस्तित्व में आया। जब इस रिपोर्ट को हिंदी में अनुवादित किया गया, तो इस शब्द को 'खांप' के रूप में गढ़ने के बजाय 'गोत्र' कहा गया। उदाहरणार्थ 'मर्दुमशुमारी राज-मारवाड़' एक जनगणना रिपोर्ट थी जिसने वर्ष 1891 में सभी जातियों के लोगों को 'गोत्र' में विभाजित किया, जिसका अर्थ है 'खांप'। जाट जाति की विभिन्न खांपों का भी इसमें वर्णन किया गया है।[19] खांप पंचायत का मतलब ग्रामीणों की पंचायत है, जो एक ही गोत्र के थे। इस प्रकार विभिन्न गोत्रों की अपनी-अपनी खांप पंचायतें थीं। खांप पंचायतें स्वयं को राज्य से स्वायत्त मानती हैं और उस विशेष समुदाय के सभी सदस्यों का प्रतिनिधित्व करने का दावा करती हैं।

पंचायत के ऐतिहासिक साक्ष्य

खांप पंचायतों की कार्यशैली, महत्व और प्रकृति को समझने के लिए, मुग़लकालीन ग्राम पंचायत प्रणालियों के संगठन को समझना हमारे लिए बहुत महत्वपूर्ण है। खांप पंचायत को सूक्ष्म स्तर पर पंचायत के रूप में देखा जा सकता है। भारत में ग्राम समुदायों और पंचायत संगठनों का अध्ययन मुख्य रूप से सर हेनरी मेन, एलफिंस्टन, बैडेन पॉवेल, चार्ल्स मेटकॉफ और जेम्स मिल जैसे विद्वानों द्वारा किया गया था, जिन्होंने ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी में विभिन्न पदों को प्राप्त किया था। इन प्रशासकों का मुख्य उद्देश्य भूमि के स्वामित्व और राजस्व भुगतान के तरीकों का पता लगाना था। इन उद्देश्यों को पर्याप्त रूप से प्रकट करने के लिए, उन्होंने महसूस किया कि गाँवों के मुखिया इस उद्देश्य के लिए सबसे महत्वपूर्ण थे। ब्रिटिश प्रशासकों ने इस तथ्य को नजरअंदाज कर दिया कि प्रायः भूमि का स्वामित्व किसानों में निहित था और स्थानीय राजाओं को

राजस्व का संग्रह सौंपना पसंद करते थे। 1764 ई. में बक्सर की लड़ाई के बाद, ईस्ट इंडिया कंपनी बंगाल, बिहार और उड़ीसा की संपूर्ण भूमि की एकमात्र स्वामी बन गई। तत्पश्चात् ब्रिटिश समुदाय के अधिकारियों द्वारा ग्राम समुदाय का अध्ययन भी किया गया और इसलिए उन्हें ग्राम समुदाय और पंचायत की अवधारणा के प्रसार के लिए जिम्मेदार ठहराया जा सकता है।

ग्राम समुदायों और पंचायत संगठनों की सामान्य समझ बहुत सीमा तक मुग़ल काल के स्रोतों की अपेक्षा यूरोपीय यात्रियों (विशेष रूप से बर्नियर) के विवरणों पर आधारित थी। यह बताया जा सकता है कि उन्होंने भारतीय ग्राम समुदाय की तुलना रूसी मीर और जर्मन मार्क से क्यों की।[20] यह ध्यान रखना दिलचस्प है कि भारत में राष्ट्रीय संघर्ष की अवधि के दौरान भी किसी ने इन मान्यताओं का खंडन नहीं किया। धीरे-धीरे नए शोध ने नए दृष्टिकोण प्रस्तुत किए और पहले के सिद्धांत धीरे-धीरे ध्वस्त हो गए। मुग़ल काल में ग्राम पंचायत की प्रकृति क्या थी? इसके कार्य और भूमिका क्या थे? यह सब समझने के लिए, हमें मुग़ल काल के दौरान ग्राम पंचायत प्रणाली में वापस जाने की आवश्यकता है। मूल रूप से, कोई यह कह सकता है कि ग्राम पंचायतें न तो स्वायत्त थीं, न ही मुक्त, लेकिन उनका कामकाज बाह्य ताकतों से बहुत प्रभावित था। आधुनिक इतिहासकारों में भी अधिकांश, मुग़ल काल के दौरान ग्राम पंचायत संगठनों के बारे में एकमत नहीं है। इरफान हबीब का मानना है कि मुग़ल काल में उत्तर भारत में कभी भी ग्राम पंचायत प्रणाली नहीं थी।[21] बी.आर. ग्रोवर ने भी पंचायत प्रणाली के अस्तित्व को नकार दिया है। उनके अनुसार यदि ग्राम पंचायत शासन प्रणाली होती, तो ग्रामीण स्तर पर चौधरी और कानूनगों जैसे अधिकारियों को नियुक्त करने की मुग़लों को आवश्यकता नहीं होती। दिलबाग सिंह ने पूर्वी राजस्थान पर अपने अध्ययन में ग्राम पंचायत के विचार पर जोर दिया और सुझाव दिया कि यह संगठन उत्तर मुग़ल काल में मौजूद था। उनका मत है कि बड़े और अधिक विकसित गाँवों में पंचायती व्यवस्था थी, जिसके सदस्य मुख्यतः गाँव के उपरी वर्ग जैसे *चौधरी, कानूनगों, पटेल* और जमींदार के साथ ही उच्च जाति के लोग जैसे ब्राह्मण और महाजन आदि से थे।[22] लेकिन क्या एक साधारण किसान या समाज के कमजोर तबके का कोई व्यक्ति इसका सदस्य रहा हो, यह संदिग्ध लगता है। हालांकि, राजस्थानी और इंडो-फारसी स्रोतों में इतिहासकारों के लिए कोई स्रोत उपलब्ध नहीं हैं जो इस विषय पर प्रकाश डालते हैं या जो मुग़ल काल में ग्राम पंचायत संगठन और इसकी प्रकृति का वर्णन कर सकते हैं।

लेकिन कई बार, हम कुछ राजस्थानी स्रोतों में पंचायत के संदर्भ पाते हैं।

उदाहरण के लिए, यदि दो गांवों की सीमा (*कांकड़*) के बारे में कोई विवाद था, तो *कानूनगो* और *चौधरी* (परगना के अधिकारियों) ने विवाद को हल करने के लिए 12 गांवों के पटेलों को आमंत्रित किया था।[23] पटेल, गाँव पंचायत परिषद का प्रमुख भी हुआ करता था, हालाँकि यह स्पष्ट नहीं है कि ग्राम पंचायतों का गठन किसने किया था? फिर भी, यह मानना महत्वपूर्ण है कि परगना, जो हमारे उद्देश्यों के लिए अध्ययन का क्षेत्र है, जिसका उपयोग दिल्ली या आगरा सूबे के हिस्से के रूप में किया जाता था। प्रशासनिक रूप से, इन परगनों में से अधिकांश को, दिल्ली सूबा का हिस्सा होने के कारण आमतौर पर खालसा के रूप में नामित किया गया था। पश्चिमी उत्तरप्रदेश का क्षेत्र, दिल्ली का ग्रामीण क्षेत्र और हरियाणा का अधिकांश भाग शाही दरबार से निकटता में होने का मतलब था कि इन्हें या तो खालसा के रूप में वर्गीकृत किया गया था अथवा यह शाही मनसबदारों की जागीर के भाग के रूप में थे। इस प्रकार, परगना और इन क्षेत्रों के ग्राम स्तर पर प्रशासनिक संगठन मुग़ल राज्य के अधिकारियों के पूर्ण प्रशासनिक नियंत्रण में थे।[24]

स्थानीय स्तर पर, पटवारी एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते थे, उनकी एकमात्र जिम्मेदारी भू-राजस्व और प्रत्येक गांव के प्रत्येक किसान के कृषि उत्पादन से संबंधित सभी आंकड़ों का रिकॉर्ड बनाए रखना था। यहां तक कि पटवारी की सहायता से किसानों से *मलबा* कर वसूला जाता था।[25] पटेल, गाँव के मुखिया होने के साथ-साथ एक अर्ध-सरकारी अधिकारी के रूप में भी काम करते थे, जिनका काम किसानों से भू-राजस्व एकत्र करना और उसे आमिल के कार्यालय में जमा करना था।[26] प्रत्येक गाँव में एक *सहणा* भी नियुक्त किया जाता था क्योंकि किसानों को राजस्व वसूली के लिए 'बटाई-जिंसी' प्रणाली में फसल के रूप में राजस्व का भुगतान करना पड़ता था। खड़ी फसलों पर नज़र रखना भी सहणा का कार्य था।[27]

सहणा का मुख्य कार्य सतर्क रहना था और यह सुनिश्चित करना था कि कोई भी किसान राज्य को भू-राजस्व का भुगतान किए बिना कटाई की गई फसल को घर नहीं ले जाएगा। यह किसानों और सहणों के बीच झड़पों का प्रमुख कारण हुआ करता था। ऐसे साक्ष्य हैं जो मुग़ल राज्य को किसानों को झगड़ा न करने या *सहणा* के साथ दुर्व्यवहार न करने के निर्देश देते हैं।[28] फिर भी हम, दोनों के बीच झड़पों के बारे में सुनते हैं। पटवारी और पटेल ने स्थानीय स्तर पर अपने कर्त्तव्य का प्रयोग किया, जो कि *कानूनगो* और *चौधरी* द्वारा परगना स्तर पर किया गया।

चोरी, डकैती की जांच करना और कानून-व्यवस्था बनाए रखने की जिम्मेदारी फौजदार की थी।[29] फौजदार की जिम्मेदारी उन किसानों को दंडित करने की भी थी, जो भू-राजस्व शुल्क देने में कोताही बरतते थे। आमिल, सर्वोच्च प्रशासनिक अधिकारी था, जिसका कर्त्तव्य अधीनस्थ अधिकारियों की सहायता से भू-राजस्व की संग्रह प्रक्रिया की देखरेख करना था। इस प्रकार ग्राम स्तर पर भू-राजस्व प्रशासन का प्रबंधन परगना और स्थानीय प्रशासनिक अधिकारियों द्वारा किया जाता था। इसीलिए, पटेल और पटवारियों को विवादों में लिप्त किसानों की सूची बनाने और इन्हें आमिल को सौंपने के लिए निर्देशित किया जाता था।

विभिन्न स्रोत इस बात का प्रमाण देते हैं कि *आमिल* ने किसानों के बीच विवादों को कैसे हल किया। उदाहरण के लिए, 1680 ई. में, रतोली गाँव के केशो जाट (होडल, परगना शाहर के पास का गाँव) ने *आमिल* के दरबार में शिकायत की थी कि मौजा जाटोती के आसो जाट ने अपनी बेटी की सगाई उसके बेटे से कर दी थी, परन्तु बाद में मौजा जोनाई के रत्ना जाट के बेटे के साथ उसका विवाह कर दिया था। *आमिल* द्वारा की गई पूछताछ से पता चला कि शिकायत सही थी और बाद में आसो जाट पर 5 रुपये का जुर्माना लगाया गया था।[30] इसी तरह, जब मौजा तारोली में खेमा और गोडू जाट के बीच लड़ाई हुई, तो फौजदार ने दोनों किसानों पर 18 रुपये 8 आने का जुर्माना लगाया।[31] मौजा धनौली में, रारुका और किसना जाट ने टिकू जाट की पत्नी के साथ बलात्कार किया। परिणामतः दोनों व्यक्तियों पर क्रमशः 44 रुपये और 33 रुपये का जुर्माना लगाया गया।[32] इसी तरह, गुढ़ा गांव के खेमा जाट के बेटे ने दल्ला जाट की बेटी के साथ बलात्कार किया, फलस्वरूप खेमा जाट पर *आमिल* द्वारा 41 रुपये का जुर्माना लगाया गया। ऐसा लगता है कि जांच अधिकारी को भी *आमिल* के साथ निहित किया गया था। इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि अंतर-जातीय विवादों को हल करने में भी पंचायतों के लिए स्पष्ट रूप से बहुत सीमित कार्य या भूमिका थी।

एक अन्य स्थिति में, परगना कामा के खोह गाँव के जाटों द्वारा मेवों के चार गाँवों की भूमि का अतिक्रमण किया गया। *कानूनगों* और *चौधरी* को उच्च अधिकारियों द्वारा संबंधित गांवों के पटेलों की सहायता से विवाद को सुलझाने के लिए निर्देशित किया गया था।[33] एक अन्य मामले में, परगना शाहर के गाँव खैराल के चौखा जाट पटेल ने सहणा की अनुमति के बिना 5 1/2 बीघा के गन्ने के खेत की कटाई की। इसके बाद, सहणा द्वारा की गई शिकायत के बाद,

परगना के *आमिल* ने पटेल पर 7 रुपए का जुर्माना लगाया। जब पटेल ने सहणा को गाली दी, तो बाद में *आमिल* की अदालत में शिकायत दर्ज की गई और पटेल को भी तलब किया गया। हालाँकि, पटेल दरबार में उपस्थित नहीं हुआ। सूत्र बताते हैं कि पटेल के अड़ियल रवैये और भूमि के कानून की अवहेलना करने के कारण उस पर जुर्माना बढ़ाकर रु. 231 कर दिया गया।[34] यह स्पष्ट है कि अधिकांश विवादों और गैरकानूनी व्यवहार के मामलों को राज्य के निचले स्तर के अधिकारियों द्वारा स्थगित और हल किया गया था।

इसके अतिरिक्त, उनकी शिकायतों के निवारण के लिए पंचायत से संपर्क करने वाले किसी भी दुखी पक्ष का कोई संदर्भ प्राप्त नहीं होता है। उदाहरण के लिए, मौजा खेड़ली में हरजी पटेल ने राजस्व आकलन के लिए अपने गन्ने के खेत के बारे में नहीं बताया था, जब इस चूक की खोज *आमिल* ने की, तो उस पर 27 रुपए का जुर्माना लगाया गया था। *सहणा* की जानकारी के बिना, मौजा मोरडा के खेमा जाट ने 4 बीघा में बोई गई मक्का और लौकी की फसल को नष्ट कर दिया था। *सहणा* की शिकायत के बाद, आमिल द्वारा 7.50 रुपये का जुर्माना लगाया गया।[35] एक अन्य मामले में, 1665 ई. में, मौजा भाऊ के पूरन पटेल, भीरही कलां के जग्गा पटेल और गांव काडमा (परगना चालकल्याण) की लीला पटेल ने किसानों और *आमिल* के बीच कई बार झगड़े की सूचना दी थी। इन झगड़ों के दंड के एवज में *आमिल* को 1064 रुपये का जुर्माना मिला।[36]

मेरे तर्क को और अधिक पुष्ट करने के लिए मैंने इस क्षेत्र के जाटों के अपराधों में सम्मिलित होने वाले कुछ मामलों को चुना है। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु राजस्थानी स्रोतों की अन्य शृंखला की जांच की जिसका नाम 'चिठियात' है, जिसमें हमें किसानों और पटेलों द्वारा भूमि रखने के संबंध में उत्पन्न विवादों से संबंधित जानकारी मिलती है। इन स्रोतों में जानकारी का प्रमुख हिस्सा पूर्वी राजस्थान के परगनों के गांवों से संबंधित है, जो राजपूत कच्छवाहा राजा को उनके तनख्वाह-ए-जागीर के रूप में दिया गया था। लेकिन कुछ *चिठ्ठियों* ने जाट किसानों द्वारा आबाद नारनौल, कामां, पहाड़ी, होडल और भरतपुर क्षेत्र के गाँवों पर भी महत्वपूर्ण प्रकाश डाला। दिलचस्प बात यह है कि इन दस्तावेजों में खांप पंचायत का कोई संदर्भ नहीं मिलता है, हालांकि गांव-स्तर के विवादों का प्राय: उल्लेख मिलता है। इसी तरह, खतूत अहलकारान में किसानों की गतिविधियों से संबंधित एक गुप्त रिपोर्ट में खांप पंचायत शब्द का उल्लेख तक नहीं है। इस संदर्भ में, *वकील रिपोर्ट* पर भी चर्चा करना अनिवार्य है। ये रिपोर्ट मुग़ल दरबार में तैनात आमेर राजा के वकीलों द्वारा तैयार की गई थी। ये रिपोर्ट

जाटों के विद्रोह और अन्य गतिविधियों को प्रकाश में लाती है लेकिन हमें खांप पंचायतों के बारे में कोई जानकारी नहीं देती है। इसी तरह, *आईन-ए-अकबरी* हमें सूचित करती है कि हरियाणा, पश्चिमी उत्तर प्रदेश, और दिल्ली के ग्रामीण क्षेत्रों के अधिकांश हिस्से मुग़ल प्रशासनिक प्रणाली में दिल्ली सूबे का हिस्सा थे।[37] अधिकांश परगने साम्राज्य के मंसबदारों को *तनख्वाह जागीर* के रूप में दिए गए या उन्हें खालसा (साम्राज्यी भूमि) के रूप में नामित किया गया था। इसलिए यह मान लेना गलत नहीं होगा कि मुग़ल राज्य ने स्थानीय शासन की एक प्रणाली तैयार की थी, जिसके द्वारा इस क्षेत्र पर कठोर नियंत्रण बनाए रखा जा सकता था। अगर जाटों की खांप पंचायत अस्तित्व में होती, तो क्या उनका कोई संदर्भ नहीं होता? इसके अतिरिक्त, खांप पंचायतों की गतिविधियों के बारे में इंडो-पर्सियन या राजस्थानी स्रोतों में से किसी एक में भी कुछ उल्लेख पाया गया है, जो बहुत विस्तृत हैं? इसके अतिरिक्त, पोथियों द्वारा दावे किए गए कि खांप पंचायतों की बैठकें मुख्य आकर्षण थीं, और उन्हें प्रशासन का ध्यान आकर्षित करना चाहिए था, जो अपने दायरे में छोटे-मोटे विवादों में भी सम्मिलित था। यह विश्वास करना मुश्किल है कि इस तरह की बड़ी सभाओं के बारे में मध्ययुगीन चरण से संबंधित सभी स्रोतों में कोई उल्लेख नहीं मिलता है।

यहां पर यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि मुग़ल काल में ग्राम पंचायत प्रणाली अस्तित्व में थी, हालांकि, यह अभी भी है। विद्वानों के लिए इसके चरित्र, भूमिका और कार्यों को परिभाषित करना कठिन है।

सल्तनत काल में ग्राम समुदाय के प्रतिनिधि के रूप में *खुत* और *मुकद्दमों* ने कार्य किया; इसी तरह, पटेल जो किसान समुदाय के सदस्य थे, मुग़ल काल के दौरान ग्राम समुदाय के प्रमुख के रूप में कार्य करते थे। पटेल की सामाजिक और आर्थिक स्थिति अन्य किसानों की तुलना में बहुत अधिक और प्रभावशाली हुआ करती थी। वह ग्राम समुदाय के प्रमुख थे और उनका कर्तव्य अपने साथी किसानों से भू-राजस्व के संग्रह में सहायता करना भी था। वह आमिल और फौजदार के लगातार संपर्क में था।[38] कुछ बुजुर्ग किसानों ने पटेल की सहायता की होगी, हालांकि हमारे पास ऐसा कोई साक्ष्य उपलब्ध नहीं है जो ग्राम सभाओं की मौजूदगी की ओर संकेत करता हो। यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि अधिकांश विवादों का समाधान *आमिल* द्वारा कर दिया जाता था, पटेल के नेतृत्व में कुछ मामूली संघर्षों और ग्राम कल्याण कार्यों को ग्राम परिषद में भेज दिया जाता था। हालांकि, तत्कालीन स्रोत बताते हैं कि किसानों ने अपनी शिकायतें, यहां तक कि पटेलों के विरुद्ध, मुग़ल दरबार तक पहुंचाईं।

स्पष्ट है कि ग्राम पंचायतों को कभी भी मुग़ल राज्य द्वारा मान्यता नहीं दी गई थी। पटेल और ग्राम सभा की सहायता से अधिकारियों *(आमिल, फौजदार, अमीन, चौधरी, और कानूनगों)* की सहायता के लिए उनकी प्रमुख भूमिका थी, जब भी ये अधिकारी गाँव मापने के उद्देश्य से या अन्य किन्ही कारणों से गाँव आते थे, तब ग्राम परिषद् के अन्य सदस्यों की सहायता से पटेल उन्हें भोजन और आश्रय प्रदान करते थे और बैलगाड़ी के रूप में परिवहन की सुविधा भी देते थे।[39] पटवारी की सहायता से, ग्राम परिषद ने विभिन्न बुनियादी ढांचा परियोजनाओं जैसे कि बांधों और जल निकायों के निर्माण के लिए विशेष रूप से वर्षा के मौसम में मलबा कर का उपयोग किया। भूमि, जल, मवेशी और अन्य स्थानीय स्तर की समस्याओं पर किसानों के विवादों को हल करने में ग्राम सभाओं ने भी प्रमुख भूमिका निभाई।[40]

मुग़ल साम्राज्य के पतन के बाद, जैसा कि प्रशासनिक अधिकारियों की स्थिति कमतर हो गई, तब ग्राम सभाओं की भूमिका किसानों के मध्य विवादों को सुलझाने में और अधिक महत्वपूर्ण हो गई। इसके अतिरिक्त, जमींदारों और पटेलों की स्थिति ग्राम समुदाय में मजबूत हो गई और औपनिवेशिक अधिकारियों ने इस अवसर का उपयोग उन्हें अपने प्रशासनिक ढांचे में अवशोषित करने के लिए किया। यह बदली हुई स्थिति है जिसका वर्णन ब्रिटिश प्रशासनिक अधिकारियों जैसे बैडेन पावेल, सर हेनरी मेन, एल्फिंस्टन, मेटकॉफ और जेम्स मिल सहित अन्य ने किया हैं।

उन्नीसवीं सदी के प्रारंभ में, जाट नेताओं ने अपनी वंशानुगत स्थिति और किसानों पर नियंत्रण का दावा किया। जिन ग्रामीणों ने आदेशों की अवहेलना की, उन्हें कठोर दंड दिया गया। आम तौर पर, जाट सरदारों को निष्पक्ष होने के पक्ष में देखा जाता था। जोधपुर के महाराजा बख्तावर सिंह को प्राय: जटिल मामलों में झंवर गांव के जाट प्रमुख से परामर्श करने के लिए जाना जाता था।[41]

गोत्र का इतिहास

गोत्र

चूंकि खांप पंचायतें आम तौर पर जाटों के विभिन्न गोत्रों को समाहित करती हैं और उनसे मेल खाती हैं, इसलिए उन्हें इस संदर्भ में एक ऐतिहासिक दृष्टि देने के लिए एक संक्षिप्त सर्वेक्षण किया गया है। जाटों को कई गोत्रों (कुलों) में विभाजित किया गया है, जो किसी भी अन्य समुदाय की अपेक्षा बेमिसाल है। हिंदू जाति व्यवस्था के विषय में निर्धारित साहित्य के अनुसार, गोत्र एक महत्वपूर्ण

भूमिका निभाते हैं। गोत्रों की लोकप्रिय धारणा यह है कि वे सामान्य पूर्वजों के नाम पर आधारित होते हैं। इसीलिए एक ही गोत्र से जुड़े लोग भाईचारे की भावना के साथ बंधे होते हैं। यही कारण है कि खांप पंचायतों ने अंतर-विवाह का विरोध किया है और अब हिंदू विवाह अधिनियम में संशोधन लाने की इच्छा रखते हैं। ऐसा लगता है कि गोत्र हिंदू समाज में प्राचीन काल से चली आ रही विकसित संस्था से मिलकर बना है। आर.एस. शर्मा ने 'गोत्र' शब्द का अर्थ 'गौशाला' से किया है, जिसका अर्थ है चरवाहा,[42] और वह सुझाव देते हैं कि इसका विकास ऋग्वैदिक काल के दौरान हुआ। चूंकि ऋग्वैदिक समाज मूल रूप से पशुपालन करने वाला समुदाय था, इसलिए यह इंगित करता है कि गोत्र का गठन आर्थिक आधार पर हुआ होगा। एक विशेष समूह के लोग एक गौशाला बनाए रखते थे, और उनका अस्तित्व दूध की बिक्री पर निर्भर करता था। इतिहासकारों का सुझाव है कि एक-दूसरे के साथ सहयोग और भाईचारे की भावना के कारण, एक गौशाला के लोगों को एक गोत्र से संबंधित कर दिया गया।[43] इसे ऋग्वैदिक समाज में गोत्र प्रणाली की उत्पत्ति के आधार के रूप में देखा जाता है। मवेशियों के पालन-पोषण से कृषि में बदलाव के साथ, गौशालाओं के बजाय विभिन्न कृषि बस्तियों के साथ गोत्रों की पहचान की जाने लगी। जैसे-जैसे आदिवासी समाज धीरे-धीरे किसान समुदाय में बदल गया, नए-नए गोत्र सामने आए। प्रक्रिया तेज थी और मध्ययुगीन काल की शुरुआत तक गोत्रों की संख्या बढ़कर 500 हो गई थी।[44] इसलिए, कई देहाती जनजातीय समुदायों ने स्वयं को कृषक वर्ग में बदल दिया और इसके बाद, जाति ही वह आधार बन गई जिसके चारों ओर गोत्र की पहचान को उभारकर सामने लाया गया। इनमें से कई समुदायों ने बाद में अपनी उपस्थिति महसूस करने और अपनी विशिष्ट पहचान बनाने के लिए स्वयं को संगठित सशस्त्र समूहों के रूप में स्वीकार किया।

जाटों के बारे में हमारे पास जो सबसे पहली जानकारी है, वह *चचनामा* में उपलब्ध है। यह उल्लेखित है कि 800 ई. में जाटों ने सिंध के क्षेत्र में मवेशियों को पाला।[45] दिल्ली सल्तनत के दौरान, पंजाब के क्षेत्र में जाट एक महत्वपूर्ण कृषक समुदाय के रूप में उभरे। अबुल फजल ने अपने ग्रन्थ *आईन-ए-अकबरी* में जाटों का वर्णन पश्चिमोत्तर क्षेत्र के सर्वश्रेष्ठ किसानों के रूप में किया है। तत्पश्चात, जाटों ने दिल्ली और आगरा सूबों में बड़ी संख्या में जमींदारियों का अधिग्रहण किया।[46] अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में, फ्रांसीसी लेखक वेंडेल लिखते हैं कि जाट का अर्थ है, जिसके पास एक हल हो।[47] इसी तरह फ्रांसीसी लेखक मोडावे लिखता है—

''यद्यपि जाट सज्जन लोग होते हैं और यदि उन्हें हथियार उठाने के लिए मजबूर नहीं किया जाता है, तो वे अपनी स्वतंत्र इच्छा पर विश्वास करने में प्रसन्न होते हैं। मेरे लिए, जाटों की मेहनत इस तथ्य के कारण प्रशंसनीय है कि उन्होंने पृथ्वी को बिना जुता हुआ नहीं छोड़ा है और अपने खेतों को बेहतर बनाए रखा है।''[48]

उपर्युक्त विवरण इस तथ्य को इंगित करता है कि एक महत्वपूर्ण कृषक समुदाय के रूप में पहचाने जाने और एक देहाती समुदाय के रूप में अपने पारंपरिक चरित्रांकन को बदलने के लिए, जाटों को बहुत लंबे समय तक संघर्ष करना पड़ा।

हाल के शोध से संकेत मिलता है कि जाट बारहवीं और तेरहवीं शताब्दी के बाद ही एक कृषि समुदाय में परिवर्तित हो गए।[49] इसलिए, यह स्पष्ट है कि उनकी गोत्र पहचान उस अवधि के बाद ही मजबूत हो सकती थी। जाट शब्द आमतौर पर दिल्ली सल्तनत (1206 ई.) की स्थापना के बाद हिन्द-फारसी स्रोतों में पाया जाता है, विशेष रूप से उत्तर भारत में। *तारीख-ए-फिरोजशाही* के लेखक, शम्स सिराज अफीफ ने उल्लेख किया है कि सिरसा और हांसी के बीच कई *खरक* थे।[50] *खरक* एक फारसी शब्द है जिसका अर्थ है 'चरवाहे', और हम मानते हैं कि इन स्थानों में भी गाय पालन के लिए समर्पित कई क्षेत्र थे। मध्ययुगीन भारत में गाय पालन एक महत्वपूर्ण व्यवसाय था, न केवल अपने दुग्ध उत्पादों के लिए, बल्कि इसलिए भी कि बैल माल ढोने के लिए परिवहन का एक बहुत ही महत्वपूर्ण साधन था। अनाज और खाद्य पदार्थों का परिवहन बंजारा समुदाय द्वारा किया जाता था और हजारों बैल उनके अधिकार में थे।[51] अफीफ लिखता हैं कि जब फिरोजशाह तुग़लक ने हिसार-फिरोज़ा नाम का एक नया शहर बसाने की सोची, तो वहाँ पहले से ही दो गाँव थे। एक बड़ा लारस था और दूसरा छोटा लारस। बड़े के पास 50 और छोटे वाले के पास 40 *खरक* थे। *खरक* के बिना पूरे क्षेत्र में कोई गाँव नहीं था।[52] क्षेत्र की भौगोलिक स्थिति ने सुल्तान का ध्यान आकर्षित किया, जिसने हिसार नामक एक नया शहर स्थापित किया। लेकिन वहां पानी की कमी थी। ग्रीष्मकाल में, जब इराक और खुरासान के व्यापारी इन क्षेत्रों में जाते थे, तो उन्हें 4 जीतल से एक गिलास पानी खरीदना पड़ता था—जीतल, एक प्रकार की मुद्रा, जो एक दाम का पच्चीसवां हिस्सा था।[53] जाटों ने अभी भी स्वयं को पूरी तरह से कृषक समुदाय में नहीं बदला था। स्पष्ट है कि, जाट समुदाय का एक वर्ग अभी भी मवेशियों के प्रजनन से जुड़ा था और फिर बंजारों को बैलों को बेचता था। उनकी सामाजिक

पहचान को उन गोत्रों से जाना जाता था जिनसे वे जुड़े थे, जैसे कि *बछड़ा* (छोटा बैल), *बैडका* (युवा बैल), बैल और *ढांडा* (बुड्ढा बैल)। इस प्रकार खरकों को उन मवेशियों के प्रकार से जाना जाता था जिनसे वे संबंधित थे और धीरे-धीरे खरकों से जुड़े परिवारों ने भी अपनी पहचान उन मवेशियों के प्रकार से ले ली जिनका वे पालन-पोषण कर रहे थे।

अफीफ ने आगे उल्लेख किया है कि फिरोजशाह तुगलक ने नहरों की खुदाई करने और उपलब्ध जल की कमी के कारण उन्हें नदियों से जोड़ने का फैसला किया। दो नहरों को हिसार-फिरोज़ा से जोड़ते हुए खोदा गया : एक का नाम *रजिबाहा,* जिसका निकास यमुना से था और दूसरी का नाम, *उलगखानी,* जिसके लिए जल सतलज नदी से लाया गया था। ये दोनों नहरें, करनाल से गुजरने के बाद, हांसी के रास्ते हिसार-फिरोज़ा को जोड़ती थीं।[54] अफीफ लिखता हैं कि इन नहरों के किनारे कई कस्बे और गाँव स्थित थे, जैसे जींद, धाथरथ, हांसी, सफीदों और इसी तरह अन्य शहरों को भी इन नहरों के जल से बहुत लाभ होता था। इन नहरों के निर्माण से पहले हिसार क्षेत्र में केवल खरीफ की फसल उगाना संभव था। इसके बाद रबी फसल की खेती भी प्रारंभ हुई क्योंकि गेहूं की फसल पर्याप्त जल के बिना संभव नहीं थी।[55] इससे पहले हम हाँसी *शिक* (एक प्रशासनिक इकाई) के बारे में पढ़ते हैं, जिसका अर्थ है कि हिसार का यह क्षेत्र प्रशासनिक दृष्टिकोण से हाँसी *शिक* का एक हिस्सा था। लेकिन बाद में, सुल्तान ने आदेश दिया कि *शिक* को हिसार स्थानांतरित कर दिया जाए। इसलिए हांसी, अग्रोहा, फतेहाबाद और सिरसा से सलोरा और खिज्रबाद तक के इन सभी क्षेत्रों को हिसार शिक में सम्मिलित किया गया था, और मलिक डेलन को इस क्षेत्र के शिकदार के रूप में नियुक्त किया गया था।[56]

फिरोजशाह ने हिसार-फिरोज़ा और सिरसा के बीच एक और शहर की स्थापना की, जिसका नाम फतेहाबाद रखा गया। एक समय जब सुल्तान दिल्ली से सिरसा की यात्रा कर रहा था, तो रास्ते में उसकी पत्नी को एक बच्चा पैदा हुआ। बच्चे का नाम फतेह खान रखा गया और कस्बें का नाम उसके नाम पर रखा गया। जियाउद्दीन बरनी लिखता हैं कि इस क्षेत्र में सिंचाई सुविधाओं के कारण गाँव बस गए और कई गुणा बढ़ गए। जैसे-जैसे वे मुख्य रूप से कृषि कार्य में संलग्न हुए, उन्होंने कई फसलों का उत्पादन किया। पहले, जल की कमी के कारण, इस क्षेत्र में कई *तिलोदी* या बैलगाड़ियों का एक समूह हुआ करता था, और लोग गाँवों के बजाय बैलगाड़ियों में रहते थे।[57]

जहाँ भी *तिलोदी* को जल मिला, वे उस स्थान पर स्थायी रूप से बस गए और बस्तियों का निर्माण किया। नहरों की स्थापना और सुल्तानों के अधीन बेहतर प्रशासन के कारण, ये *तिलोदियाँ* गाँवों में बदल गए और वहां बसने वालों ने गाड़ियों के नीचे सोने की प्रथा छोड़ दी। जल की कमी ने मुश्किल से मोठ और उड़द को छोड़कर किसी भी अन्य फसल की अनुमति नहीं दी। नहरों के आने से किसान गन्ने और गेहूं का उत्पादन भी कर सकते थे। मध्य एशियाई आक्रमणकारी, तैमूर लंग ने भी गन्ने की फसल का वर्णन किया था जिसे उसने टोहाना से गुजरने के दौरान देखा था। इन गांवों की स्थापना के बाद, प्रशासन में बड़ा सुधार हुआ और *खिराज* (भू-राजस्व) संग्रह, स्थिर और व्यवस्थित हो गया।[58]

खरक मुख्य रूप से हांसी, हिसार, फतेहाबाद, सिरसा, और जींद के क्षेत्रों में पाए जाते थे, जहाँ जाट आबादी बहुत घनत्व में पाई जाती थी। हमें इस तथ्य के बारे में पता होना चाहिए कि सुल्तान को खुश करने के लिए अफीफ ने इन आंकड़ों को कुछ सीमा तक बढ़ा दिया है। साक्ष्य से पता चलता है कि चौदहवीं शताब्दी तक, जाटों का कृषि समुदाय में परिवर्तन अब तक अधूरा था। समुदाय का एक वर्ग अभी भी मवेशियों के पालन पर निर्वाह कर रहा था। जल की कमी ने इनको किसी निश्चित स्थान पर बसने की अनुमति नहीं दी। अपने मवेशियों और परिवारों के साथ, वे जल के लिए इधर-उधर घूमते रहते थे और उनका सामान्य निवास तिलोदी (बैलगाड़ी) था। अधिकांश खरक वहां स्थित थे, जहाँ जल प्रचुर मात्रा में उपलब्ध था। बड़ी कृषि उत्पादकता भी जल की कमी के कारण कम थी और इन क्षेत्रों में केवल कुछ खरीफ फसलें ही उगाई जाती थीं।

नहरों के आगमन के बाद, इस क्षेत्र ने जाटों के सामाजिक और आर्थिक जीवन में कई महत्वपूर्ण बदलाव देखे। जल की उपलब्धता ने क्षेत्र में उत्पादकता को बढ़ाया। इस क्षेत्र में गेहूं और गन्ना उगाया जा सकता था। सुरक्षित कृषि उत्पादन की इन नई संभावनाओं ने जाटों को एक कृषि समुदाय के रूप में बसने के नए अवसरों की पेशकश की। नहरों के पास बसने वाले किसानों को दूसरों की तुलना में अधिक राजस्व देना पड़ता था। ऐसे किसानों को भू-राजस्व अधिकारियों द्वारा 'नेहरा' के रूप में वर्गीकृत किया गया था। किसानों के इस वर्गीकरण ने एक नई सामाजिक पहचान बनाई जैसे नेहरा या नेहरवाल गोत्र। अफीफ लिखता हैं कि फिरोजशाह ने नहरों की देखभाल के लिए कई सैनिकों और अधिकारियों की प्रतिनियुक्ति की थी ताकि जल गांवों और कस्बों में सुरक्षित रूप से बह सके।[59]

बेरवाल जाट भी हिसार में रहते थे। मूल रूप से, बेरवाल जाटों ने चूरू (राजस्थान) क्षेत्र में अपनी बस्ती को बसाया था। बाद में, चौदहवीं शताब्दी के बाद, वे हिसार (हरियाणा) के क्षेत्र में चले गए। मध्यकाल के दौरान, बेरवाल जाटों का क्षेत्र कम उपजाऊ था, जिसमें कांटेदार झाड़ियाँ और बेर के झाड़ थे। यह तथ्य बरनी द्वारा पुष्ट किया गया है जो बताता है कि जल की कमी के कारण, हिसार के क्षेत्र में बेर की झाड़ियों और अन्य कांटेदार पौधे बहुत मात्रा में पाए जाते थे।[60] 'बेर' शब्द उस क्षेत्र के जाट किसानों की सामाजिक पहचान से भी जुड़ा हुआ था, जिन्हें अब 'बेरवाल' के नाम से जाना जाता था। मलिक गोत्र के जाट न केवल हरियाणा में बल्कि पश्चिमी उत्तर प्रदेश में भी बसे हुए थे। मलिक गोत्र केवल जाटों तक ही सीमित नहीं है, बल्कि अन्य हिंदू जातियों, जैसे पंजाबी, हरिजन और गुर्जर को भी इंगित करता है। हमें यह गोत्र पाकिस्तान की मुस्लिम आबादी (लाहौर और रावलपिंडी के आसपास) में भी मिलता है। सल्तनत काल के दौरान, मुग़ल सेना में मंसबदार की तरह ही मलिक भी सेना में एक पदवी रखते थे। इसलिए, इस गोत्र की पहचान सैन्य रैंकों से सामने आई।[61] इसीलिए इस गोत्र के लोग विभिन्न जातियों में देखने को मिलते हैं। इसी तरह, दलाल गोत्र भी किसी एक सामान्य पूर्वज के आधार पर नहीं बल्कि एक निश्चित पेशे के आधार पर बनाया गया था। मध्यकाल के दौरान, दलाल, जो खाद्य पदार्थों और अनाज का व्यापार करते थे, उन्हें 'दलाल' कहा जाता था। जाट गोत्रों में से कुछ का गठन स्थानीयता की कसौटी पर किया गया था, जैसे कि पूनिया, संसनवाल, देशवाल, दहिया और बागड़ी। इसके अतिरिक्त तंवर, पंवार, चौहान और राणा जैसे अन्य गोत्र जाटों, राजपूतों और अन्य समुदायों में आम हैं। कुछ अन्य गोत्र जाट, बिश्नोई, गुर्जर, और हरिजनों के बीच आम हैं जैसे गोदारा, कटारिया और गोठवाल आदि।

मोर को जाटों का प्रतीक माना जाता है और उसके प्रति विशेष सम्मान है। क्रुक ने जाटों पर टिप्पणी करते हुए सुझाव दिया है कि कुछ समूह मोर के साथ अपनी उत्पत्ति का दावा करते हैं। उदाहरण के लिए, हरियाणा के जींद और हिसार जिलों में, जाटों के मूर और बनवाला (मयूर) गोत्र हैं। वास्तव में, मूर और बनवाला गोत्र के जाट अपने को भाई या भ्रातृ समूह मानते हैं।[62]

'मर्दुमशुमारी राजमारवाड़-1891' ने उल्लेख किया कि पूनिया और गोदारा जाट पश्चिमी राजस्थान के सबसे पुराने निवासी हैं। गोदारा का अर्थ है, जो लोग गायों को पालते हैं।[63] राजस्थान के चूरू जिले में बहुमत में पाए जाने वाले पूनिया जाट सबसे गरीब जाट समूहों में से हैं। इनकी उत्पत्ति बीकानेर

राज्य में स्थित पूनिया जाट नामक एक बड़े गाँव से हुई है।[64] कुछ परिवार, जिनकी आजीविका पशुपालन थी, हिसार के आसपास बसे हुए थे। जिस स्थान पर मवेशी पालन होता था, उसे 'खरक पूनिया' कहा जाता है।[65] राजस्थान के नागौर परगना में कई जाट समुदायों को उनके गांव के नाम से जाना जाता है, जैसे कि इंडाना, मुंडेल, जलवानिया, डीडेल, दुगोलिया और वर्नागवन।[66] भरतपुर और मथुरा जैसे अन्य क्षेत्रों में भी जाट गोत्र मिलते हैं, जो गाँव के नामों से प्राप्त होते हैं, जैसे सिनसिनवाल, सोगरिया और सोरोट।[67] अठारहवीं शताब्दी के अंत तक जाटों के इस प्रकार 250 से अधिक गोत्र देखने को मिलते है।[68] जाटों के बहुमत की पहचान या तो उनके व्यवसाय, गांव, क्षेत्र या किसी प्रकार के कुलदेवता पर आधारित थी। जाटों ने एक नई सामाजिक पहचान बनाने के लिए गोत्रों का उपयोग किया, जो समग्र होने के साथ-साथ विशिष्ट भी था।

जाटों से संबंधित ऐतिहासिक साक्ष्य समकालीन साहित्य में विशेष रूप से सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के बाद कृषि विद्रोहों की शुरुआत के साथ तेजी से प्रकट होते हैं। बड़ी संख्या में जाट किसानों और जमींदारों ने अपनी सामाजिक-आर्थिक स्थिति का दावा करने के लिए मुग़ल राज्य के विरुद्ध विद्रोह में भाग लिया। मुग़ल राज्य ने विद्रोहियों की गतिविधियों की जानकारी देने के लिए जासूसों की नियुक्ति की। चुड़ामन जाट के संबंध में रोचक जानकारी है कि वह मुग़लों से लड़ने वाला एक विद्रोही था। इस जानकारी में किले के स्थान, पुरुषों की संख्यात्मक शक्ति और रणनीति तथा धार्मिक समारोहों में भाग लेने के बहाने राजपूतों से भेंट करने की रणनीति सम्मिलित हैं।

हालांकि, किसी को शायद ही उम्मीद होगी कि इस प्रकार की राजनीतिक उथल-पुथल और लामबंदी के दौरान खांप पंचायत मुख्य भूमिका निभाएगी, रिपोर्ट में इस तरह के किसी संगठन का उल्लेख नहीं किया गया है। अगर यह संगठन मुग़ल काल में सक्रिय था तो यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि भू-राजस्व अधिकारियों और जासूसों ने मुग़ल अधिकारियों को इसका उल्लेख किया होगा। ऐतिहासिक साक्ष्य के विपरीत, वर्तमान खांप पंचायतें कम से कम मुग़लकाल से अपने अस्तित्व का दावा करती हैं। उन्होंने यह भी जोर दिया कि उन्होंने मुग़ल अधिकारियों के विरुद्ध लड़ाई लड़ी। भले ही पंचायतों ने जंगलों में अपनी बैठकें की हों, इसका उल्लेख या तो मुग़ल दस्तावेज़ों में या राजपूत अभिलेख और हिन्द-फारसी वृतांतों में मिलता है।

जाट विद्रोह

संगठित और निरंतर तरीके से मुग़लों के विरुद्ध विद्रोह जाटों की बढ़ी हुई

सामाजिक-आर्थिक स्थिति का एक स्पष्ट प्रमाण है, जिसमें जातिगत पहचान के कुछ रूप सम्मिलित हैं। सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और अठारहवीं शताब्दी के शुरुआती दौर में हुए विद्रोहों का सबसे महत्वपूर्ण कारण जाटों का आर्थिक शोषण बताया जा सकता है, जो मुग़ल सत्ता के साथ उनके संबंधों के कारण हुआ था। जाट आंदोलन (1668-1735 ई.) किसानों और जमींदारों का एक लंबा संघर्ष था, जिसने मुग़ल राज्य को उसकी जड़ों से हिला दिया। इसलिए, यह आश्चर्य की बात नहीं है कि जाट विद्रोह मुख्य रूप से आगरा, मथुरा, भरतपुर, दिल्ली, होडल, पलवल और मेवात के क्षेत्रों के आसपास केंद्रित था। जाट विद्रोहों ने किसानों की सामूहिक शक्ति से अपनी शक्ति प्राप्त की। मुख्य विद्रोही नेताओं में, जिन्होंने एकता की भावना और दिशा प्रदान की मुख्यतः गोकुल, राजाराम, भोजराज और चुड़ामन थे। हालांकि, सामूहिक संघर्षों का श्रेय खांप पंचायतों को नहीं जाता, क्योंकि उनके अस्तित्व का कोई प्रमाण नहीं है न ही खांप पंचायतों ने किसी भी दस्तावेज को बनाया और न ही मुग़ल सम्राट औरंगज़ेब के अत्याचारपूर्ण कार्यों की आलोचना की, जिसने आम जनता के सामने गोकुल जाट के सिर को धड़ से अलग करने का आदेश दिया था।

विभिन्न जातियों से संबंधित हजारों किसान, जैसे कि मीणा, मेव और गुर्जर, मुग़लों की कठोर भू-राजस्व नीति का विरोध करने के लिए जाटों के संघर्ष में सम्मिलित थे। उदाहरण के लिए, 1714 ई. में, मेव किसान, जो परगना खोहरी के बीस गाँवों के थे, ने मुग़लों द्वारा भारी भू-राजस्व वसूलने के कारण अपना गाँव छोड़ दिया और चुड़ामन जाट के थूण के किले में शरण ली,[69] जिसमें पहले से ही 12000 पेशेवर योद्धा मौजूद थे। चुड़ामन जाट ने प्रति दिन 3 रुपए के वेतन पर बरेली और सहारनपुर से कई अफगानों को नियुक्त किया।[70] जाटों की सेना में हेलाक और सिही के गुर्जरों का एक शक्तिशाली तबका था। हरजी गुर्जर मुख्य सेनानायक था, जिसकी मृत्यु दिल्ली में लड़ते हुए हुई। बाद में राजा सूरजमल ने उसकी स्मृति में हरजी कुंड स्मारक बनवाया।[71] यह स्पष्ट है कि जाट अपने संघर्ष में अकेले नहीं थे, बल्कि अन्य समुदायों द्वारा सहायता प्राप्त कर रहे थे, जो निकट रहते थे। तथ्यात्मक रूप से, मुग़ल काल के दौरान जाट आंदोलन के सामाजिक आधार को स्थानीय जाट जमींदारों ने मजबूत किया। उनकी सेना में किसान (उनकी जाति से अलग) सम्मिलित थे, जो मुग़ल राज्य द्वारा उन पर लगाए गए भारी भू-राजस्व मांगों के शिकार थे। उदाहरण के लिए, कोल (अलीगढ़) परगना में टप्पा खैर के अमर सिंह जाट तथा खुर्जा के क्षेत्र में नंदा जाट और उनके बेटे बहुत प्रभावशाली थे। इनके अतिरिक्त, जारगाँव के खेमकरण सोगारिया, रतिराम जाट, मेड़ू के दयाराम जाट, अनिसाराम,

रूपसिंह, गोविंदराम, तथा भूरे सिंह और छत्तरसिंह जाट जैसे अन्य लोगों का अपने-अपने क्षेत्र में विशेष प्रभाव था। वे अपने किले में मजबूत सैन्य टुकड़ियां रखते थे।[72] वे लूट को आपस में बांट लेते थे।[73] 1721 ई. में चूड़ामन की मृत्यु के बाद, जाट आंदोलन दो खंडों में विभाजित हो गया और बदन सिंह और मोहकम सिंह (चूड़ामन का पुत्र) के बीच एक शक्ति-संघर्ष हुआ, जिसे इन स्थानीय जाट जमींदारों के हस्तक्षेप से हल किया गया था। इन जमींदारों में से अधिकांश बदन सिंह के साथ थे क्योंकि वे मोहकम सिंह के झगड़ालू और अहंकारी स्वभाव से खुश नहीं थे।[74] इसके अतिरिक्त, यहां तक कि आमेर के कच्छवाहा राजा जय सिंह ने भी बदन सिंह के कारण का समर्थन किया था।[75] वर्ष 1723 में, डीग में एक जाट राज्य की स्थापना की गई थी, जिसे बाद में भरतपुर राज्य के रूप में जाना जाने लगा।[76] इसलिए, हम फिर से रेखांकित करना चाहेंगे कि जाटों के इस लंबे संघर्ष के दौरान, खांप पंचायतों की कोई भूमिका नहीं थी, जिसका हमारे पास उपलब्ध किसी स्रोत में कोई भी उल्लेख मौजूद नहीं है।

खांप पंचायत

जाटों के स्थानिक वितरण को देखते हुए, यह आश्चर्य की बात नहीं है कि खांप पंचायत की गतिविधियों का प्रमुख केंद्र हरियाणा, पश्चिमी उत्तर प्रदेश और राष्ट्रीय राजधानी दिल्ली के ग्रामीण क्षेत्रों से मिलकर बना है। हालांकि, मुग़ल काल के दौरान ये क्षेत्र प्रशासनिक दृष्टिकोण से दिल्ली सूबा के अधिकार क्षेत्र में थे।[77] कुछ क्षेत्र जैसे सहर, नारनौल और कोल (अलीगढ़) सरकार आगरा के अधिकार क्षेत्र में स्थित थे।[78] सोलहवीं शताब्दी के अंत में दिल्ली और आगरा सूबे के आसपास और जाटों के स्थानिक वितरण और सामाजिक स्थिति पर एक नजर रखना अनिवार्य है। दिल्ली सूबे में कुल 8 सरकारें और 232 परगना सम्मिलित थे। इनमें से 64 परगनों में जाट जमींदारियां थीं और इनमें से 27 परगनें जाट जमींदारों के पूरी तरह से नियंत्रण में थे और 37 परगनों में जाटों ने अपनी साझा जमींदारी अन्य जातियों के साथ की थी।[79] आगरा सूबे में कुल 13 सरकारें थीं, जिनमें 203 परगनें थे और उनमें से 22 परगनों में जाटों की जमींदारी सम्मिलित थी। इनमें से 5 परगनें जाट जमींदारों के पूर्ण नियंत्रण में थे (मतलब केवल जाट समुदाय) और 17 परगनों में जाटों ने अन्य जातियों के साथ जमींदारी को साझा किया था।[80] दिलचस्प बात यह है कि इन आंकड़ों से पता चलता है कि सोलहवीं शताब्दी के अंत तक दिल्ली और आगरा सूबे में जाटों का ज्यादा प्रभाव नहीं था। दिल्ली सूबे के अधिकांश परगनों

को खालसा (जिसकी भूमि का राजस्व सीधे मुग़ल सम्राट के खजाने में जमा किया जाता था) की श्रेणी में रखा गया था और बाकी के परगनों को *तनख्वाह जागीर* में, उनकी *तनख्वाह* के बदले में केन्द्रीय मनसबदारों को सौंपा जाता था। यही कारण है कि दिल्ली सूबे में, मुग़ल काल के भू-राजस्व प्रशासनिक अधिकारियों का परगनों के साथ-साथ ग्राम स्तर पर बहुत प्रभाव था। इसलिए, इस क्षेत्र में खांप पंचायतों की स्वतंत्रता और स्वायत्तता के बारे में बात करना भ्रामक होगा। *आईन-ए-अकबरी* ग्रन्थ हमें दिल्ली सूबा के कई परगनों के बारे में जानकारी देता है कि जाटों के साथ, राजपूत, मुस्लिम और ब्राह्मण जैसे अन्य जाति के जमींदार मौजूद थे, जिसका अर्थ है कि ग्राम परिषद में मिश्रित जातियां थीं। उदाहरण के लिए, 1665 ई. में, परगना चालकल्याण में जाटों ने 100 गाँवों में से 51.43 प्रतिशत जमींदारियों पर अधिकार कर लिया, जबकि 31.45 प्रतिशत और 17.14 प्रतिशत राजपूतों और मुसलमानों द्वारा नियंत्रित थे। एक अन्य महत्वपूर्ण बिंदू यह है कि जाटों की सामाजिक स्थिति और पहचान को सुदृढ़ करना सोलहवीं शताब्दी के बाद ही हुआ।[81] इस तथ्य से यह भी पुष्ट होता है कि बाद में आगरा सूबे में जाट विद्रोह (1668-1735 ई.) की कालावधि के दौरान जाट जमींदारों की संख्या में बहुत वृद्धि हुई।[82]

हम खांप पंचायत जैसी संस्था को प्रमुखता से विकसित करने की उम्मीद करेंगे, जो लंबे समय के उपरान्त विकसित हुई है। हालांकि, जाटों के इतिहास में खांप पंचायत का एक भी संदर्भ नहीं है। यहां तक कि बसावट के तरीके के अतिरिक्त साक्ष्य प्रस्तुत नहीं करते हैं। फिर भी, एकजुटता की प्रक्रिया की बेहतर समझ के लिए और खांप पंचायत की भूमिका का पता लगाने का प्रयास करने के लिए, यदि कोई हो, तो हमारे लिए मध्ययुगीन काल से ही पश्चिमी उत्तर प्रदेश के जाटों की सामाजिक स्थिति का विश्लेषण करना महत्वपूर्ण है। *आईन-ए-अकबरी* सूचित करती है कि कुल 22 परगनों में से केवल 7 परगनों में ही जाटों की जमींदारियाँ थीं। ये 7 परगनें कुटाना, मसुदाबाद, छपरौली, टांडा, झिमझिमाती, जलालाबाद और जलालपुर थे, जो आधुनिक मेरठ जिले में स्थित हैं।[83] शेष 15 परगनें पहले तागा, गुर्जर, राजपूत और मुस्लिमों के अधिकार में थे, जबकि धीरे-धीरे यह क्षेत्र जाटों के प्रभुत्व में आ गए।[84] इसी तरह, आधुनिक अलीगढ़ के क्षेत्र में, जिसे कोल सरकार के रूप में जाना जाता था, *आईन-ए-अकबरी* के अनुसार, इस सूबे के अधिकांश परगनों में राजपूतों और मुस्लिम जमींदारों का वर्चस्व था। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सोलहवीं शताब्दी के अंत तक अलीगढ़ सरकार में कोई जाट जमींदारी नहीं थी।[85] बाद में हमें राजस्थानी स्रोतों से कई प्रमाण मिलते हैं, जो बताते हैं कि सत्रहवीं शताब्दी के

अंत तक, जाटों ने कोल (अलीगढ़) सरकार में कई परगनों पर अपनी जमींदारी स्थापित कर ली थी।[86] अठारहवीं शताब्दी के दौरान, जाटों ने जावर, मुरासान, हाथरस और इगलास के क्षेत्रों में बड़ी तालुकदारियों की स्थापना की थी।[87] इन बड़ी तालुकदारियों ने भरतपुर राज्य की सैन्य संरचना की स्थापना की और बाद में तत्कालीन राजनीति में प्रमुख भूमिका निभाई। पश्चिमी उत्तर प्रदेश के क्षेत्र में जाट जमींदारियों के अचानक उदय में दो कारकों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। पहला यह था कि कई नए जाट, बहुतायत में उपलब्ध भूमि की तलाश में इस क्षेत्र में चले गए थे। *आईन-ए-अकबरी* के अनुसार, क्षेत्र का प्रमुख हिस्सा सोलहवीं शताब्दी के अंत में वृहद् रूप से जंगल का भाग था और इसलिए बस्तियों के लिए संभावनाओं की पेशकश की गई थी। दूसरा, कृषि विद्रोहों की अवधि के दौरान, जाटों ने अपनी जमींदारियों से गुर्जर और तागाओं को सफलतापूर्वक बदल दिया था और अपनी बेहतर सैन्य शक्ति और सामाजिक स्थिति के कारण अपनी स्वयं की जमींदारी स्थापित की थी। उस समय के ब्रिटिश भू-राजस्व अधिकारी, गिलन ने कहा—

> ''जाट कठिन मितव्ययी पुरुष हैं, और यह कहना अति मुश्किल है प्रशंसनीय काश्तकारों को। वे सम्पूर्ण जिले (मेरठ) में और लगभग हर स्थान पर बड़ी संख्या में पाए जाते हैं, लेकिन उनकी मुख्य संपत्ति उत्तर-पश्चिम में है जहां वे उसे 'देस' बुलाते हैं। ऐसा कहा जाता है कि उन्होंने तागाओं को जिले पर आक्रमण कर उन्हें वहां से खदेड़ दिया था।''[88]

पश्चिमी उत्तर प्रदेश के जाटों को 92 गोत्रों में विभाजित किया गया है, जिनमें से अधिकांश राजपूतों के समान हैं, उदाहरण के लिए, तोमर, पंवार, राणा, चौहान, गहलोत और इसी तरह नृवंशविज्ञान के अनुसार इन क्षेत्रों के जाटों को दो व्यापक श्रेणियों—*हाली* और *देस* में वर्गीकृत किया जा सकता है—जिन्हें आमतौर पर 'पछाड़ा' और 'देसवाल' के नामों से जाना जाता है।[89] आम बोलचाल में, इन्हें बागड़ी और देसवाला के नाम से भी जाना जाता है। देसवालों ने स्वयं को मूल निवासी माना हैं जबकि पछाड़ों को 'बागडी' या बाहर के निवासियों के रूप में माना था परिणामस्वरूप उन्हें हीन माना जाता था। पछाड़ों का मानना है कि उनके पूर्वज लगभग 1000 ई. के आसपास जैसलमेर और सिंध के क्षेत्रों से आकर बसे थे।[90]

यद्यपि खांप पंचायतों का दावा है कि वे दिल्ली सल्तनत के काल से प्रभावी समुदाय थे, पूर्वगामी खण्डों में किया गया विश्लेषण दर्शाता है कि

सोलहवीं शताब्दी के अंत तक जाटों की सामाजिक स्थिति कमजोर रही। आधुनिक समय में, पंचायत का सबसे संयुक्त रूप मेहम चौबीसी (रोहतक) (24 गांवों की पंचायत) में पाया गया है और यहां तक कि इसमें समाज के विभिन्न वर्गों के प्रतिनिधि भी हैं। मेहम चौबीसी सर्वखांप पंचायत भी एक पुरानी संस्था होने का दावा करती है, लेकिन मुग़ल अधिकारियों द्वारा जारी किए गए किसी भी लिखित फरमान या स्रोत से इनका दावा पुष्ट नहीं होता है। शोरम गांव (मुजफ्फरनगर जिले) के चौधरी काबुल सिंह के पास सम्राट अकबर द्वारा जाट खांप पंचायतों को जारी किए गए कई खत हैं जो हिंदी में लिखे गए हैं, हालांकि कई उर्दू शब्दों को भी सम्मिलित किया गया हैं। लेकिन जब एक मध्यकालीन इतिहासकार द्वारा जांच की गई, तो राजस्थान राज्य अभिलेखागार के इन स्रोतों को वास्तविक नहीं पाया गया, क्योंकि वे फारसी में नहीं लिखे गए थे, जो मुग़ल साम्राज्य में राज्य की भाषा थी। मुग़ल फरमानों को दो तरह से पहचाना जा सकता है; प्रथम 'अल्लाह-हु-अकबर' जिसका अर्थ है 'ईश्वर महान् है', जो कि फरमान में सबसे ऊपर लिखा होता है और द्वितीय, उनमें हमेशा बादशाह की मुहर होती है। मुहर के साथ, हम तुगरा (सम्राट के सजाए गए हस्ताक्षर को तुगरा कहा जाता था) भी पाते हैं, सम्राटों और उनके पूर्वजों का नाम फरमान पर खुदा हुआ होता था। खांप पंचायतों के अधिकार वाले किसानों के पास न तो मुहरें हैं और न ही मुग़ल सम्राटों के तुगरा।

पश्चिमी उत्तरप्रदेश में, पछाड़ा और देसवालों के बीच नस्लीय अंतर का एक अच्छा उदाहरण देखने को मिलता है, जहां पहले को सामाजिक रूप से हीन माना गया है। हालांकि, सामाजिक और आर्थिक दृष्टिकोण से, पछाड़ा, देसवालों की तुलना में कहीं अधिक उन्नत थे। ऐसा लगता है कि पछाड़ों ने खांप पंचायतों का हवाला देकर अपनी श्रेष्ठता का दावा किया है। बीसवीं शताब्दी के आरंभ में मराठों के बारे में भी ऐसा ही इतिहास लिखा गया था जब औरंगज़ेब के शासनकाल के दौरान मुग़ल राज्य के विरुद्ध उनके विद्रोह को 'हिंदू जागरण' या एक तरह के राष्ट्रीय आंदोलन के रूप में प्रस्तुत किया गया था। यह निष्कर्ष निकालने के लिए कोई ऐतिहासिक आधार नहीं है कि ऐसा इतिहास जाटों द्वारा खांप पंचायतों के महत्व पर प्रकाश डालने के लिए लिखा गया था।

मुग़ल साम्राज्य के विरुद्ध जाटों द्वारा सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के दौरान कृषि आंदोलनों ने उनकी सामाजिक पहचान को सुदृढ़ किया। इस अवधि के दौरान, जाट जमींदार अपने गढ़ (गढ़ी) में बड़ी संख्या में जाट किसानों को जुटाने में सक्षम थे। आसपास के गाँवों के किसान जाट जमींदारों

की गढ़ी में इकट्ठा होकर अपने भारी भू-राजस्व के बोझ से छुटकारा पाने की उम्मीद करते थे। इस प्रक्रिया ने न केवल जाट किसानों और जाट जमींदारों के बीच भाईचारे की भावना को मजबूत किया बल्कि इसने जाट समुदाय को एक मजबूत राजनीतिक और सामाजिक पहचान भी प्रदान की। उदाहरण के लिए, सिनसिनी गाँव के (राजा राम, भज्जा, चूड़ामन और भी अन्य) जमींदारों की पहचान सिनसिनवाल गोत्र के जाटों के रूप में की गई थी। इसी तरह, सोगरिया और सोरोट जाटों ने भी क्षेत्र के आधार पर अपनी पहचान को अच्छी तरह से सुदृढ़ता दी।[91]

जाट खांप पंचायतों ने सामाजिक और सांस्कृतिक प्रथाओं के आधार पर एक ही गोत्र में लड़के और लड़कियों के विवाह करने पर आपत्ति जताई है; खांप पंचायतों का कहना है कि जाट समाज ने प्राचीन काल से ऐसी प्रथाओं को अस्वीकार्य किया है और वे इस तरह के अंतर-विवाह पर प्रतिबंध लगाकर अपनी सांस्कृतिक विरासत की रक्षा करने का दावा करते हैं। इसलिए, जाटों के इतिहास में सामाजिक और सांस्कृतिक तत्त्वों के कुछ पहलुओं पर चर्चा करना आवश्यक हो जाता है। इतिहासकारों ने पाया है कि मध्यकाल में कुछ जाट गोत्रों की उत्पत्ति किसी विशेष व्यक्तित्व की अपेक्षा व्यवसायों या स्थानीयता से जुड़ी हुई है। राजस्थानी स्रोत और ब्रिटिश नृवंश-विज्ञानियों की रिपोर्ट बताती है कि हालांकि जाट समाज ने पूर्व-आधुनिक काल में विवाह के लिए किसी विशेष सामाजिक रीति-रिवाजों और परम्पराओं का पालन नहीं किया, लेकिन जाट अपने गोत्र में विवाह नहीं करते हैं। प्रभुदयाल मित्तल ब्रज क्षेत्र के जाटों के बारे में लिखते हैं कि वे बड़े भाई की विधवा से शादी कर सकते हैं। यह परंपरा उन्हें अन्य हिंदुओं से अलग करती है, क्योंकि, हिंदू समाज में, बड़े भाई की पत्नी की उच्च सामाजिक स्थिति होती है, जो परिवार में मां के बाद दूसरी होती है। यही कारण है कि जाट बड़ी संख्या में बढ़ रहे हैं। जाट अपनी शादी के बाद किसी भी महिला को अपने घर में रख सकते हैं। इसीलिए जाट को निम्न या निम्न हिंदू जाति भी माना जाता था।[92]

राजस्थानी स्रोत बताते हैं कि जाट अन्य जातियों की महिलाओं से विवाह कर सकते थे। इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए, परगना जलालपुर के गिरधर जाट ने 1739 ई. में मुरली नाई की पूर्व पत्नी से शादी की और राज्य को गारेचा कर (पुनः विवाह पर कर) का भुगतान किए बिना उसे अपने साथ रखा। जब इस मामले का पता चला, तो उस पर *आमिल* द्वारा 20 रुपए का जुर्माना लगाया गया।[93] इसी तरह परगना हरसाना के ग्राम नैनापुर के परसा जाट ने एक

अहीर महिला से शादी कर ली।[94] इसी तरह परगना मौजपुर के जयसिंहपुरा के नाथू जाट का विवाह नानू माली की पूर्व पत्नी से हुआ।[95] आमेर राज्य के *अड़सट्ठा* स्रोत के *हासिल फरोही* मद के अंतर्गत, हमें कई उदाहरण मिलते हैं, जिसमें जाट समुदाय ने उस व्यक्ति के लिए कोई प्रतिबंध जारी नहीं किया, जो दूसरी जाति की महिला से विवाह करना चाहता था। इसलिए, जाटों ने विवाह के संबंध में रीति-रिवाजों और परंपराओं के बारे में कोई प्रतिबंध या निषेध नहीं किया। इसीलिए यह कहावत प्रचलित है कि—

जाट का क्या हिन्दू, और मेवों का क्या मुसलमान।

इससे यह पता चलता है कि जाटों के धर्म को हिंदू या मुस्लिम के रूप में मेवों के धर्म को स्पष्ट रूप से समझना मुश्किल है। जाटों ने हिंदू परंपराओं का कठोरता से पालन नहीं किया, न ही मेवों ने मुस्लिम परंपराओं का बारीकी से निरीक्षण किया। यह कहावत इस प्रकार की आधुनिकता की श्रेणियों को पकड़ती है जैसे जाट हिंदू और मेव मुसलमान। कोई यह कह सकता है कि जाट समुदाय ब्राह्मणवादी हिंदू व्यवस्था की कठोर सीमाओं से अलग खड़ा था। संभवतः यह एक कारण हो सकता है कि आज जाट जाति ब्राह्मणों के अतिरिक्त किसी भी अन्य जाति की तुलना में अधिक हैं। इससे यह भी पता चलता है कि मुग़ल काल से लेकर आज तक, जाट समुदाय अन्य जाति समूहों से अलग तरीके से विकसित हुआ हैं।

आर.पी. राणा ने अपने अध्ययन में यह भी दिखाने का प्रयास किया कि जाट समुदाय की सामाजिक-सांस्कृतिक परंपराएँ और प्रथाएँ हिंदू जाति व्यवस्था की कठोर धार्मिक-सांस्कृतिक व्यवस्था के अनुरूप नहीं थीं।[96] हालांकि मध्यकाल में भक्ति आंदोलन से हरियाणा का अधिकांश क्षेत्र अछूता रहा, लेकिन इस एकेश्वरवादी आंदोलन का प्रभाव अभी भी कई स्थानों पर देखा जा सकता है। रोहतक के पास के क्षेत्रों को नाथपंथियों से प्रभावित माना जाता है। पास ही, असथल बोहर गाँव में नाथपंथियों की गद्दी इसे सिद्ध भी करती है। नाथपंथियों की विचारधारा से जाट प्रभावित हो सकते हैं। बड़े नाथपंथियों ने भी ब्राह्मणवादी धार्मिक विचारधारा को खारिज कर दिया था।[97] अठारहवीं शताब्दी के बाद से, जाट दिल्ली और बहादुरगढ़ (हरियाणा) के ग्रामीण क्षेत्रों में बाबा हरिदास की एकेश्वरवादी विचारधारा के अनुयायी रहे हैं। इसी प्रकार, निश्चलदास और गरीबदास हरियाणा के झज्जर जिले के गाँवों में जाटों के धार्मिक-सांस्कृतिक उपदेशक रहे हैं।[98] ये संत एकेश्वरवादी विचारधारा के अनुयायी थे, जिन्होंने ब्राह्मणवादी विचारधारा और जाति व्यवस्था के प्रभुत्व को

चुनौती दी थी। नाथपंथियों और एकेश्वरवादी धार्मिक विचारधारा के सिद्धांतों के बीच कई समानताएँ हैं। इसलिए, यह कहना गलत नहीं होगा कि रोहतक, झज्जर, बहादुरगढ़ और दिल्ली के ग्रामीण क्षेत्र ने कभी कठोर जाति अलगाव की नकल नहीं की है क्योंकि यह क्षेत्र एकेश्वरवादी विचारधारा से प्रभावित था। बाद में, बीसवीं शताब्दी की शुरुआत में, ये क्षेत्र आर्य समाज के प्रभाव में आए। तत्पश्चात, संभवत: आर्य समाजी विचारधारा ने इन क्षेत्रों में बड़ी संख्या में गुरुकुल स्थापित किए।

निष्कर्ष

पूर्वगामी खण्डों में की गई चर्चा स्पष्ट करती है कि खांप पंचायत के दीर्घ ऐतिहासिक अस्तित्व होने के दावों को बनाए रखना मुश्किल है। यहां तक कि जाट समुदाय और पंचायत के विचार से संबंधित ऐतिहासिक दस्तावेजों पर एक सरसरी नजर डालते हैं तो, ये दस्तावेज, ऐसे किसी भी दावे को चुनौती देने के लिए पर्याप्त है। इस आलेख में विशेष रूप से जाट क्षेत्रों में पंचायतों की प्रकृति की ऐतिहासिक रूप से जांच करने की कोशिश की है और तर्क दिया है कि मुग़ल काल के दौरान पंचायतों की प्रकृति पूरी तरह से ब्रिटिश अधिकारियों और इतिहासकारों द्वारा स्पष्ट नहीं की गई थी। मुग़ल काल में ग्राम पंचायत एक स्वायत्त या स्वतंत्र संगठन नहीं था, और इसका क्षेत्र और कार्य की पहुंच सीमित थी। ज्यादातर झगड़े और अपराध के मामले जो ग्रामीण स्तर से संबंधित थे, उन्हें आमिल के कार्यालय में भेज दिया जाता था और इस तरह से पंचायतों की यदि कोई भूमिका थी तो वह बहुत सीमित थी। जब ग्रामीण पंचायतें न तो स्वायत्त थीं और न ही स्वतंत्र थीं तो खांप पंचायतों की स्वायत्तता और प्रभाव पर विचार कैसे संभव है?

अग्रलिखित कारणों पर ध्यान देना महत्वपूर्ण है। खांप पंचायत, सम्पूर्ण जाट समुदाय में आम या लोकप्रिय नहीं हैं। वे राजस्थान के बीकानेर, चूरू, सीकर, जोधपुर, नागौर, मेड़ता, गंगानगर और हनुमानगढ़ जिलों में पूरी तरह से अज्ञात हैं, जहाँ मध्यकाल से बड़ी संख्या में जाट किसान निवास करते रहे हैं। हरियाणा में भी सिरसा जिले के जाट किसान खांप पंचायत से परिचित नहीं हैं। इसी प्रकार मध्यकाल में खांप पंचायत जैसा कोई संगठन नहीं था जो स्वतंत्र और चरित्र में स्वायत्त हो। ऐसा दावा किसी भी समकालीन ऐतिहासिक स्रोत द्वारा समर्थित नहीं है। जाटों पर निर्भर एक महत्वपूर्ण स्रोत पंडित कान्हाराम द्वारा हस्तलिखित पोथी है, जिसमें मध्यकाल से सर्वखांप पंचायतों से संबंधित घटनाओं की तारीखों और बैठकों का उल्लेख है। इस पोथी में उल्लेखित बहुत

कम तारीखें वास्तव में ऐतिहासिक घटनाओं की तारीखों से मेल खाती हैं। इसके अतिरिक्त, पंडित कान्हाराम की पोथी की ऐतिहासिकता को सत्यापित करना आवश्यक है। सबसे पहले, पोथी में दावा किया गया है कि सर्वखांप पंचायतें अपने निर्णय लेने में स्वतंत्र और स्वायत्त थीं। दूसरा, वे मुग़ल सम्राटों और दिल्ली के सुल्तानों की हिंदू-विरोधी नीतियों का विरोध करने वाले थे। तीसरा, वे कथित रूप से राष्ट्रीय चेतना से प्रेरित थे और इसलिए मुस्लिम आक्रमणकारियों के विरुद्ध लड़े, उदाहरण के लिए, बारहवीं शताब्दी में मोहम्मद गौरी, चौदहवीं शताब्दी के अंत में तैमूर लंग, सौलहवीं शताब्दी में बाबर और 1761 ई. में पानीपत की तीसरी लड़ाई में अहमद शाह अब्दाली।[99] यह विवाद पुष्ट जानकारी की अनुपस्थिति में बहुत अस्थिर है। बाबर ने अपने 'बाबरनामा' में खानवा की लड़ाई का बहुत अच्छा वर्णन किया है और बाबर के विरुद्ध लड़ने के लिए राणा साँगा के समर्थन में आने वाले छोटे-छोटे अमीर और शासकों के नामों का वर्णन किया है। लेकिन 'बाबरनामा' ने कही भी जाटों या उनकी पंचायतों की भूमिका के बारे में कुछ भी उल्लेख नहीं किया है। इसी तरह, यह भी किसी भी ऐतिहासिक स्रोत द्वारा समर्थित नहीं है कि जाटों ने पानीपत की तीसरी लड़ाई में मराठा सरदार भाऊ के पक्ष में लड़ाई लड़ी थी।

यह मानना महत्वपूर्ण है कि चौधरी चरणसिंह की राजनीति के साथ ही, 1960 के बाद पश्चिमी उत्तर प्रदेश के जाटों की एक अच्छी तरह से परिभाषित पहचान ने ठोस रूप ले लिया। इस चरण के दौरान, अपने स्वयं के गोत्रों के आधार पर, कई खांपें भी अस्तित्व में आईं, जो पहले एक भ्रूण अवस्था में थीं। इन खांपों ने कई स्थानीय राजनीतिक नेताओं को जन्म दिया। हरियाणा की राजनीति में भी, इन खांपों ने आपातकाल की अवधि के बाद ही बोलबाला किया। हरियाणा में, खांप पंचायतों के उदय का श्रेय पश्चिमी उत्तर प्रदेश की तर्ज पर चौधरी देवीलाल की राजनीति को दिया जाता है।

हाल ही में, खांप पंचायतों ने अपने सदस्यों के लिए नए आदेश जारी करना शुरू कर दिया है और 1955 के हिंदू विवाह अधिनियम में भी संशोधन करने का प्रयास कर रहे हैं।

यह आश्चर्य की बात नहीं है कि वास्तव में, खांप पंचायतें स्वभाव से पितृसत्तात्मक हैं। अफसोस की बात है कि खांप पंचायतों का एक निर्णय इस प्रकार है—23 मार्च 1993 (रविवार) को सिसाना गांव में खांप पंचायत की एक बैठक जाटों की दहिया खांप द्वारा आयोजित की गई थी, जिसमें एक लाख से अधिक लोगों (सरपंचों) ने हरियाणा, दिल्ली, उत्तर प्रदेश, पंजाब और राजस्थान से भाग

लिया।[100] सर्वखांप का नेतृत्व दहिया खांप के प्रमुख चौधरी रामफल दहिया ने किया था। महिलाओं के विषय में पंचायत में लिए गए निर्णय इस प्रकार हैं: सर्वखांप ने सर्वसम्मति से निर्णय लिया कि एक लड़की के अधिकारों का निर्णय पिता की संपत्ति के बजाय पति की संपत्ति से लिया जाना चाहिए। केवल भाई की अनुपस्थिति में बेटी के लिए विरासत के अधिकार पारित होने चाहिए। सर्वखांप का मानना है कि शिक्षा की असमानता और लड़कियों को लड़कों की तरह शिक्षित किया जाना चाहिए, लेकिन सह-शैक्षिक स्कूलों और कॉलेजों के बजाय, लड़कियों के लिए अलग स्कूल और कॉलेज होने चाहिए। परिवार की लड़कियों या महिलाओं को बारात (विवाह पार्टी) में नहीं जाना चाहिए। सर्वखांप ने पंचायती राज द्वारा उन्हें दिए गए 33 प्रतिशत महिला-आरक्षण का भी विरोध किया। इन निकायों ने हमेशा महिलाओं के लिए विरासत के अधिकार का विरोध किया है। इन खांप पंचायतों के दबाव में, हरियाणा सरकार ने विरासत के अधिकार में एक संशोधन किया और इसे अनुमोदन के लिए राष्ट्रपति के पास भेजा। हालाँकि, यह माननीय राष्ट्रपति द्वारा खारिज कर दिया गया था। इस प्रकार उनके दृष्टिकोण में खांप पंचायतें न केवल लोकतांत्रिक संस्थाओं का विरोध करती हैं, बल्कि महिला विरोधी भी हैं।

यह सुझाव देना गलत नहीं होगा कि इन पंचायतों की बदली हुई सामाजिक रचना हमें उनकी बढ़ती रूढ़िवादिता के बारे में बहुत कुछ बताती है। जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है, हरियाणा और पश्चिमी उत्तरप्रदेश के कुछ जिलों में जाट अपनी बहुल आबादी के आधार पर क्षेत्र को बहुत प्रभावित करते रहे है। वे व्यापक कृषि भूमि के मालिक हैं और स्थानीय प्रशासन और राजनीति में एक प्रमुख स्थान का उपभोग करते हैं। हालाँकि, हाल के दिनों में, यह देखा गया है कि खांप पंचायतों में सेवानिवृत्त सैन्य अधिकारियों या नागरिक अधिकारियों का सक्रिय वर्चस्व है, जो इसे अपनी राजनीतिक छवि बनाने के लिए एक मंच के रूप में उपयोग करते हैं। इन लोगों ने गोत्र और वैवाहिक विवाद जैसे संवेदनशील मुद्दों को उठाने में संकोच नहीं किया। संस्कृति और परंपरा की सुरक्षा के बहाने खांप पंचायतों को राजनीतिक लाभ प्राप्त करने और बड़े पैमाने पर उन्माद पैदा करके स्थानीय आबादी की अज्ञानता का फायदा उठाने के लिए उपयोग किया जा रहा है।

जाट समुदाय में, यदि कोई लड़का और लड़की एक ही गोत्र में विवाह करते हैं, तो खांप पंचायतें उन्हें अपराधी और उनकी सामाजिक आचार-संहिता का उल्लंघन करने वाली घोषित करती हैं। खांप पंचायतों ने तर्क दिया कि समान गोत्र के लोगों का सामान्यत: एक ही पूर्वज होता है, जिसे दादा कहा जाता है। एक ही गोत्र से संबंधित दंपति भाई-बहन की तरह होते हैं और इस प्रकार, वे एक-

दूसरे से शादी नहीं कर सकते। अधिकांश खांप पंचायतों का मूल चरित्र पितृसत्तात्मक है और इसकी अधिकांश नीतियां महिला विरोधी हैं। यहां तक कि इन पंचायतों द्वारा न्याय की व्यवस्था की एक झलक भी इसके वास्तविक चरित्र की स्पष्ट गवाही है। मैं यह निष्कर्ष निकालना चाहूंगा कि खांप पंचायतों के पास कोई वैधता या ऐतिहासिक आधार नहीं है। प्राचीन सामाजिक संस्थानों में उनका कोई आधार नहीं है, लेकिन वे हाल ही में निर्मित किये गये हैं और आधुनिक सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक स्थितियों के संदर्भ में अस्तित्व में आए हैं।

सन्दर्भ

* मैं असंवेदनशील टिप्पणियों के लिए अनाम समीक्षक का आभारी हूं। मैं, प्रो. दिलबाग सिंह, प्रो. योगेश शर्मा, आर.पी. बहुगुणा, राजेश कुमार, मयंक कुमार, सुरेन्द्र कुमार और पत्रिका के संपादकों का भी उनकी बहुत ही प्रासंगिक टिप्पणियों के लिए आभारी हूं।

1. सुसान बेली, कास्ट, *सोसाइटी एंड पॉलिटिक्स इन इंडिया : फ्रॉम द एटीन्थ सेंचुरी टू द मॉडर्न ऐज*, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज, 1999; निकोलस डर्क, कास्ट्स ऑफ माइंड, प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटन, 2001
2. जगमती सांगवान, *महिला मुक्ति व स्वयंभू जाति*—गौत्रवाड़ी पंचायतें, उद्भावना, वर्ष 25, भाग 91, जनवरी, 2011, पृ. 52-58
3. कान्हा राम, *अनटाइटल्ड पोथी* (चौधरी काबुल सिंह गाँव—शोरम, जिला—मुजफ्फरनगर के अधिकार में) जिसमें 16 गलत तरीके से बंधे हुए पत्ते थे। पहला पत्ता, हालांकि उत्परिवर्तित, संवत 1840 का उल्लेख करता है। स्याही और अक्षरों के आकार में दिखाई देने वाला अंतर इसके क्रमिक संकलन की ओर इशारा करता है। यहां तक कि अगर इसका प्रारंभ संवत 1840 में हुआ तो यह बाद की तारीख में पूर्ण हुआ। इसके लेखक, पंडित कान्हाराम के बारे में कहा जाता है कि वे स्थानीय ख्याति के व्यक्ति थे और ग्राम शोरम, जिला—मुजफ्फरनगर के निवासी थे। खराब हिंदी में लिखी गई यह पांडुलिपि पहले से ज्यादातर एक असंबद्ध संकलन है, लेकिन अब लेखक के स्वयं के अवलोकन से पोथियां आंशिक रूप से, मध्यकाल के दौरान जाटों और अन्य स्थानीय लोगों, विशेषकर दोहा और हरियाणा क्षेत्र की गतिविधियों को दर्शाता है। इसका पूर्व भाग, 3 ए -11 ए, संवत 1252, 1254 (बड़ौत के पास एक जंगल में), 1256, 1305, 1352 (भोकरहेड़ी) 1317 (लिब्बरहेड़ी), 1344 (शिकारपुर), 1383 में आयोजित सर्वखांप पंचायत की बैठकों को संदर्भित करता है। (सिसौली), 140 ((सिसौली के पास एक जंगल में), 1455 (चौगामा के एक जंगल में), 1460 (सिकारपुर), 154 ((बड़ौत के पास एक जंगल में), 1560 (बावली), 1584, 1597 (कैरना), 1613

(निसार), 1621 (शोरम), 1665 (खेकरम), 1686 (निसार), 1718 (छपरौली), 1727, 1764 (भैसेवाल), 1766 (करनाल) और 1817 (सिसौली)। पोथी का उत्तरार्द्ध भाग (पत्रांक-11ए-16बी) उलट जाता है, जाटों और अन्य लोगों के सामाजिक रीति-रिवाजों और सर्वखांप पंचायत के स्वरूप, कार्यक्षेत्र, प्रारूपण और कार्यप्रणाली की जानकारी प्रदान करता है। कुछ मामलों में तिथियाँ गलत हैं और सर्वखांप पंचायत की बैठकों और किसी भी लड़ाई के लिए उठाए गए स्थानीय सेना में भाग लेने वालों की संख्या अत्यधिक बढ़ गई है। देखिए—जी.सी. द्विवेदी, द *जाट्स : देयर रोल इन द मुग़ल एम्पायर*, महाराजा सूरजमल मेमोरियल एजुकेशन सोसाइटी, दिल्ली, 1989, पृ. 250

4. वही, पृ. 16
5. *ताज-उल-मासीर*, इलियट एंड डाउसन, द *हिस्ट्री ऑफ इंडिया एज टोल्ड बाय इट्स ओन हिस्टोरियंस*, वॉल्यूम-II, लो प्राइस पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 1867/1877/1990,, पृ. 218
6. *मलफुजात-ए-तैमूरी*, इलियट और डाउसन, द *हिस्ट्री ऑफ इंडिया एज टोल्ड बाय इट्स ओन हिस्टोरियंस*' वॉल्यूम-III, पृ. 248-49
7. वही
8. द्विवेदी, द *जाट्स*, पृ. 16
9. वही, पृ. 20-21
10. सतीश चंद्र, 'जजिया एंड द स्टेट इन इंडिया डूरिंग द 17जी सेंचुरी', उद्धृत-*एसेज ऑन मेडिवल इंडियन हिस्ट्री*, संपा. सतिश चंद्र, नई दिल्ली, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2003, पृ. 305-24
11. इरफान हबीब, द *एग्रेरियन सिस्टम ऑफ मुग़ल इंडिया*, दूसरा संशोधित संस्करण, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, 1999, पृ. 390-94
12. द्विवेदी, द *जाट्स*, पृ. 183
13. वही, पृ. 184-87
14. कान्हा राम, *अनटाइटल्ड पोथी*
15. जियाउद्दीन बरनी, *तारीख-ए-फिरोजशाही*, इलियट और डाउसन, द *हिस्ट्री ऑफ इंडिया—एज टोल्ड बाय इट्स ओन हिस्टोरियंस*, वॉल्यूम-3, प्रथम संस्करण 1867, लो प्राइस पब्लिकेशन, नई दिल्ली,1990, पृ. 238
16. हबीब, द *एग्रेरियन सिस्टम ऑफ मुग़ल इंडिया*, पृ. 392
17. एम.सी. प्रधान, द *पॉलिटिकल सिस्टम ऑफ द जाट्स ऑफ नार्थन इंडिया*, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, बॉम्बे, 1966, अध्याय 5-6

18. *रिपोर्ट मर्दुमशुमारी राज-मारवाड़*, हिंदी, महाराजा मानसिंह पुस्तक प्रकाश शोध केंद्र, जोधपुर, 1891/2010
19. वही
20. वही
21. हबीब, द *एग्रेरियन सिस्टम ऑफ मुग़ल इंडिया*, पृ. 158-59
22. दिलबाग सिंह, स्टेट, *लैंडलॉर्ड्स एंड पीजेन्ट्स*, मनोहर, नई दिल्ली, 1990, पृ. 185-93
23. *अर्जदाश्त*, मिति कार्तिक सुदी 7, वि.सं. 1783/1726 ई., ऐतिहासिक खंड, जयपुर अभिलेख, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर—जगजीवन दास *आमिल* ने परगना पहाड़ी के चौधरी और कानूनगो को निर्देश दिया कि वे आसपास के गाँवों के बारह पंच-पटेलों की सहायता से दो गाँवों अर्थात् डोब और जेवली के बीच भूमि विवाद को हल करें।
24. अबुल फजल, *आईन-ए-अकबरी*, वॉल्यूम-II, अनुवादक—एच. ब्लोकमेन, लो प्राइस पब्लिकेशन, दिल्ली, 1989, पृ. 193-206, 291-301
25. दिलबाग सिंह, *स्टेट, लैंडलॉर्ड्स एंड पीजेन्ट्स*, पृ. 178-179
26. चिट्ठी *आमिल परगना खोहरी*, मिति वैशाख वदी 2, वि.सं. 1785/1728 ई., हिस्टोरिकल सेक्शन, जयपुर रिकॉर्ड्स, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर
27. दिलबाग सिंह, *स्टेट, लैंडलॉर्ड्स एंड पीजेन्ट्स*, पृ. 179
28. *आमिल परगना खोहरी* को चिट्ठी, मिति कार्तिक वदी, 4, वि.सं. वि.सं. 1792/1735 ई.
29. *अर्जदाश्त*, मिति ज्येष्ठ सुदी, 9, वि.सं. 1769/1712 ई., ज्येष्ठ सुदी, 14, वि.सं. 1770/1713 ई.
30. *अड़सठा, परगना सहर*, वि.सं. 1747/1690 ई., हि.से., ज.रि., राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर
31. वही
32. *अड़सठा, परगना सहर*, वि.सं. 1770/1713 ई., हि.से., ज.रि.
33. वही
34. *अड़सठा, परगना सहर*, वि.सं. 1746/1689 ई., हि.से., ज.रि.
35. *अड़सठा, परगना सहर*, वि.सं. 1787/1730 ई., हि.से., ज.रि.
36. *अड़सठा, परगना चालकल्याण*, वि.सं. 1722/1665 ई., हि.से., ज.रि.
37. अबुल फजल, *आईन-ए-अकबरी*, पृ. 291-301

38. वही, पृ. 186-187
39. *चिट्ठी आमिल परगना खोहरी*, मिति वैशाख वदि 4 वि.सं. 1790/1733 ई.
40. *चिट्ठी आमिल परगना परागपुर*, मिति चौत्र सुदी 6 वि.सं. 1793/1736 ई.
41. *मर्दुमशुमारी राज*-मारवाड़, पृ. 50
42. आर.एस. शर्मा, *ओरिजिन ऑफ द स्टेट इन इंडिया*, इतिहास विभाग, बोम्बे विश्वविद्यालय, बॉम्बे, 1987, पृ. 6
43. वही, पृ. 6
44. प्रारंभ में गोत्रों की संख्या चार से आठ के बीच थी, लेकिन प्रारंभिक मध्ययुगीन सदियों तक, गोत्रों की संख्या 500 हो गई थी। 200 से अधिक गोत्रों के नाम तो केवल शिलालेखों में पाए जाते हैं। रणबीर चक्रवर्ती, *एक्सप्लोरिंग अर्ली इंडिया अप टू 1300 ए.डी.*, मैकमिलन, दिल्ली, 2010, पृ. 342
45. *चचनामा*, इलियट एंड डाउसन, द *हिस्ट्री ऑफ इंडिया एज टोल्ड बाय इट्स ओन हिस्टोरियंस*, वॉल्यूम-I, लो प्राइस पब्लिकेशन, दिल्ली, 1867/1877/1990, पृ. 190-91
46. अबुल फजल, *आईन-ए-अकबरी*, वॉल्यूम-प्प, पृ. 193-206, 291-301
47. द्विवेदी, द *जाट्स*, पृ. 23
48. मोडावे, *फ्रेंच अकाउंट*, अनुवादक, जे.एन. सरकार, इस्लामी कल्चर, वॉल्यूम-XI, 1937, पृ. 387-88
49. इरफान हबीब, 'जाट्स ऑफ पंजाब एंड सिंध', उद्धृत—*पंजाब पास्ट एंड प्रेजेंट, एसेज इन ऑनर ऑफ गंडा सिंह, संपा. एच. सिंह* एवं एन.जी. बैरीअर, पंजाबी विश्वविद्यालय, पटियाला, 1976, पृ. 95-96
50. शम्स सिराज अफीफ, *तारीख-ए-फिरोजशाही*, उद्धृत-*तुगलक कालीन भारत*, खंड-2, हिंदी अनुवाद—सैय्यद अतहर अब्बास रजावी राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008, पृ. 73-76
51. तपन रायचौधरी एंड इरफान हबीब, संपा. द *कैम्ब्रिज इकोनॉमिक हिस्ट्री ऑफ इंडिया*, वॉल्यूम-I, C1200-C1750, ओरिएंट लॉन्गमैन, दिल्ली, 1982, पृ. 342
52. अफीफ, *तारीख-ए-फीरोजशाही*, पृ. 95-96
53. वही
54. अफीफ, *तारीख-ए-फिरोजशाही*, पृ. 74
55. वही
56. वही, पृ. 75

57. बरनी, *तारीख-ए-फिरोजशाही*, पृ. 28,

58. वही, पृ. 28-29

59. वही, पृ. 28

60. वही

61. *मलिक* की उपाधि वली या मुक्ता (इक्तेदार) या अन्य प्रशासनिक अधिकारियों को प्रदान की जाती थी। देखें, बरनी, तारीख-ए-फिरोजशाही

62. डब्ल्यू. क्रुक, *ऐन इंट्रोडक्शन टू द पोपुलर रिलिजन एंड फोकलोर ऑफ नॉर्दर्न इंडिया*, लो प्राइस पब्लिकेशन, इलाहाबाद, 2003, प्रथम संस्करण, 1894, पृ. 286

63. रायबहादुर मुंशी हरदयाल सिंह, *रिपोर्ट मर्दुमशुमारी राज-मारवाड़-1891 ई.*, महाराजा मानसिंह पुस्तक प्रकाश केंद्र, जोधपुर, 1894, 2010, पृ. 55

64. दयालदास सिंढायच, *ख्यात देशदर्पण*, (बीकानेर राज्य का इतिहास), संपा. जे.के. जैन, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर, 1989, पृ. 61-163

65. गांव खरक पूनिया हिसार जिले में जींद-टोहाना मार्ग पर स्थित है।

66. *मर्दुमशुमारी राज-मारवाड़*, पृ. 48-51

67. द्विवेदी, द *जाट्स*, पृ. 19-51

68. आर.वी. रसेल, द *ट्राइब्स एंड कास्ट्स ऑफ सेंट्रल प्रोविंसेज ऑफ इंडिया*, वॉल्यूम-II, मैकमिलन, लंदन, 1916 पृ. 62

69. *अड़सट्ठा, परगना खोहरी*, वि.सं. 1771/1714 ई., हि.से., ज.रि., अड़सट्ठा, परगना खोहरी, वि.सं. 1774/1717 ई., हि.से., ज.रि., राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर

70. द्विवेदी, द *जाट्स*, पृ. 66

71. वही, पृ. 81

72. वही, पृ. 86-87

73. वही

74. वही, पृ. 86-91

75. वही

76. वही, पृ. 83

77. अबुल फजल, *आईन-ए-अकबरी*, वॉल्यूम-II, पृ. 291-301

78. वही, पृ. 205-06

79. वही, पृ. 291-301

80. वही, पृ. 193-206
81. *अड़सट्ठा*, परगना चालकल्याण वि.सं. 1722/1665 ई., हि.से., ज.रि.
82. आर.पी. राणा, *रेबेल्स टू रुलर्स, द राइज ऑफ जाट पॉवर इन मेडिवल इंडिया 1665-1735 ए.डी.*, मनोहर, दिल्ली, 2006, पृ. 142-81
83. अबुल फजल, *आईन-ए-अकबरी*, वॉल्यूम-II, पृ. 291-93
84. वही
85. वही, पृ. 193-94
86. *अर्जदाश्त*, मिति चौत्र सुदी 7, वि.सं. 1751/1694 ई., हि.से., ज.रि.
87. *अलीगढ़ डिस्ट्रिक्ट गजेटियर ऑफ द यूनाइटेड प्रोविंसेज*, वॉल्यूम-VI, क्लेरेंडन प्रेस, लंदन, 1909, पृ. 77-93
88. वही, पृ. 89
89. वही
90. वही
91. राणा, *रेबेल्स टू रूलर्स*, पृ. 142-81
92. प्रभुदयाल मित्तल, *ब्रज का सांस्कृतिक इतिहास*, हिंदी अनुवाद—वासुदेव शरण अग्रवाल, वॉल्यूम-I, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1966, पृ. 71-73
93. *अड़सट्ठा*, परगना जलालपुर, वि.सं. 1796/1739 ई., हि.से., ज.रि.
94. *अड़सट्ठा*, परगना हरसाना, वि.सं. 1787/1730 ई., हि.से., ज.रि.
95. वही, वि.सं. 1792/1735 ई., हि.से., ज.रि.
96. राणा, *रेबेल्स टू रूलर्स*, पृ. 122-141
97. असथल बोहर गाँव (रोहतक के पास, हरियाणा) में नाथपंथियों की गद्दी अभी भी है और जाटों के बीच एक यह एक प्रसिद्ध पंथ है।
98. इन एकेश्वरवादी संतों का इन क्षेत्र के लोगों पर बहुत प्रभाव है। स्थानीय लोग मेलों के माध्यम से इन संतों का सम्मान और स्मरण करते रहे है।
99. द्विवेदी, *द जाट्स*, पृ. 16,197
100. जगमती सांगवान, *महिला मुक्ति स्वयंभू-जाति-गोत्रावाड़ी पंचायतें*, उद्भावना, वर्ष-25, खंड-91, जनवरी 2011, पृ. 52-63

अनुवादक– **डॉ. राजेन्द्र कुमार****
बीकानेर

❑❑❑

मध्यकालीन बुन्देलखण्ड के कला संस्थानों *(अखाड़ों)* का वास्तुशिल्पीय अध्ययन

• डॉ. सफ़िया ख़ान

चन्देला एवं बुन्देला शासकों के अधीन बुन्देलखण्ड ने सांस्कृतिक क्षेत्र में नए प्रतिमान स्थापित किए। दोनों राजवंशों के दौर में भवन निर्माण के क्षेत्र में व्यापक स्तर पर निर्माण कार्य हुवे। खजुराहो के देवालयों ने चन्देला शासकों को स्थापत्य के क्षेत्र में उल्लेखनीय प्रतिष्ठा अर्जित करवाई।[1] स्थापत्य कला के अतिरिक्त अन्य कलाओं जैसे मूर्तिकला, चित्रकला, संगीत-नृत्य कला एवं शिल्पकला आदि का भी समानान्तर स्तर पर विकास हुआ।

इसके अतिरिक्त चन्देला शासकों ने कवियों, साहित्यकारों, संगीतकारों, नाट्यकारों एवं अन्य प्रकार के विद्वानों को अपने राजदरबार में संरक्षण प्रदान किया। इसकी पुष्टि प्राप्त शिलालेखों से होती है। चन्देल शासकों में कुछ शासक स्वयं काव्यसर्जक भी थे जिनमें महाराजा गंडदेव एवं परमर्दिदेव मुख्य थे। कीर्तिवर्मन नाट्यकला का सूक्ष्म पारखी था।[2] निसन्देह चन्देला शासकों ने भवन निर्माण के क्षेत्र में खजुराहों के देवालयों के निर्माण के द्वारा कीर्ति अर्जित की लेकिन इसके अतिरिक्त विशाल जलाशयों, दुर्गों, उपवनों, जलाशयों के तटों पर बारादरियों एवं अन्य प्रकार के भवनों को भी आकार दिया। इस आलेख में इस प्रकार के ढांचों या प्रतिष्ठानों की पहिचान का प्रयास किया गया है जहां नृत्य एवं नाट्यों या नृत्य-नाटिकाओं का प्रदर्शन किया जाता था तथा कवियों की काव्य गोष्ठियों का आयोजन होता था। क्या इन गतिविधियों के संचालन के लिए इस प्रकार के भवनों के लिए कोई एक निश्चित नाम या पदनाम विकसित हो चुका था जैसा कि सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इस प्रकार के कला संस्थान हेतु बुंदेला शासकों के काल में 'अखाड़ा' शब्द प्रयुक्त होने लगा था। इस आलेख का उद्देश्य इस प्रकार के भवनों का वास्तुशिल्पीय अध्ययन करना है।

खजुराहों के देवालयों में नृत्य, संगीत, वाद्य यन्त्रों, शिकार, हस्तियुद्ध एवं मल्लयुद्ध आदि के दृश्य उकेरे गए हैं।[3] केशवचन्द्र मिश्र के अनुसार चन्देला शासकों ने साहित्यकारों को संरक्षण प्रदान किया जिसमें हिन्दी एवं संस्कृत के कवि सम्मिलित थे। इसके साथ ही नाटककारों का विशेष सम्मान था। कृष्णमिश्र नामक प्रसिद्ध नाटककार चन्देला शासक कीर्ति वर्मन के दरबार का सदस्य था जो स्वयं नाट्यकला का पारखी था। प्रसिद्ध कवि जागनिक परमर्दिदेव का विशेष कृपापात्र था जिसने आल्हाखंड एवं महोबा खण्ड काव्य की रचना की थी। इसी लेखक ने प्रबोध चन्द्रोदय नामक नाटक के हवाले से यह लिखा है कि चन्देला शासक पांडित्य की कसौटी एवं परख के लिए प्रतियोगिताओं का आयोजन भी करते थे।[4]

चन्देला शासन सांस्कृतिक गतिविधियों के प्रोत्साहन के लिए प्रसिद्ध था। जैसा कि पूर्व में लिखा गया है कि कीर्तिवर्मन नाटकों के अभिनय में अत्यधिक रुचि लेता था। उसके दरबार में गोपाल द्वारा विरचित प्रबोधचन्द्रोदय नामक नाटक अभीनीत किया गया। केशव मिश्र ने तो यहां तक लिखा है कि रंगमंचों का विकास इस काल में पूर्ण रूप से हो चुका था।[5] रंगशालाओं के विकास के बारे में मिश्र लिखते हैं कि राजभवन में इनकी अवस्थिति की पुष्टि साहित्यिक एवं पुरातात्त्विक साक्ष्यों से होती है।[6] देवालयों में निर्मित महामंडप सार्वजनिक नृत्य एवं संगीत कार्यक्रमों के लिए उपयुक्त स्थल थे। 'अभिनव नाट्य-शास्त्र' में रंगमंच की सम्पूर्ण व्यवस्था का विस्तृत विवरण उपलब्ध है।[7]

संगीत शिष्ट एवं जनसामान्य के मध्य अत्यंत लोकप्रिय था। इनके आयोजन देवालयों के महामंडपों के अतिरिक्त सार्वजनिक स्थानों एवं 'गोष्ठी ग्रहों' में होता था। संगीत के समान नृत्य भी जनसमुदाय द्वारा अत्यधिक पसन्द किया जाता था।[8] उपरोक्त वर्णन से यह तो ज्ञात होता है कि चन्देला काल में सभी प्रकार की कलाओं को राज्य द्वारा संरक्षण प्राप्त था। इनके प्रदर्शन स्थल देवालयों के महामण्डप या फिर शासक के महल थे। ऐसी स्थिति में विशाल समुदाय के लिए इन कलाओं (काव्य, संगीत, नाटक एवं नृत्य) के प्रदर्शन स्थल कौनसे हो सकते थे? इस बात का अनुमान लगाना अत्यावश्यक है। इसका संकेत नर्मदा प्रसाद गुप्त एवं वासुदेव चोरसिया के ग्रन्थों से लगता है। गुप्त के अनुसार चन्देला काल में गाँव-गाँव में चबूतरों का निर्माण हुआ एवं साथ ही छोटी-छोटी मढियों की स्थापना हुई।[9] इसी प्रकार चोरसिया शहरों में बैठकों अर्थात् बारहादरियों का वर्णन करते हैं जो अधिकांशतः जलाशयों के तटों एवं देवालयों के समीप या फिर खुले स्थानों पर होती थीं।[10] इन कथनों की पुष्टि मेरे द्वारा किए गये पुरातात्त्विक सर्वेक्षणों से होती है। मैंने अपने सर्वेक्षण के

माध्यम से अनेक बैठकों या बारहदरियों का दस्तावेजीकरण करने का प्रयास किया है जो बुन्देलखण्ड के विभिन्न क्षेत्रों में चन्देला शासकों द्वारा निर्मित करवाये गये हैं जिनमें कीरतसागर के तट पर स्थित बाराहदरी मुख्य है। इसके अतिरिक्त महोबा शहर के चारों ओर कई बाराहदरियां थीं[11] जिनसे शहर के विस्तार के साथ-साथ जनसंख्या के घनत्व के संकेत भी मिलते हैं। इन ढांचों या बैठकों को चन्देलायुगीन सार्वजनिक कला संस्थान के नाम से अभिहित किया जा सकता है जहां अनुमानतः जनसाधारण के लिए कवि सम्मेलनों, संगीत, नृत्य एवं नाटकों का प्रदर्शन निश्चित ही होता रहा होगा।

उपरोक्त वर्णन से यह तो स्पष्ट हो जाता है कि चन्देला काल में इन कलाओं के प्रदर्शन स्थल के रूप में 'अखाड़ा' शब्द का प्रयोग अस्तित्व में नहीं आ पाया था लेकिन उसके स्थान पर देवालयों के मंडप एवं बाराहदरियां या बैठकों का उपयोग होता था, जो जनसाधारण के लिए कला प्रदर्शनों के संस्थान या स्थल थे। ऐसा प्रतीत होता है कि बुन्देला काल में 'अखाड़ा' शब्द ग्वालियर के तोमरकाल से आया था जहां मानसिंह के काल में कला संस्थानों के लिए यह शब्द व्यापक स्तर पर प्रचलन में था।[12]

कीरतसागर के तट पर चन्देला शासक द्वारा निर्मित बाराहदरी है जो बारह स्तंभों पर पत्थर निर्मित एक प्रकार का अष्टकोणीय प्लेटफार्म है जिसको आल्हा की बैठक कहा जाता है।[13] ऊपर कलात्मक गुम्बद भी था जो अब गिर चुका है। भीतर की ओर ब्रेकेट्स हैं। प्लेटफार्म पर जाने हेतु सीढ़ियां हैं। इसी स्थान पर कवि सम्मेलन, नृत्य एवं नाट्य प्रस्तुत किए जाते थे। पास में स्थित जलाशय के कारण मौसम अत्यंत सुहावना रहता था। नीचे इस बाराहदरी के अतिरिक्त एक अन्य प्लेटफार्म का छायाचित्र दिया जा रहा है।

खजुराहो के समीप स्थित बाराहदरी

महोबा के कीरतसागर के तट पर स्थित बाराहदरी

II

जैसा कि पूर्व में लिखा जा चुका है कि मध्यकालीन कला संस्थानों के लिए 'अखाड़ा' शब्द की उत्पत्ति ग्वालियर के तोमर शासकों के काल में हुई थी। 1435 ई. में विष्णुदास द्वारा रचित 'महाभारत' में यह शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है यथा प्रथम मल्लयुद्धों का स्थल एवं द्वितीय नृत्य-संगीत का केन्द्र।[14] इसी प्रकार 'छिताई कथा' की निम्न काव्य पंक्ति से अखाड़े का कला संस्थान के रूप में अर्थ अधिक स्पष्ट हो जाता है। नर्मदा प्रसाद गुप्त के अनुसार ऐसे स्थान गीति, नृत्य आदि की प्रतियोगिता के केन्द्र थे। 'छिताई कथा' की निम्न पंक्ति है दृष्टव्य है :

नित नवरंग अखारे होई
नट नाटक आवई सब कोई।[15]

'छिताई कथा' ग्रन्थ से अखाड़ों में आयोजित होने वाले समस्त सांस्कृतिक कार्यक्रमों यथा देसी संगीत, अभिनय, लोकनृत्य, कृष्ण एवं रामलीला आदि का वर्णन उपलब्ध है। इस वर्णन के आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि ग्वालियर के तोमर शासकों के काल में पल्लवित कला संस्थान अर्थात् 'अखाड़ा' की धारा ओरछा में आई। इसकी पुष्टि साहित्यिक संकेतों से होती है। सोलहवीं सदी पूर्वार्द्ध में बुन्देलों ने नई अंगड़ाई ली। 1531 ई. में राजा रुद्रप्रताप ने ओरछा में नवीन राजधानी स्थापित की। यह वह काल था जब उसके पड़ौस में सांस्कृतिक रूप से सम्पन्न ग्वालियर का पतन प्रारंभ हो गया था। तोमर शासन का पतन ओरछा के लिए नए अवसर लेकर आया। यहां से बड़ी संख्या में कवियों, संगीतकारों, शिल्पकारों एवं चित्रकारों का पलायन हुआ और वे आसपास के क्षेत्रों में संरक्षण की आशा में फैल गए।[16] ग्वालियर

पलायन से ओरछा भी प्रभावित हुआ जिसकी पुष्टि केशव रचित कविप्रिया से होती है। महाकवि के पूर्वज ग्वालियर राज्य में प्रतिष्ठा प्राप्त पद पर आसीन थे एवं वहां के शासक इनके चरणों की पूजा करते थे। इसी वंश के सुरोत्तम मिश्र ने महाराजा मानसिंह तोमर से रुष्ट होकर ग्वालियर का त्याग कर दिया और बुन्देला शासक रुद्रप्रताप के पास आ गए। बुन्देला शासक ने कृष्णदत्त को पुरातन वृत्ति प्रदान कर सम्मानित किया। केशव के पूर्वजों द्वारा ग्वालियर पलायन एवं बुन्देला दरबार में आगमन की पुष्टि निम्न काव्य पंक्तियों से होती है:

भय त्रिबिक्रम मिश्र तब तिनके पंडितराय।
गोपाचलगढ़ दुर्गपति तिनके पूजे पाय।।
भाव सर्म तिनके भए तिनके बुद्धि अपार।
भए सुरोत्तम मिश्र तब षट-दरसन-अवतार।।
मानसहि सो रोष करि जिन जीती दिसि चार।
ग्राम बीस तिनकौ दए राना पायँ परवारि।।
तिनके पुत्र प्रसिद्ध जग कीने हरि हरिनाथ।
तोंवरपति तजि और सों भूलि न ओड़छो हाथ।।
पुत्र भए हरिनाथ के कृस्नदत्त सुभ वेष।
सभा साहि संग्राम की जीते गढ़ असेष।।
तिनकौं बृत्ति पुरान की दीनी राजा रुद्र।
तिनके सुत बलभद्र सुभ प्रगटे बुद्धिनिधान।।[17]

बलभद्र के छोटे भाई केशवदास थे जिनको राजा रामशाह के छोटे भाई इन्द्रजीत ने अपना गुरु माना एवं उन्हें इक्कीस गांव प्रदान किए।[18] ओरछा के महाराजा तो राजा रामशाह थे परन्तु मुगल बादशाह अकबर के दरबार में उपस्थिति के कारण वास्तविक राजकाज का संचालन उनके छोटे भाई इन्द्रजीत के हाथों में था। राजा रामशाह ने इन्द्रजीत को कच्छोवा जागीर में प्रदान किया था। यहीं पर प्रथम बार 'अखारा' (अखाड़ा) शब्द का प्रयोग केशव ने किया है। जिस प्रकार से काव्य की पंक्ति में इस शब्द का प्रयोग किया है उससे भ्रम होता है कि इन्द्रजीत ने अपनी जागीर कच्छोवा में अखाड़ा स्थापित किया था।[19] जबकि काव्य की यह पंक्ति राजधानी ओरछा के सन्दर्भ में है।

केशव ने इस अखाड़े में आयोजित होने वाले नृत्य, संगीत, वाद्ययन्त्र, काव्यपाठ का विस्तृत वर्णन किया है। इस संस्थान में छह कलाकार महिलाओं को स्थान दिया गया था जिनके नाम प्रवीणराय, नवरंग राय, विचित्र नयना

तारतरंग, रंगराय तथा रंगमूर्ति थे। ये सभी कलाप्रवीण महिलाएं थीं जो तंत्री तुंबरू तथा सारिका आदि वाद्यों के वादन में प्रवीण थीं। लेकिन काव्य सर्जना में राय प्रवीण कुशल थी।[20] इन ललित कलाओं को राजकुमार इन्द्रजीत द्वारा न केवल प्रश्रय दिया गया बल्कि इनकी प्रगति एवं प्रसार हेतु, ओरछा दुर्ग परिसर में एक स्थाई भवन बनाया गया जो केशव के शब्दों में अखारा था। राज्य पुरातत्त्व विभाग ने जिसका नामकरण 'राय प्रवीण महल' नाम से किया जिसका मध्ययुगीन शब्दावली से मेल नहीं बैठता।

III

इस खंड में इन्द्रजीत द्वारा निर्मित 'अखाड़े' (तथाकथित रायप्रवीण महल) के निर्माण एवं स्थापत्य शैली को रेखांकित करने का प्रयास किया जाएगा। इन्द्रजीत स्वयं नृत्य, संगीत एवं काव्य का पारखी था इसलिए उसने महाकवि केशव को अपना गुरू बनाया था। हालांकि अभी तक यह ज्ञात नहीं हो सका है कि क्या इन्द्रजीत स्वयं काव्यपाठ करता था या नहीं। लेकिन अखाड़े अथवा कला संस्थान के निर्माण से कलाओं के प्रति उसकी रुचि की पुष्टि तो होती ही है। उसके द्वारा निर्मित यह भवन ओरछा दुर्ग परिसर में अवस्थित है। सम्भवतः प्रथम बार अखाड़े हेतु इस प्रकार के भवन का निर्माण करवाया गया था। इसके पूर्व चन्देलों के काल में सारे भवन या रंगशालाएं खुले बाराहदरी के रूप में होती थीं।[21] अगर भवन की मंजिलों के लिए तकनीकी शब्दावली से बचते हुए कहें

प्रथम मंजिल के सामने हौज़

तो यह तीन मंजिला भवन है। सबसे नीचे की मंजिल भूतल (underground) के रूप में हैं। इसके ऊपर की मंजिल एक खुले कक्ष के रूप में है। जिसके एक ओर कक्ष हैं। उसके सामने एक खुला प्लेटफार्म है जिसके दोनों ओर दो हौज़ हैं जिसमें जल भरा रहता था। यह भाग अनुमानतः साधारण वर्ग हेतु था। ऊपर की मंजिल में एक खुला कक्ष है, जिसे बाराहदरी पेवेलियन भी कहा जा सकता है। इसकी दीवार पर नर्तकियों के चित्र हैं। इसके सामने खुली छत है जो नृत्य एवं गायन के लिए थी। इस मंजिल पर भी लघु कक्ष हैं जो सम्भवतः साज-श्रृंगार हेतु थे। यह हिस्सा विशिष्ट वर्ग के दर्शकों हेतु था।

ऊपरी मंजिल के नर्तकियों के चित्र

निचला तल अर्थात् बेसमैंट विशेषरूप से इन्द्रजीत एवं उसकी प्रेयसी राय प्रवीण के लिए था जो बहुपर्णाकार मेहराबनुमा (multifoliated arch) लाल पत्थरों से निर्मित स्तंभों पर आधारित था। इसके मध्य में फव्वारा था जिसमें पानी के लिए ऊपर की मंजिल पर स्थित हौज़ से आपूर्ति होती थी। रोशनी एवं हवा के लिए चौकोर चार खुले रोशनदान निर्मित हैं जिनसे प्राकृतिक सूर्य एवं चांद की रोशनी आती है। भीतर की ओर खुला कक्ष है जिसकी दीवालों पर निश्चित ही चित्र उकेरे गए होंगे जो रंगरोगन एवं मरम्मत में दब गए होंगे।

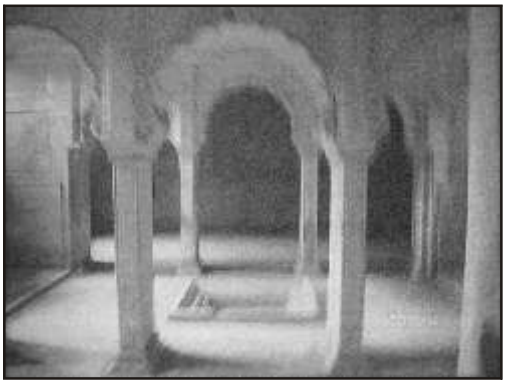

भूतल का चित्र मध्य में फव्वारा एवं रोशनदान से आता प्रकाश

इस भवन के समक्ष एक दीवाल के जरिए दो भागों (पूर्व एवं पश्चिम) में विभाजित अत्यंत आकर्षक उद्यान है। उद्यान के दोनों भागों के अन्त में पृथक लघु आकार के भवन अवस्थित हैं। पश्चिम के उद्यान की ओर निर्मित भवन दो मंजिला है जिसके पृष्ठ भाग में बैठक है जो इन्द्रजीत एवं रायप्रवीण के बैठने हेतु थी। इस बात की पूर्ण सम्भावना है कि भवन के पीछे एक झील थी एवं बैठक के नीचे एक किनारे पर बावड़ी है जो आज भी सक्रिय है। झील सूख गई है लेकिन अवशेष आज भी दृष्टिगोचर होते हैं। बैठक से उतर कर झील की ओर जाने का एक मार्ग हैं।

अखाड़े का उद्यान सुव्यवस्थित एवं सुआयोजित है। बाबर के शब्दों में वर्णित व्यवस्थित बाग़ के यह 'सुव्यवस्थित एवं सुडौल' बाग़ है जो ऊँची

दीवालों के मध्य बुर्जों एवं उत्तंग प्रवेश द्वार से सुसज्जित है। पूर्वी भाग वीथिकाओं के द्वारा तीन भागों में विभाजित है। प्रत्येक खण्ड में फूलों के पौधों को लगाने हेतु, लघु आकार की अष्टकोणीय फूलों की क्यारियां हैं। प्रत्येक खण्ड में 154 क्यारियां हैं। शेष दो खण्डों में 72 फूलदान हैं। पश्चिमी दिशा का उद्यान दो भागों में विभाजित है। एक खण्ड में 56 क्यारियां जबकि दूसरे हिस्से में 85 फूलों के पौधे लगाने के स्थल हैं।

प्रवेश द्वार के सम्मुख एक प्लेटफार्म है जो सम्भवतः संगीत, नाटकों एवं काव्य गोष्ठियों के कार्यक्रम हेतु निर्मित किया गया था। इस स्थल के दांई ओर अष्टकोणीय हौद है जिसके मध्य में फव्वारा है।

उद्यान में नियमित जल आपूर्ति हेतु पश्चिम की बाहरी दीवार के समीप कुआं है। इससे पानी खींच कर एक कुंडी में डाला जाता था जहां से नाली के माध्यम से क्यारियों में पानी पहुँचाया जाता था। नाली का निर्माण विशेषतः ऊँचे प्लेटफार्म पर किया गया था जो दीवार के समानान्तर प्रवाहित होती थी।

महाकवि केशव के वर्णन एवं पुरातात्त्विक सर्वेक्षण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इन्द्रजीत द्वारा निर्मित यह 'अखाड़ा' कला संस्थान के साथ-साथ उसकी प्रेयसी राय प्रवीण का महल भी था। लेकिन उसके निवास के निश्चित स्थान की जानकारी अभी अनिश्चित है। केशव द्वारा रचित कविप्रिया के अनुसार विभिन्न कलाकारों की कला प्रदर्शन का स्थल तो निश्चित ही था।

सन्दर्भ

1. एलिकी ज़ान्नस एवं जीन्नीने, *खजुराहो*, द हेग 1960, पृ. 22; महेन्द्र वर्मा, *खजुराहो में काम दर्शन*, दिल्ली 2002, पृ. 10-48

2. केशवदेव मिश्र, चंदेल और उनका राजत्वकाल, वाराणसी, वि.सं. 2056। ई. 1999, पृ. 171-79। लेखक ने अपने कथन की पुष्टि के लिए एविग्राफी इण्डिका के शिलालेखों को उद्धृत किया है; महेन्द्र वर्मा, उपर्युक्त, पृ. 6
3. नर्मदा प्रसाद गुप्त, *बुन्देलखण्ड की लोक संस्कृति का इतिहास*, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1995, पृ. 47
4. केशवदेव मिश्र, *चन्देल और उनका राजत्व* काल, पृ. 174-75
5. केशवमिश्र लिखते हैं कि चन्देलों के समय 'देश में रंगशालाओं का उत्कर्ष चरम सीमा तक पहुँच चुका था। ...रंगशालाओं में अंलकरण का सहारा परिस्थिति प्रस्तुत करने के लिये किया जाता था। आधुनिक नाटकों के अभिनय में प्रत्येक दृश्य के साथ रंगमंच पर जिस प्रकार स्थान निर्देश की योजना की जाती है वैसी उस समय श्लाघ्य नहीं मानी जाती थी।' उपर्युक्त पृ. 208-09
6. वही।
7. *अभिनव नाट्य शास्त्र*, पृ. 173-74 केशवमिश्र द्वारा उद्धृत उपर्युक्त, पृ. 209
8. केशवमिश्र, उपरोक्त, पृ. 209
9. नर्मदा प्रसाद गुप्त, *बुन्देलखण्ड की लोक संस्कृति*, पृ. 49
10. वासुदेव चोरसिया, *चन्देलकालीन महोबा*, उपर्युक्त, 64
11. वही।
12. ग्वालियर के तोमरकाल में 'अखाड़ा' शब्द के लिए द्रष्टव्य, नर्मदा प्रसाद गुप्त, उपरोक्त, पृ. 49-53।
13. वासुदेव चौरसिया के अनुसार इस बाराहदरी के पूर्व में एक भूमिगत द्वार भी था जिसका सम्पर्क रायकोट व दुर्ग से था। यह भी कहा जाता है कि इस बैठक के नीचे कई कमरे भी हैं जो उसी गुप्त मार्ग पर हैं। अब इसको पुरातत्त्व विभाग ने बन्द करवा दिया है द्रष्टव्य, *चन्देलकालीन महोबा*, पृ. 64।
14. विष्णुदास, *महाभारत*, सं. हरिहर निवास द्विवेदी, ग्वालियर 1973, पृ. 25, छन्द 210 एवं 211, नर्मदा प्रसाद गुप्त द्वारा उद्धृत, *बुन्देलखण्ड की लोक संस्कृति*, पृ. 49-50 एवं पाद टिप्पणी,76।
15. *छिताई चरित*, सं. हरिहर प्रसाद द्विवेदी एवं अगरचंद नाहटा, पृ. 25, छन्द 210-11
16. श्री हरिहर निवास द्विवेदी ने महान तोमर शासक मानसिंह के पुत्र विक्रमादित्य के पतन के थोड़े वर्षों के भीतर यहां से पलायन करने वालों के बारे में लिखा है कि 'जो सांस्कृतिक प्रतिमान सवा सौ वर्ष की साधना द्वारा स्थापित किए गए थे, वे चार-पांच वर्ष के घेरे में बिखर गए। इस घेरे से जो विद्वान, कवि, भाट और नायक

जीवित बच सके उनमें से अधिकांश अपने पोथी-पत्र, ग्रन्थ आदि लेकर इधर-उधर फैल गए; प्रसिद्ध कलावन्त मथुरा-वृन्दावन अथवा अन्य राजसभाओं में पलायन कर गए।' दृष्टव्य *ग्वालियर के तोमर, (तोमरों का इतिहास)*, द्वितीय भा, ग्वालियर, 1976, पृ. 182-83।

17. केशव, '*कविप्रिया*' केशव-ग्रंथावली, खंड 1, सं. श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, हिन्दुस्तान एकेडमी, इलाहाबाद, तृतीय संस्करण, 1980, पृ. 100

18. वही।

19. केशव की निम्न काव्य पंक्तियों से भ्रम होता है :

ताहि कछोवा कमल सो गढ़ दीनो नृप रान।
विधि ज्यों साजत बैठि तहँ 'केसव' बाम अबाम।।

कर्‌यौ अखारो राज के शासन सब संगीत; दृष्टव्य, *कविप्रिया*, पृ. 97; इसी भ्रम के कारण पुरुषोत्तम शर्मा ने अपने आलेख में इन इस अंतिम पंक्ति का अर्थ यह निकाला कि इन्द्रजीत ने कछोवा में एक ललित कला केन्द्र (अखाड़ा) की स्थापना की जो सम्भवतः सही प्रतीत नहीं होता तुलनीय, 'प्रवीण राय पातुर और उनका काव्य' *विश्वभारती*, सं. रामसिंह तोमर, अप्रैल-जून, 1967, खंड 8, अंक 1, पृ. 57-8

20. केशव, *कविप्रिया*, छन्द 41-61, पृ. 67-9; पुरुषोत्तम शर्मा, उपरोक्त, पृ. 58;

21. नर्मदा प्रसाद गुप्त, *बुन्देलखण्ड की लोक संस्कृति*, पृ. 422-23

डॉ. सफ़िया ख़ान
पोस्ट डॉक्टरल फेलो
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

❑❑❑

16वीं से 18वीं शताब्दी के मध्य हीरे की खदानों में कार्यरत खनिक वर्ग : एक अध्ययन

मनीषा मिश्रा • डॉ. अमिता शुक्ला

भारत में खनन का इतिहास अति प्राचीन है।[1] प्राचीन खदानों की उपस्थिति और अन्य साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि प्राचीन काल से ही खनन उद्योग एक अच्छी अवस्था में था और प्रगति कर रहा था। इस संबंध में कौटिल्य कृत अर्थशास्त्र में प्रदत्त विवरण महत्वपूर्ण है जिसमें कौटिल्य द्वारा आकराध्यक्ष नामक अधिकारी की विशेष योग्यताओं, जिनमें वैज्ञानिक कार्यकुशलता एवं खनन उद्योग संबंधित गूढ़ ज्ञान समाहित है यह स्पष्ट होता है कि खदानों का काम विशेष सतर्कता से किया जाता था।[2] यद्यपि खान मजदूर अथवा खनिक जैसे शब्दों का प्रयोग इस विवरण में प्राप्त नहीं होता है, किन्तु आकराध्यक्ष के कार्य संबंधी विशेष योग्यताओं एवं खनन विभाग संबंधी विस्तृत विवरण से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इस कार्य में खान मजदूर अवश्य कार्यरत रहे होंगे।

13वीं शताब्दी में भी दक्कन में हीरे का खनन उद्योग एक अच्छी अवस्था में था जिसका विस्तृत उल्लेख मार्को पोलो द्वारा दिया गया है।[3] प्रारम्भ से ही खनन क्षेत्र में कार्यरत खनिक वर्ग (खान मजदूरों) की कार्यकुशलता विख्यात रही है, जो खनन उद्योग के प्रमुख कारक के रूप में विद्यमान थे। ये खनिक वर्ग अपने कौशल के आधार पर खानों में से स्वर्ण निकालने, धात्विक अयस्कों को पिघला कर साफ करने और विभिन्न प्रकार के भंडारों से (चट्टानों में स्थित खदानें, नदियों के पास अवस्थित खदाने) हीरे निकालने का कार्य करते थे।

हीरे की प्रमुख खदानें बीजापुर एवं गोलकुंडा में थीं, कुछ मात्रा में छोटा नागपुर से भी हीरा निकाला जाता था, 15वीं शताब्दी में गोंडवाना से हीरों की खुदाई की जाती थी।[4] 16वीं से 18वीं शताब्दी के मध्य के काल में अनेक साक्ष्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि हीरे की खदानों में खनन उद्योग इस काल में अच्छी अवस्था में था। फ्रांसीसी यात्री जीन बेपटिस्ट टेवर्नियर द्वारा प्रदत्त विवरण इस विषय से संबंधित महत्वपूर्ण जानकारी प्रदान करता है। प्रस्तुत शोध पत्र

मध्यकालीन भारत में मुख्यत: 16वीं से 18वीं शताब्दी के मध्य में हीरे की खदानों में कार्यरत खनिक वर्ग के अध्ययन का एक प्रयास है। इस शोध पत्र में खनिक वर्ग (खान मजदूर) की कार्य पद्धति, उनका भुगतान किए जाने वाले पारिश्रमिक, उनकी कार्य करने की स्थितियों इत्यादि पर प्रकाश डाला गया है, साथ ही साथ खनन क्षेत्र में प्रचलित श्रम सहकारिता को भी दर्शाया गया है।

हीरे की खदानों में कार्यरत खनिक वर्ग की जाति के विषय में विशेष जानकारी प्राप्त नहीं होती है, यद्यपि बिहार एवं आस-पास के क्षेत्रों में साधारण खदानों में कार्यरत खनिक भुंगियार, मुसहर और राजवार जनजातियों के होते थे।[5] हीरे की खदानों में कार्यरत खनिक वर्ग (खान मजदूर) के कार्य में शारीरिक श्रम और कार्यकौशल पूर्ण योग्यता दोनों ही सम्मिलित थे। खनिक वर्ग में अनेक ऐसे भी मजदूर थे जो केवल शारीरिक श्रम का कार्य करते थे, यथा चट्टानों के पिंडों को तोड़ना, छीलना, टुकड़ों में तोड़ना इत्यादि, और कुछ श्रमिकों के कार्य में कौशल की आवश्यकता थी जिसमें खनिज के ढोकों के ढेर बनाना, छानना, खनिज को धोना और बड़े पिंडों को पीसना[6] और भी अनेक ऐसे कार्य जिनमें शारीरिक श्रम के साथ-साथ शिल्पगत कौशल की भी आवश्यकता थी। इसलिए खदानों में कार्य करने वाले इन श्रमिकों हेतु प्रस्तुत शोध पत्र में (अनेक शिल्पी रूप में भी सम्मिलित) 'खनिज वर्ग' शब्द का भी प्रयोग किया गया है। उल्लेखनीय है कि हीरे की खदानों अथवा अन्य खदानों में कार्यरत खनिक वर्ग की जाति के विषय में कोई विशेष उल्लेख प्राप्त नहीं होता है।[6]

खनिक वर्ग में इतने अनुभवी व्यक्ति भी होते हैं कि इनके कार्य कौशल पर हीरा व्यापारी की सफलता निर्भर करती थी। खनिकों में हीरे की उपलब्धता वाली भूमि को पहचान लेने की योग्यता होती थी। मेथ्वोल्ड द्वारा प्रदत्त विवरण के अनुसार कुछ खनिक मिट्टी की फफूंदी सूंघकर और कुछ देखकर ही हीरों का अनुमान लगा लेते थे। वे लिखते हैं कि कई स्थानों पर केवल जमीन को थोड़ा-तोड़ कर ही आगे बढ़ गए हैं, और कई स्थानों पर गहरी खुदाई भी की गई है।[7] इस प्रकार हीरे के खनन उद्योग में प्रथम स्तर पर सबसे महत्वपूर्ण कारक खनिक वर्ग थे, जो हीरों के क्षेत्रों की पहचान करके उसकी खोज में सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन कर रहे थे। उल्लेखनीय है कि कौटिलीय अर्थशास्त्र में खनन उद्योग संबंधी विवरण में हीरे के क्षेत्रों को पहचानने हेतु इसी प्रकार की वैज्ञानिक पद्धति के प्रयोग का उल्लेख आकराध्यक्ष नामक अधिकारी द्वारा दर्शाया गया है।[8]

हीरे की खदानों में खान मजदूरों को एक बड़ी संख्या में रोज़गार प्राप्त होता था, मेथवोल्ड ने कोल्लूर से दो मील दूर स्थित खदानों के विषय में बताया है कि इन खानों के आस-पास के गांव और शहरों के लोग मजदूरी की खोज में खदानों

में काम के लिये आते थे। कोल्लूर की आबादी लगभग 1 लाख थी, जिसमें खनिक व्यापारी और अनेक इस प्रकार के लोग थे जो हीरे के उत्खनन उद्योग से संबंधित थे।[9] इस क्षेत्र में हीरे के उत्खनन का उद्योग रोज़गार का एक बड़ा स्रोत था।

सोलहवीं से सत्रहवीं शताब्दी के मध्य के काल में हीरे के उत्खनन क्षेत्र में श्रम संगठनों में काफी प्रगति हुई, यह श्रम सहकारिता का अच्छा उदाहरण था। इस काल तक अन्य वस्तुओं के उत्पादन कार्य में भी विशेषज्ञता आधारित श्रम विभाजन दृष्टिगत होता है, उसी प्रकार हीरे की खानों के उत्पादन संगठन में भी श्रम सहकारिता दृष्टिगत होती है, और तकनीक में भी इस काल में उन्नति परिलक्षित होती है। इस काल में खान में से पानी निकालने का कार्य श्रमिकों द्वारा कराया जाता था, जो एक नई तकनीक थी, जिसकी पुष्टि विदेशी यात्रियों के विवरणों से होती है। बिना मशीन के श्रमिकों द्वारा खदानों में पानी निकलवाना उनके लिए आश्चर्यजनक था।[10] इससे पूर्व तक कच्ची धातु में खनिक (माइनर) अकेले या समूहों में हीरे ढूंढ़ते थे। बारिश के समय में पहाड़ियों से धातुएं पानी के साथ बहकर धारियों में हीरों के क्षेत्रों में जमा हो जाती थी।[11]

थेवेनोट ने कर्नाटक की खानों के विषय में विवरण दिया है कि वहां 6000 आदमी काम करते थे जो लगभग तीन पौंड हीरा निकालते थे, कुछ खानों में सुल्तान के लिए ही हीरे की खुदाई का कार्य किया जाता था, और कुछ में सुल्तान की आज्ञा से हीरे वाली भूमि विभिन्न व्यापारियों को पट्टे पर दी जाती थी।[12] अनेक जिलों में जहां हीरों वाली भूमि पट्टे पर दी जाती थी वहां भूमि में पूंजी लगाने के लिए पहले सूबेदार को आवेदन दिया जाता था, जिसमें उस खान का उल्लेख होता था जहां आवेदक व्यापारी मजदूर लगाना चाहता था।[13] ये व्यापारी खनिकों को काम पर लगाते थे, सभी बड़े हीरों पर सुल्तान का अधिकार होता था, इस प्रकार हीरों के न मिलने पर कभी-कभी व्यापारी की पूंजी डूब भी जाती थी। यद्यपि हीरों का प्राप्त होना खनिग वर्ग के कौशल पर निर्भर करता था, इस विषय पर टेवर्नियर द्वारा प्रदत्त विवरण महत्वपूर्ण है, वह पट्टे पर ज़मीन लेने वाले व्यापारियों के विषय में लिखते हैं, कि वे ऐसे कुशल खनिकों को कार्य पर लगाते हैं जिनको यह ज्ञात होता था कि हीरे किस स्थान पर हो सकते हैं, और व्यापारी उसी स्थान को पट्टे पर लेकर 40-50 मजदूरों को खुदाई हेतु लगा देता था, तथा कार्य शीघ्र करवाने हेतु यह संख्या दुगुनी भी कर दी जाती थी और खुदाई प्रारम्भ करने के दिन से पूरी होने तक प्रतिदिन 50 मजदूरों के एवज में 2 पगोड़ा और 100 मजदूरों के लिए 4 पगोड़ा भूमि का महसूल दिया जाता था।[14] इस प्रकार स्पष्ट होता है कि महसूल की दर मजदूरों की संख्या अथवा उत्खनन में लगने वाले समय दोनों ही आधारों पर तय की जाती थी। इसी प्रकार एस. मास्टर के अनुसार महसूल की दर हीरे की

खान में कार्यरत मजदूरों की संख्या के आधार पर निर्धारित की जाती थी, जो 10 से 40 मजदूरों पर 3 पगोड़ा प्रतिमाह और अधिक मजदूरों पर 5 पगोड़ा प्रतिमाह की दर से वसूला जाता था।[15]

सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक गोलकुंडा की खानों में हीरे के उत्खनन में एक श्रम विभाजन दिखाई देता है, हीरे की खदानों में कार्य पद्धति विभिन्न स्रोतों से ज्ञात होती है, जिसके अनुसार अनेक मजदूर प्रथमत: चट्टानों के पिंडों को रम्भों और फावड़ों से छीलते और टुकड़े करते थे, दूसरा समूह बेलचे और फावड़ों की सहायता से खनिज के ढोकों के ढेर बनाते थे, तीसरा समूह खनिज को एक विशेष टोकरी में डालकर छानने का काम करता था चौथा समूह चट्टानों के पिंडों को एक गड्ढे में ले जाता था, पांचवे समूह के खनिक पानी से खनिज को धोते और खनिज के बड़े पिंडों को पीसते थे, और पानी अलग कर देते थे, पानी के साथ चट्टानों की धूल अलग हो जाती थी। फिर छठा समूह बजरी को एक समतल चौकोर स्थान पर चार पांच इंच मोटी सतह बना देते थे, और धूप में सूखने के लिए छोड़ दिया जाता था, इस कार्य के अगले दिन एक सातवां समूह आता था जो बड़े-बड़े पत्थरों से मिट्टी के ढोकों को पीटते थे और पत्थरों के टुकड़े-टुकड़े कर बाहर फेंकते थे और बाकी खनिज एक ओर कर देते थे। मेथ्वोल्ड के अनुसार इसमें वे सभी समूह अथवा केवल अंतिम टोली बजरी में हीरे ढूंढते थे। एक अन्य आदमी को इनके साथ रखा जाता था जिसे मिलने वाले सारे हीरे सौंप दिया जाते थे।[16] यह विवरण इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि सत्रहवीं शताब्दी में गोलकुंडा में हीरे के उत्खनन कार्य में श्रम विभाजन के लक्षण विद्यमान थे, साथ ही साथ श्रम संगठन भी दृष्टिगत होता है।

डब्ल्यू मेथ्वोल्ड बतलाता है कि सुल्तान उत्खनन क्षेत्र में अपने सूबेदार रखते थे, जो इस बात की मुनादी करवाते रहते थे कि हीरे छिपाकर ले जाने का दंड दिया जाएगा, क्योंकि बड़े हीरे सुल्तान के अधिकार में थे।[18] विभिन्न स्रोतों में खान मजदूरों के पारिश्रमिक से संबंधित विभिन्न आंकड़े प्राप्त होते हैं, गल्लापेल्ले जिले में खनिक को 1.25 पगोड़ा नकद और अनाज प्रतिमाह के एवज में पारिश्रमिक दिया जाता था।[18] स्ट्रेंशाम मास्टर के विवरणों से खनिकों की दशा के विषय में ज्ञात होता है जिसमें मल्लिवल्ली और रैज़पैंट के संदर्भ में उल्लिखित है कि, लोग हृष्टपुष्ट और अच्छे वस्त्रों में तथा प्रसन्न दिखाई देते थे, जिससे प्रतीत होता है कि उन्हें गर्मी में कठोर परिश्रम के एवज में अच्छा खाना प्राप्त होता था।[19] प्रत्येक खान में पारिश्रमिक एक समान नहीं था, कुछ स्थानों पर यह राशि कम और कुछ स्थानों पर अधिक थी। टेवर्नियर द्वारा प्रदत्त विवरण में खान मजदूर के विषय में बताया गया है कि वे वर्ष भर में केवल तीन पगोड़ा ही कमा पाते थे, ये अपने कार्य में पारंगत थे।

खान मजदूरों को प्राप्त होने वाला पारिश्रमिक प्रत्येक स्थान पर समान नहीं होता था। किन्तु इनकी मजदूरी इतनी कम होती थी कि ये किसी भी कार्य में संकोच नहीं करते थे, वे रेत में हीरे ढूंढते समय हीरे छिपा भी लेते थे, इस प्रकार की गतिविधियों को रोकने के लिए खनिकों को कम वस्त्र (लंगोट) पहनने होते थे जिसके कारण से कपड़ों में वे हीरे नहीं छुपा पाते थे। इसी कारण ये हीरे चुराने के लिए मुंह में रखकर निगल जाते थे।[20] इन विवरणों से यह स्पष्ट होता है कि, कुछ स्थानों पर उन्हें संतोषजनक पारिश्रमिक प्राप्त हो जाता था और कुछ स्थानों पर यह इतना कम होता था कि वे हीरे चोरी करने जैसे कार्यों की ओर भी उन्मुख होते थे।

मजदूर सामान्यतः खानों के निकट शहरों अथवा गांवों में रहते थे, इनकी आबादी बहुत अधिक थी, कुछ स्थानों पर तो ये 30,000 से 60,000 तक थी[21], एक बार में उत्खनन हेतु 10 से 100 तक खनिक कार्य पर लगाए जाते थे। वस्तुत कार्य में लगाए गए खनिकों की संख्या ज़मीन के रकबे और खनिकों की कार्य करने की गति के अनुरूप ही निर्धारित होती थी, और उद्यमी सुल्तान को नियोजित खनिकों की संख्या के अनुसार कर देता था। खानों में भिन्न-भिन्न काम के अनुसार टोलियाँ बनी हुई थीं जिन्हें निश्चित कार्य दिया जाता था, उद्यमी एक सहायक रखता था जो निगरानी करता था कि खनिक मजदूर हीरे छिपाकर अपने पास न रख सके।[22] वस्तुतः धातु से संबंध रखने वाले हस्तशिल्पों में श्रम सहकारिता होती थी। हीरे की खानों में मजदूरों के आर्थिक संगठन के समान अन्य बहुमूल्य जवाहरातों की खानों में भी आर्थिक संगठन थे।

खान मजदूरों के कार्य करने की स्थिति के विषय में अध्ययन से यह दृष्टिगत होता है कि उनके साथ किसी प्रकार की जोर जबरदस्ती नहीं की जाती थी और वे काम करने या नहीं करने के लिए स्वतंत्र थे, किन्तु यह भी सत्य है कि हीरे के खान मजदूरों और व्यापारियों को कुछ बाध्यता या अनुशासन मानने ही पड़ते थे। उल्लेखनीय है कि गोलकुंडा के शासक ने खानों के आसपास के बाजारों में बिकने वाले अनाज पर कर लगाया था जो लगभग 50% होता था, और कुछ वस्तुओं यथा नमक, पान, तंबाकू पर यह कर बाजार मूल्य से 100% से 300% तक भी लगाया गया था। स्ट्रेंशाम मास्टर के कथनानुसार सभी खनिकों और उनसे संबंधित लोगों को खान की ज़मीन पर ही निवास करना होता था, गल्लपेल्ले शहर के विवरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है; जो खान से एक से डेढ़ मील के अंदर की सीमा में आता था, किन्तु खनिकों को शहर में रहने की अनुमति नहीं थी, न ही किसी हीरा व्यापारी को शहर में रहने की छूट दी गई थी, वे खान के क्षेत्र के अंदर ही रहते थे।[23] इन अनुशासनों के होते हुए भी हीरा व्यापारियों के विषय में यह कहा

जा सकता है कि वे उचित लाभ कमा लेते रहे होंगे, किन्तु खनिक वर्ग के विषय में यह कहना कठिन है कि उनकी स्थिति संतोषजनक रही होगी अथवा नहीं, फिर भी यह कहा जा सकता है कि मजदूरों को कार्य करने हेतु बाध्य नहीं किया जाता था, और खान मजदूर अपनी इच्छा से कार्य करते थे, और इन्हें नकद अथवा अनाज के रूप में पारिश्रमिक दिया जाता था।

उपरोक्त विवरण से यह उजागर होता है कि खनन उद्योग राज्य के अधीन संचालित होता था। खनन उद्योग इस काल में संबंधित क्षेत्रों में आजीविका का एक अच्छा स्रोत था, साथ ही साथ इस क्षेत्र से राज्यों को पर्याप्त मात्रा में राजस्व की भी प्राप्ति होती थी। हीरे के खनिक विशेष तकनीकी ज्ञान से अवगत थे। इस प्रकार खनिक वर्ग का कार्य केवल शारीरिक श्रम की श्रेणी में ही नहीं रखा जा सकता बल्कि ये विशेष वैज्ञानिक विधियों एवं तकनीकी कौशल के साथ इस कार्य को करते थे। इस प्रकार हीरे के खनन उद्योग से संबंधित श्रमिकों हेतु खनिक शब्द का प्रयोग उचित प्रतीत होता है क्योंकि इनके कार्य में शारीरिक श्रम एवं व्यावसायिक कुशलता दोनों ही सम्मिलित थी, खनन कार्य में भिन्न-भिन्न स्तरों पर विभिन्न समूहों द्वारा अलग-अलग कार्यों को संपादित किया जाता था जो एक प्रकार से सामूहिक कार्य की शैली (श्रम सहकारिता) को दर्शाता है।

संदर्भ एवं टिप्पणियां

1. एस. बागची, *हिस्ट्री ऑफ माइनिंग इन इंडिया*-सिरका 1400-1800 एण्ड टेक्नोलॉजी स्टेटस, इंडियन जर्नल ऑफ साइंस, मई 1980, 15(1):25-29
2. आचार्य विष्णुगुप्त, *कौटिल्य अर्थशास्त्र*, (संपादक श्री भारतीय योगी), प्रकाशक, संस्कृति संस्थान, बरेली, 1988 पृ. 151, 155
3. मार्को पोलो., *ट्रैवेल्स ऑफ मार्को पोलो*, अनु. ऱ्युगोफ मिल्टन, न्यूयॉर्क एण्ड लंदन, पृ. 255-56
4. 'दी कैम्ब्रिज इकनॉमिक हिस्ट्री ऑफ इण्डिया', वॉल. 1, 1200-1750, सं. तपन राय चौधरी एण्ड इरफान हबीब, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, पृ.77
5. विलियम्स मेथ्वोल्ड, *रिलेशंस ऑफ गोलकुंडा इन दी अर्ली सेवेन्टीन्थ सेंचुरी*, संपादित-डब्ल्यू. एच. मोरलैंड, लंदन 1931, पृ. 31-32
6. यूजेनीया वनीना, अर्बन *क्राफ्ट्स एण्ड क्राफ्ट्समेन इन मेडिएवल इंडिया* – थर्टीन्थ टू एटीन्थ सेंचुरी, 2004, पृ. 43
7. विलियम्स मेथ्वोल्ड, *रिलेशंस ऑफ गोलकुंडा इन दी अर्ली सेवेन्टीन्थ* सेंचुरी, लंदन 1931, पृ. 32
8. विष्णुगुप्त आचार्य, कौटिल्य अर्थशास्त्र, सं.पृ. 151, 155
9. वही, पृ. 32-33

10. वही, पृ. 32-33; यूजेनीया वनीना, *अर्बन क्राफ्ट्स एण्ड क्राफ्ट्समेन* उपर्युक्त, पृ. 43
11. एस. मास्टर, दी *डायरीज़ ऑफ स्ट्रेंशाम मास्टर* 1675-1680 एंड अदर कंटेम्पोरेरी पेपर्स रिलेटिंग देअर टू, भाग-2, लंदन, 1911, पृष्ठ 172-173; जे. करेरी. थेवेनोट, जे.एफ.जे., *इंडियन ट्रेवल्स ऑफ थेवेनोट एंड करेरी*, नई दिल्ली, 1949, पृ. 143
12. थेवेनोट, ज. करेरी., जे.एफ.जे., *इंडियन ट्रेवल्स ऑफ थेवेनोट एंड करेरी*, पृ. 143
13. एस. मास्टर, *दी डायरीज़ ऑफ स्ट्रेंशाम मास्टर* 1675-1680 एंड अदर कंटेम्पोरेरी पेपर्स रिलेटिंग देअर टू, भाग-2, पृ. 172
14. जीन बेपटिस्ट टेवर्नियर, ट्रेवेल्स इन इंडिया, भाग-2, मैकमिनल एण्ड को. लंदन, 1889, पृष्ठ 46
15. एस. मास्टर, दी डायरीज़ ऑफ स्ट्रेंशाम मास्टर उपर्युक्त, पृ. 172
16. *रिलेशंस ऑफ गोलकुंडा इन दी अर्ली सेवेन्टीन्थ सेंचुरी*, लंदन 1931, पृ. 31-32; टी. ए. बावरी, *ज्याग्राफिकल अकाउंट ऑफ दी कन्ट्रीज़ राउंड* दी बे *ऑफ बंगाल* 1669-1679, कैम्ब्रिज, 1905, पृ. 172
17. रिलेशंस ऑफ दी गोलकुंडा, पृ. 33
18. एस. मास्टर, *दी डायरीज़ ऑफ स्ट्रेंशाम मास्टर*, पृ. 172
19. उपर्युक्त, भाग-1, पृ. 175
20. जीन बेपटिस्ट. टेवर्नियर, *ट्रेवेल्स इन इंडिया*, भाग-2, पृ. 46
21. दी कैम्ब्रिज इकनॉमिक हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, वॉल. 1, 1200-1750, (सं.-तपन राय चौधरी एण्ड इरफान हबीब), पृ. 314
22. टी. ए. बावरी, उपर्युक्त, पृ. 172
23. एस. मास्टर, उपर्युक्त, पृ. 323

मनीषा मिश्रा
(इतिहास विभाग)

डॉ. अमिता शुक्ला
(सहायक आचार्य)
डॉ. शकुन्तला मिश्रा राष्ट्रीय पुनर्वास विश्वविद्यालय

❑❑❑

प्रारंभिक आधुनिक राजस्थान संबंधित इतिहास लेखन : एक सर्वेक्षण

• डॉ. मयंक कुमार

इतिहासकारों का ही नहीं बल्कि कवियों, चारणों, और साहित्यकारों का अतीत को समझने और उसको अपनी समझ और सुविधा के अनुसार चित्रित करने का प्रयास सतत है और स्पष्ट रूपों में दिखाई पड़ता है। भारत में प्रारंभिक आधुनिक युग के दौरान भाग्य से राजस्थान इस मामले में एक महत्वपूर्ण और समृद्ध क्षेत्र के रूप में दृष्टिगोचर होता है। रियासतों और उनके शक्तिशाली शासकों के प्रोत्साहन और राजकीय संरक्षण ने गीतों, एवं अन्य साहित्यिक कृतियों के संरक्षण और उसकी उपलब्धता हेतु अपनी अहम् भूमिका निभाई है। इस संकलन की प्रकृति राजनीतिक, धार्मिक, और साहित्यिक आदि मानी जा सकती है। साथ ही इस काल से संबंधित बहुत सारे प्रशासनिक और गैर-प्रशासनिक दस्तावेजों का संकलन राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर में संरक्षित है, अर्थात प्रारंभिक आधुनिक युग के इतिहास लेखन के लिए यहाँ प्रचुर मात्रा में सामग्री उपलब्ध है। इतिहास लेखन के लिए उपलब्ध सामग्री बहुत विस्तृत और विविधतापूर्ण है, जो कि ऐतिहासिक लेखन के लिए एक व्यापक कैनवास प्रस्तुत करती है। यह लेख प्रारंभिक आधुनिक युगीन राजस्थान संबंधित इतिहास लेखन की मुख्य प्रवृतियों और संभावनाओं का आकलन करने का एक प्रयास है।[1]

राजपूतों के साथ राजस्थान का जुड़ाव इतिहासकारों की कल्पना में इतना गहरा रहा है कि वे पूर्ववर्ती शासकों, जनजातियों, यानी भीलों, मीना, मेव तथा जाटों आदि के इतिहास की प्रायः अनदेखी करते रहे हैं। राजस्थान के बीसवीं सदी के इतिहासकारों पर जेम्स टॉड के लेखन का काफी गहरा प्रभाव रहा है।[2] इस कालखंड के दौरान राजस्थान में राजकीय संरक्षण में हो रहे इतिहास लेखन को तत्कालीन ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में समझना पड़ेगा। अधिकांश इतिहासकार उन राजपूत राज्यों में रह रहे थे जो अंग्रेजों के प्रभुत्व को न केवल स्वीकार कर

चुके थे बल्कि उनकी कृपा पर निर्भर भी थे। अतः स्वाभाविक था कि उनके लेखन में अंग्रेजों का चित्रण नकारात्मक रूप में संभव ही नहीं था, बल्कि अंग्रेज इतिहासकारों की तर्ज पर इस काल के इतिहासकारों ने मुग़लों और सुल्तानों के काल को मुस्लिम विदेशी आततायी काल के रूप में दर्शाया। इस काल के इतिहासकारों को अंग्रेज विदेशी आततायी नज़र नहीं आ रहे थे बल्कि सदियों से भारत में बसे मुसलमान विदेशी नज़र आ रहे थे।

इस प्रकार का दृष्टिकोण गौरीशंकर हीराचंद ओझा, विश्वेश्वरनाथ रेऊ तथा जगदीश सिंह गहलोत आदि द्वारा लिखित इतिहास में बहुतायत से प्रकट होता है, परन्तु उनके योगदान को इतिहास लेखन में यहीं तक सीमित नहीं किया जा सकता है। कर्नल जेम्स टॉड की तरह, वे भी राजपूताना/राजस्थान की राजनीति, समाज और संस्कृति के केंद्र के रूप में राजपूत और उनके इतिहास को ही देखते थे। वैसे तो उनके लेखन का केंद्र मुख्य रूप से मुस्लिम आक्रमणकारियों के प्रति राजपूतों के प्रतिरोध पर था, परन्तु इतिहास लेखन क्षेत्र के लिए उपलब्ध विभिन्न स्रोतों से संबंधित सूचनाओं का दस्तावेजीकरण गौरीशंकर हीराचंद ओझा का महत्वपूर्ण योगदान था। उन्होंने अपने इतिहास लेखन में साक्ष्य के लिए साहित्यिक स्रोतों के साथ, जिनमें से अधिकांश राजकीय संरक्षण में लिखे गए थे, बड़े पैमाने पर अभिलेखीय साक्ष्य पर भरोसा किया। यही कारण है कि विशेश्वर नाथ रेऊ[3] और जगदीश सिंह गहलोत[4] के लेखन का केंद्र प्राचीन भारतीय इतिहास रहा, और उनकी यह कोशिश रही कि उनके आश्रयदाता राजपूत राजवंशों को लम्बी और ऐतिहासिक वंशावली के सहारे प्राचीनता प्रदान की जा सके। साथ ही साथ उनके शौर्य को अधिक मुखर और आकर्षित बनाने के लिए विदेशी मुस्लिम आक्रमणकारियों को चुनौती देते प्रदर्शित किया गया। हालाँकि जगदीश सिंह गहलोत अपने लेखों में राजनीतिक इतिहास की सीमा लाँघ कर सामाजिक इतिहास के सरोकारों पर भी लेखन करते नज़र आते हैं।[5]

दशरथ शर्मा ने राजपूतों की उत्पत्ति पर लिखते हुए टॉड की परंपरा को आगे बढ़ाते हुए चारणों के स्रोतों पर दृढ विश्वास किया। वही दूसरी ओर, दशरथ शर्मा ने 'पृथ्वीराज रासो' का ऐतिहासिक विश्लेषण करके एक बहुप्रचलित भ्रम को ठीक करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी और यह सुझाव दिया था कि यह सोलहवीं शताब्दी की कृति है और इसका लेखन बारहवीं शताब्दी में माना जाना ऐतिहासिक दृष्टि से गलत होगा, जैसा कि उस समय तक व्यापक रूप से माना जाता था। किसी भी ग्रन्थ या साहित्यिक कृति का ऐतिहासिक विश्लेषण करके उसके समय का निर्धारण करने की प्रवृति को दशरथ शर्मा ने अपने लेखन में पर्याप्त स्थान दिया था।

राजपूत-केंद्रित दृष्टिकोण का प्रभाव परवर्ती इतिहास लेखन में भी दिखाई पड़ता है, लेकिन कुछ परिवर्तन के साथ। इतिहास लेखन अब शासकों के व्यक्तित्व और उनकी वंशावली को केंद्र में रख कर लिखा जाने लगा था। इस तरह के इतिहास का सबसे अच्छा उदाहरण दशरथ शर्मा द्वारा लिखित 'अर्ली चौहान डाईनेस्टीज़',[6] आर.वी. सोमानी द्वारा रचित 'महाराणा कुंभा',[7] आर.एन. प्रसाद लिखित 'राजा मान सिंह का जीवन और उनका काल',[8] सी.बी. त्रिपाठी द्वारा रचित 'मिर्ज़ा राजा जयसिंह का जीवन और उनका काल',[9] एस.आर. शर्मा कृत 'महाराणा राजसिंह का जीवन और उनका काल'[10], वी.एस. भटनागर द्वारा लिखित 'सवाई जयसिंह का जीवन और उनका काल'[11], बेनी गुप्ता ने मराठों के राजस्थान में आक्रमण की विवेचना करते हुए इस टकराव में कोटा राज्य का राजा न होते हुए भी ज़ालिम सिंह झाला की भूमिका को अपने शोध का केंद्र बनाया[12], जी.एन. शर्मा द्वारा लिखित 'मेवाड़ और मुग़ल'[13], वी.एस. भार्गव कृत 'मारवाड़ और मुग़ल'[14], के.एस. गुप्ता द्वारा लिखित 'मेवाड़ और मराठा'[15] तथा जी.आर. परिहार की पुस्तक 'मारवाड़ और मराठा संबंध'[16], आदि प्रमुख हैं।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के दशकों में, राजस्थान के इतिहास लेखन के प्रति दृष्टिकोण में एक बड़ा परिवर्तन दिखाई देता है। अलीगढ़ के तत्कालीन इतिहासकार एस.नुरुल हसन[17] और सतीश चंद्र[18] आदि ने व्यक्तित्वों के इतिहास या राज्यों और वंशों के इतिहास की अपेक्षा राजनीतिक संस्थानों, सामाजिक संरचनाओं और प्रारंभिक आधुनिक राजस्थान की अर्थव्यवस्था के विश्लेषण को प्राथमिकता देना शुरू कर दिया। इन इतिहासकारों ने एक ओर राजस्थान के इतिहास को नितांत राजपूतों के इतिहास या सिर्फ उनकी शिष्टता और शौर्यता के रूप में सीमित करने की अपेक्षा व्यापक रूप से तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक कारकों के परिप्रेक्ष्य में समझने पर विशेष जोर दिया।[19] साथ ही साथ राजस्थान के इतिहास को केवल मुसलमानों और हिंदुओं के संदर्भ या दूसरे शब्दों में कहें तो मुग़लों के विरुद्ध राजपूतों के विरोध के रूप में चित्रित करने की भ्रामक ऐतिहासिक परंपरा को भी चुनौती दी। जी.डी. शर्मा[20], नॉर्मन पी. ज़िग्लर[21], जी.एस.एल. देवड़ा[22], और मधु टंडन सेठिया[23] ने राजपूत-राजनीति के संबंध में टॉड के सामंतवाद के मॉडल को खारिज कर दिया। इन इतिहासकारों के अध्ययनों ने मुग़ल साम्राज्य में राजपूत राज्यों के राजनीतिक समावेश की प्रकृति, उससे उनके आंतरिक प्रशासनिक ढांचें में आये बदलावों की विवेचना करते हुए कर्नल टॉड के सामंतवाद के मॉडल को नकार दिया। साथ ही साथ तत्कालीन राज-व्यवस्था से जुड़े बहुत से प्रशासनिक

दस्तावेजों, जैसे कि अड़सट्टा, अर्ज़दाश्त, खतूत अहलकारान, चिट्ठी, सनद परवाना बही तथा कागद बही आदि के अध्ययन के आधार पर इन राजपूत राज्यों में विकसित हुई मनसब/जागीर प्रणाली का भी पटाक्षेप किया।[24]

इतिहास लेखन की इस समझ के अनुसार, सैयद इनायत अली ज़ैदी[25] ने मुग़लों के अधीन और राजस्थान के राज्यों में प्रशासनिक और सैन्य संस्थानों का तुलनात्मक विश्लेषण किया। उनके आपसी हितों पर प्रकाश डालते हुए, उन्होंने मुग़ल और राजपूत राज्यों के मध्य समन्वय, आपसी तालमेल, कभी-कभी प्रतिस्पर्धा की विवेचना करते हुए यह इंगित किया कि राजनीतिक ढांचों में बहुत समानता देखी जा सकती है। इसको राजपूत राज्यों में नितांत हिन्दू राजनीतिक प्रणाली और मुग़लों के राज्य को इस्लामिक मानते हुए उनमें टकराव के रूप में चित्रित करना ऐतिहासिक दृष्टि से गलत सिद्ध किया। फ्रांसेस टाफ्ट प्लंकेट[26] और नॉर्मन पी. ज़िग्लर[27] जैसे विद्वानों ने स्पष्ट रूप से बताया कि मुग़लों और राजपूतों की विभिन्न रियासतों के बीच संघर्ष और सहयोग को दो प्रतिस्पर्धी राजनीतिक शक्तियों के बीच संघर्ष और गठबंधन के एक प्रकरण के रूप में देखा जाना चाहिए, न कि दो धर्मों के बीच श्रेष्ठता की जंग के रूप में। इधर हाल में राजस्थान राजकीय अभिलेखागार में संरक्षित दस्तावेजों खासकर मारवाड़ और बीकानेर से संबंधित बहियों आदि के गहन अध्ययन के आधार पर राजेंद्र कुमार तत्कालीन सेना की संरचना, उसके रखरखाव, अस्त्र-शस्त्र, तथा सैन्य प्रबंधन से जुड़े खर्चे, आदि पर प्रशंसनीय लेखन कर रहे हैं।[28]

इसी कड़ी में एक अन्य प्रमुख प्रवृत्ति गांव और परगना स्तर के अभिलेखीय स्रोतों के आधार पर ग्रामीण अर्थव्यवस्था और समाज का अध्ययन रहा है, जिसमें कृषि उत्पादन, कराधान, कृषि उत्पाद मूल्य, किसान ऋण व्यवस्था, गावों की सामाजिक संरचना और कार्यप्रणाली पर समृद्ध जानकारी के साथ साथ जाति और वर्ग चरित्र के संदर्भ में समाज को समझने के प्रयास सम्मिलित हैं। एस पी गुप्ता[29] ने पूर्वी राजस्थान में कृषि उत्पादन प्रणाली की प्रकृति का विभिन्न प्रकार के प्राथमिक, ग्राम स्तर के दस्तावेजों के आधार पर तत्कालीन इतिहास को समझने में अग्रणी भूमिका निभाई। उन्होंने कृषि-उत्पादन संबंधों और भू-राजस्व प्रशासन के कामकाज का विशद विवरण प्रस्तुत किया। इसी प्रकार के इतिहास लेखन को आगे बढ़ाते हुए जी.एस.एल. देवड़ा[30] ने बीकानेर में भू-राजस्व प्रशासन के कामकाज की जांच की और वहां की प्रशासनिक व्यवस्था की व्याख्या करते हुए राजपूतों के पारम्परिक राजनीतिक ढांचे में 17वीं-18वीं सदी में आये परिवर्तनों को समझने का प्रयत्न किया। साथ ही साथ इस प्रक्रिया में मुग़लों की राजनीतिक प्रणाली के प्रभाव की भी

विवेचना की। परंपरागत राजस्व स्रोतों के आधार पर प्रोफेसर दिलबाग सिंह[31] ने भू-राजस्व प्रशासन के कामकाज की गहराई से जाँच करते हुए अधिशेष की वसूली में जाति की भूमिका की विवेचना की। उन्होंने तत्कालीन राजनीतिक संरचनाओं के कामकाज में सामाजिक पदानुक्रम के महत्व पर प्रकाश डाला। राज्य द्वारा किसानों के शोषण पर अंकुश लगाने के प्रयासों को उजागर करने में उनकी खोज मौलिक रही है। इसी कड़ी में हाल में प्रकाशित कांति लाल माथुर का बीकानेर की अर्थव्यवस्था पर किया गया शोध भी उल्लेखनीय है।[32]

भंवर लाल भादानी ने मारवाड़ क्षेत्र पर ध्यान केंद्रित किया और मारवाड़ राज्य की अर्थव्यवस्था का दस्तावेजीकरण करने के अपने प्रयास में, उन्होंने 'एलोडियल प्रॉपर्टीज' के संबंध में टॉड की अवधारणा पर प्रश्न उठाया।[33] उन्होंने मारवाड़ क्षेत्र की आबादी सहित संसाधनों की मात्रा की गणना करने का प्रयास किया।[34] भू-राजस्व के इन्ही दस्तावेजों का अध्ययन करते हुए आर.पी. राणा ने तर्क दिया कि भू-राजस्व के अधिग्रहण को लेकर विभिन्न समूहों में निरन्तर टकराव होते रहते थे और जो भी समूह इस पर अपना अधिपत्य स्थापित करने में सफल हो जाता, उसके शासक के रूप में उभरने की संभावना बढ़ जाती थी।[35]

भू-राजस्व के स्रोतों का गहन अध्ययन करते हुए सूरजभान भारद्वाज[36] मेव जाति के लोगों के, जो कि मुख्यतः पशुपालक थे, कृषक बनने की प्रक्रिया को दर्शाते है। उन्होंने अपने लेखन से दर्शाया कि किन अर्थों में प्रारंभिक आधुनिक काल के दौरान राजस्थान सहित पूरे भारत में कृषि का विस्तार हो रहा था और इस विस्तार के दौरान गैर कृषक समुदायों के कृषक बनने की अनवरत प्रक्रिया उजागर होती है, जैसा कि नीलाद्री भट्टाचार्या[37] की पुस्तक बहुत सुन्दर तरीके से इसे प्रस्तुत करती है। नारायण सिंह राव ने भू-राजस्व के स्रोतों का अध्ययन करने के लिए दक्षिणी-पूर्वी राजस्थान को चुना, अर्थात कोटा-बूंदी क्षेत्र का आर्थिक इतिहास लिखा। इनके अध्ययन के अनुसार राजनीतिक-आर्थिक गतिविधियों की पड़ताल से राज्य के स्वरुप को समझा जा सकता है।[38] तत्कालीन समाज का अध्ययन करते हुए नारायण सिंह राव कहते हैं कि राजघराने की स्त्रियों की व्यावसायिक क्रियाकलापों में बहुत रुचि थी क्योंकि राज्य/राजा के द्वारा उनको कुछ भूमि के राजस्व का आवंटन अथवा बाग़-बगीचे से होने वाली आमदनी में एक हिस्सा आवंटित होता था।[39]

भू-राजस्व से जुड़े दस्तावेजों और मुग़लों पर केंद्रित इतिहास लेखन की राष्ट्रीय प्रवृति का प्रभाव राजस्थान संबंधी इतिहास लेखन पर भी देखने को मिलता है। भू-राजस्व से जुड़े प्राथमिक स्रोतों, जिनमें अर्थव्यवस्था के दूसरे पक्षों

पर इतिहासकारों का ध्यान कम ही गया, जैसे व्यापार और वाणिज्य का अध्ययन और शहरी और ग्रामीण अर्थव्यवस्था के बीच संबंधों से जुड़े इतिहास पर अधिक लेखन शुरू में देखने को नहीं मिलता है। कृषि कार्य और विभिन्न कृषि उत्पादों की प्रक्रिया में महाजनों की महत्वपूर्ण भूमिका होती थी। दिलबाग सिंह ने अपने शोध से उजागर किया कि राज्य भी आमतौर पर महाजनों की सेवाएं न केवल अपनी सैन्य जरूरतों के लिए लिया करता था बल्कि किसानों को कृषि कार्य हेतु ऋण मुहैया करने में भी उपयोग करता था।[40] बी.एल. गुप्ता[41] का व्यापार और वाणिज्य का अध्ययन और माधवी बाजेकल[42] की ग्रामीण व्यापार की गतिशीलता की उत्कृष्ट व्याख्या और पूर्वी राजस्थान के क़स्बों की अर्थव्यवस्था इस आयाम को समझने के दो महत्वपूर्ण लेखन हुए। जबकि अठारहवीं सदी के पश्चिमी राजपुताना के बीकानेर, जैसलमेर व मारवाड़ राज्यों के व्यापार-वाणिज्य पर राजेन्द्र कुमार ने उल्लेखनीय शोध किया है।[43]

प्रारंभिक आधुनिकयुगीन राजस्थान के ग्रामीण समाज के अध्ययन में शिव कुमार भनोत[44] का पंचायत व्यवस्था पर शोध बहुत गहन है जोकि तत्कालीन समाज, राज्य-व्यवस्था और जातिगत सामाजिक संरचना के अंत: संबंधों से अवगत कराता है। इसी क्रम में हरबंस मुखिया का लेख[45] और अभी हाल ही में प्रकाशित सूरजभान भारद्वाज का लेख भी उल्लेखनीय है। इस लेख में वह कृषक समुदायों, राज्य और बिचौलियों (भोमिया, इजारेदार, जागीरदार, तथा जमींदार आदि) के जटिल संबंधों की विवेचना किसानों में वर्ग चेतना के उदय के सन्दर्भ में विश्लेषित करते है और इस प्रक्रिया में जातिगत चेतना और निहितार्थ की भूमिका पर प्रकाश डालते हैं।

प्रारंभ से ही व्यापार-वाणिज्य का शहरीकरण से गहरा संबंध रहा है, आरम्भिक आधुनिक कालीन राजस्थान में कई नए शहरों की स्थापना हुई और बहुत से शहर और अधिक विकसित हुए। जिब्राईल[46] अपने शोध के जरिये जनसँख्या, आर्थिक दशा और शहरीकरण के गूढ़ रिश्ते की विवेचना करते हैं और शहरीकरण के विकास में वहां की म्युनिसिपल व्यवस्था और जल की उपलब्धता की केन्द्रीयता को उजागर करते हैं। इसी प्रक्रिया में उन्होंने जल संचयन की बहुत सी व्यवस्थाओं और उससे जुड़ी पुरातात्त्विक संरचनाओं के सर्वेक्षण को भी अपने लेखन में महत्वपूर्ण स्थान दिया। व्यापार और वाणिज्य ममता त्यागी के शोध में काफी मजबूती से मुखर होता है। ममता[47] ने पोद्दार पेपर्स का अध्ययन करके व्यापार के तरीकों और वाणिज्य की बारीकियों को इतिहास लेखन में जगह दी। ममता का शोध जी.एस.एल. देवड़ा द्वारा प्रस्तावित अवधारणा को और दृढ़ करता है, जिसमें वह मुत्सद्दी से मारवाड़ी[48] बनने के इतिहास को रेखांकित करते है। व्यापार और वाणिज्य में सूदखोरों के महत्त्व

और उनकी भूमिका पर ममता त्यागी[49] का लेखन प्रशंसनीय है। सुमित दहिया[50] ने आमेर राज्य के राजकीय कारखानों का अध्ययन करते हुए विभिन्न कारीगरों के समुदायों के सामाजिक इतिहास पर लेखन किया है।

अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर इतिहास लेखन की परंपरा में आने वाले परिवर्तनों, जिसमें इतिहास के लिए एक अंतःविषयक दृष्टिकोण पर जोर दिया जाने लगा, का प्रभाव राजस्थान पर हो रहे इतिहास लेखन पर भी देखने को मिलता है। इसी दौर में भारतीय और अंतर्राष्ट्रीय विद्वानों के संयुक्त शोध लेखन ने कुछ महत्वपूर्ण आलेख उपलब्ध कराये, जिनमें मुख्य था—दो भागों में छपा *आईडिया ऑफ़ राजस्थान*।[51] इस संकलन ने राजस्थान पर इतिहास लेखन को एक नई दिशा देने में बहुत उपयोगी भूमिका निभाई, जिनमें लॉयड रूडोल्फ, सुज़ैन रूडोल्फ, नार्मन जिगलर तथा एन. गरोडज़ीन्स गोल्ड आदि विद्वानों द्वारा लिखित इतिहास प्रमुख हैं।

गौरतलब है कि, इस सदी के शुरुआती दो दशकों में राजस्थान पर ऐतिहासिक लेखन ने इतिहास की समझ को नया विस्तार दिया है। राजनीतिक प्रक्रियाओं, जातियों और समुदायों के इतिहास, किसानों और अन्य सामाजिक समूह, स्त्रियों का इतिहास, अपराधों का इतिहास, सांस्कृतिक प्रसार के स्वरूप और पर्यावरण इतिहास, आदि ऐतिहासिक जांच के नए क्षेत्रों के रूप में उभर कर इतिहास लेखन के केंद्र में आ गए है।

नॉर्मन ज़िग्लर[52] ने सुझाव दिया कि मुग़ल काल के दौरान शाही सेवा और रिश्तेदारी की परंपरागत संरचनाओं के साथ-साथ वैवाहिक गठबंधनों के जटिल समीकरण ने राजपूत पहचान के निर्माण में गहरी भूमिका निभाई थी । राम्या श्रीनिवासन ने अपने एक लेख के माध्यम से एक ही ऐतिहासिक घटना पर दो अलग-अलग काल में हुए लेखन, कान्हड़दे प्रबंध और नैणसी री ख्यात का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए स्मृति और तत्कालीन इतिहास लेखक के बदलते सरोकारों के की दृष्टि से ऐतिहासिक स्रोतों की जटिलता को उजागर किया।[53] हाल ही में तनूजा कोटयाल ने वैवाहिक गठबंधनों के जटिल समीकरण की विवेचना करते हुए इसके दूसरे पहलुओं पर एक उल्लेखनीय लेख लिखा।[54] डी.एच.ए.कॉफ़[55] ने राजपूतों के एक सामाजिक वर्ग के रूप में उभरने और समेकन में वंशावली के महत्व को अपने लेखन में प्रकट किया; एक प्रक्रिया जिसमें सैन्य उद्यमिता की परंपरा ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उनका सुझाव है कि सोलहवीं शताब्दी के अंत तक एक समृद्ध राजपूत परंपरा का उदय होने लगा था। टकराव और समन्वय की राजनीति के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए सूरजभान भारद्वाज[56] ने शैल मायाराम[57] की उस अवधारणा पर प्रश्न उठाया है और मेवों

की पारंपरिक छवि को चुनौती दी है, जिसमें उन्हें आत्मनिर्भर, परिवर्तनहीन और स्वायत्त के रूप में चित्रित किया था। उन्होंने स्थानीय ऐतिहासिक स्रोतों के आधार पर भारत के गावों और समुदायों की औपनिवेशिक या दूसरे शब्दों में कहें तो प्राच्य समझ को नकारते हुए किसी भी समाज की मौलिक गतिजता को उजागर किया। बहुप्रयुक्त अभिलेखों को एक नए दृष्टिकोण से देखते हुए निर्मल कुमार ने अपराध और आपराधिकता का इतिहास लिखा।[58] हाशिये पर रहने वाले समुदायों को सामान्यतः अपराधी की दृष्टि से देखा जाता रहा है। लोकेश भारती ने अपने शोध कार्य 'पूर्वी राजस्थान के मीणाओं की छवि का पुनर्निर्माण'[59] में मीणाओं के औपनिवेशिक काल में एक आपराधिक जनजाति के रूप में चित्रण पर आपत्ति करते हुए तत्कालीन सामाजिक चेतना के सन्दर्भ में व्याख्यायित किया।

घुमंतू समाज की गतिशीलता, उनका जुझारू स्वभाव, निरंतर प्रवासन की प्रवृत्ति और कृषि आधारित राज्य के प्रति परस्पर अविश्वास आदि के कारण उनका चित्रण तत्कालीन ऐतिहासिक स्रोतों में प्रायः कम ही देखने को मिलता है। प्रायः उनका बहुत-सा इतिहास स्मृतिजनक रहा है, इसलिए उनका इतिहास लिखना हमेशा से एक टेढ़ी खीर रहा है। घुमंतू समाज, जोकि आम तौर पर पारम्परिक इतिहास लेखन में हाशिये पर ही रहता है, का इतिहास लिखने की एक बहुत ही सुन्दर और सक्षम पहल तनुजा कोटयाल के लेखन में दिखाई पड़ती है। इतिहास लेखन में स्रोतों को नए तरीके से देखते हुए और उनमें कम मुखरित इतिहास को स्थान देते हुए उन्होंने हाशिये के समाज का बहुत उत्तम चित्रण किया है।[60] इसी क्रम में मनीषा चौधरी का शोध भी महत्वपूर्ण हो जाता है, जो कि बंजारों के इतिहास को अपने लेखन में स्थान देती हैं।[61]

यह विडंबना ही है कि मध्यकालीन और आरम्भिक आधुनिककालीन भारतीय इतिहास को आधुनिक राष्ट्र राज्य की भौगोलिक सीमाओं तक ही सीमित कर दिया गया है। आरम्भिक आधुनिक कालीन राज्यों, विशेष रूप से उत्तर-पश्चिम या उत्तर-पूर्वी भारत की सीमा वाले राज्यों को वर्तमान राष्ट्रीय सीमाओं में बांधना गलत ऐतिहसिक दृष्टिकोण है। यदि एक ओर राष्ट्रीय सीमाओं को दोष दिया जाए तो हम इस तथ्य को भी अनदेखा नहीं कर सकते हैं कि बहुत कम ऐसे इतिहासकार हैं जो उस समय के बहुभाषी स्रोतों के साथ सुगमता से शोध कर सकते हैं। अगर एक ओर तनूजा कोटयाल का लेखन इस समस्या से जूझता नज़र आता है तो वहीं जी.एस.एल. देवड़ा का लेखन भी इस प्रवृत्ति को चुनौती देते हुए आधुनिक राष्ट्रीय सीमाओं को लांघता है।[62] इसी परंपरा में सुनीता ज़ैदी[63] का लेख भी महत्वपूर्ण स्थान रखता है और हमें राजस्थान के इतिहास लेखन की इस कमी से अवगत भी कराता है।

राजस्थान में राज्य गठन, राज्य की बदलती अवधारणा, संरचना संबंधी इतिहास लेखन की एक लम्बी परंपरा रही है। गौरतलब है कि राज्य गठन एक निरंतर चलने वाली प्रक्रिया है और समय के साथ नए स्रोतों की उपलब्धता ने अथवा/और इतिहास की बदलती समझ ने राज्य गठन और उसके स्वरूप के नए आयामों को उजागर किया है। राज्य और समाज के बीच संबंधों का अध्ययन, अधिशेष की निकासी और कानून और व्यवस्था के रखरखाव, आदि से परे, हमें एक नयी तस्वीर देखने का मौका देता है। इस सन्दर्भ में यह प्रश्न भी महत्वपूर्ण हो जाते हैं कि राज्य किन सामाजिक मानदंडों और परंपराओं को संरक्षित करने की और किन्हें बदलने की कोशिश करता दिखाई देता है? इसके नैतिक और वैचारिक मूल्य क्या थे और इसके कौन से नए पहलू को समझना जरूरी हो जाता है? नंदिता प्रसाद सहाय ने राज्य के साथ कारीगरों और कामगार जातियों के पारस्परिक संबंधों और दोनों के बीच पारस्परिक लेन-देन और पारस्परिक निर्भरता के इतिहास को लिखते समय तत्कालीन सामाजिक चेतना, मानदंडों और मूल्यों की भूमिका को उजागर किया। राज्य किस प्रकार और किस सीमा तक सामाजिक मूल्यों और परम्पराओं की दृष्टि से अपने प्रशासनिक और न्यायिक हस्तक्षेप को संचालित करते थे अर्थात राज्य राजनीतिक परिणाम और वर्ग-समुदायों से जुड़े अपने निहितार्थ के अनुसार कभी सामाजिक परम्पराओं पर जोर देते हुए यथास्थिति बनाये रखने की बात करते थे और कभी आवश्यकता के अनुसार सामाजिक परम्पराओं में परिवर्तनों को भी लागू करने का आदेश देता दृष्टिगोचर होता है।[64]

भारत में प्रारंभिक आधुनिक युग के पर्यावरणीय इतिहास लेखन की शुरुआत राजस्थान के पर्यावरणीय इतिहास के साथ देखने को मिलती है। पिछली सदी के अंतिम दशकों में भारत का पर्यावरणीय इतिहास अंग्रेजों द्वारा प्राकृतिक संसाधनों के शोषण पर ही केंद्रित था। जी.एस.एल. देवड़ा ने अपने लेखन के माध्यम से प्रकृति को मानव का इतिहास समझने के लिए आवश्यक बताया। उन्होंने उत्तरी राजस्थान और दक्षिणी पंजाब की सीमा पर लगभग चौदहवीं सदी तक 'लाखी जंगल' के मौजूद होने एवं उसके बाद में विलुप्त होने के ऐतिहासिक साक्ष्यों को क्रमबद्ध तरीके से एक सूत्र में बांधते हुए रेगिस्तान के पंजाब की तरफ विस्तार को समझने का एक उम्दा उदाहरण प्रस्तुत किया।[65] प्रकृति के इतिहास को और प्रकृति-मानव संबंधों के इतिहास को समझने का यह एक महत्वपूर्ण दस्तावेज सिद्ध हुआ। तत्पश्चात मयंक कुमार ने राजस्थान के शुष्क और अर्द्ध शुष्क क्षेत्र में मानव-पर्यावरण संबंधों को समझने का प्रयत्न किया। उन्होंने मौसम, विशेषकर जल और जल उपलब्ध करने में मानसून की भूमिका के इतिहास को उजागर करने के लिए राजनीतिक पहल के साथ-साथ तत्कालीन

सांस्कृतिक समझ को अपने लेखन में महत्वपूर्ण स्थान दिया।[66] किसी भी समाज और राज्य के लिए जल की केंद्रीयता के इतिहास को लिखते हुए उन्होंने यह भी दर्शाने की कोशिश की कि प्रारंभिक आधुनिक युग में भारत के राज्य कृषि उत्पादन में गांव के स्तर तक गहरा हस्तक्षेप करते थे। औपनिवेशिक इतिहासकारों द्वारा भारतीय राज्य को नितांत शोषक और उत्पादन की प्रक्रिया के प्रति उदासीन मानने की प्रवृत्ति को उन्होंने नकारते हुए राज्य के स्वरूप की एक नयी समझ साझा की।[67] भूपिंदर कुमार चौधरी ने अकाल और सूखा जैसी प्राकृतिक आपदाओं पर सघन शोध किया। इसी कड़ी में एक और महत्वपूर्ण शोध अभिमन्यु आढा[69] का है। अभिमन्यु आढा ने अपने शोध में राज्य की सैन्य जरूरतों और समाज तथा व्यापार के लिए यातायात के साधनों; पशु विशेषकर घोड़ा और बैल के चारे की उपलब्धता के महत्व को अपने लेखन के माध्यम से उजागर किया। पर्यावरणीय तत्त्वों/कारकों को इतिहास की व्याख्या में स्थान देने का एक और उदाहरण नितिन गोयल[70] के शोध में देखने को मिलता है। राजेश गौतम प्राकृतिक परिवर्तनशीलता और उससे जुड़ी अनिश्चिताओं से निबटने में तत्कालीन समाज द्वारा शकुन विचार को अपने शोध में चित्रित करते हैं।[71] वैसे तो भूगोल अथवा प्रकृति अपने भौतिक रूप में तो बहुत लम्बे समय तक परिवर्तित नहीं होती है, परन्तु भूगोल अथवा प्रकृति से मानव संबंध या मानव की समझ बदलती रहती है। मयंक कुमार इस बदलती समझ के इतिहास को अपने लेख में विवेचित करते हुए नज़र आते है।[72]

प्रारंभिक आधुनिकयुगीन राजस्थान में धार्मिक परंपराओं के अध्ययन के लिए एक समृद्ध ऐतिहासिक परंपरा विद्यमान रही है। किस तरह से धार्मिक परंपराओं को प्रायः सत्ताधारी लोगों द्वारा विनियोजित किया जाता था/है और धार्मिक मान्यताओं का इस्तेमाल अपने प्रभुत्व को मजबूत करने के लिए किया जाता था। इस संदर्भ में नॉर्बर्ट पीबॉडी,[73] मोनिका हॉर्स्टमैन[74] और आर.पी. बहुगुणा[75], आदि की रचनाएँ उल्लेखनीय हैं।

राजस्थान में धार्मिक संप्रदायों और लोकप्रिय पंथों ने पेमा राम,[76] डोमिनिक सिला खान[77], जे.डी. स्मिथ, डैनियल गोल्ड, याक़ूब अली[78], और अन्य विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया है। सिला खान ने बहुत ही स्पष्ट रूप से सुझाव दिया है कि मध्ययुग-प्रारंभिक आधुनिकयुगीन में धार्मिक पहचान बहुत तरल थी और उन्हें केवल एक परंपरा तक सीमित करना कठिन है। पश्चातवर्ती पंथों पर इस्लामी विचार के प्रभाव को कम नहीं किया जा सकता है, लेकिन साथ ही, वह ठीक ही सुझाव देती है कि मध्य युग और प्रारंभिक आधुनिक युग के दौरान राजस्थान में कई पंथों का उद्भव, विकास, विस्तार और धार्मिक

परंपराओं का बहुत व्यापक स्तर पर सम्पूर्ण विश्व में फैलाव को दर्शाता है। हीरालाल माहेश्वरी ने एक बहुत ही लोकप्रिय धार्मिक पंथ-'बिश्नोई' की परंपराओं और प्रथाओं से संबद्ध श्रमसाध्य शोध किया है।

मैक्स हारकोर्ट का सुझाव है कि करणी माता की कथा को राजनीतिक वर्ग द्वारा क्षेत्र के जाट किसानों पर अपने शासन को वैध बनाने के लिए विशेष रूप से प्रस्तुत किया गया था।[80] मौखिक परंपराओं के माध्यम से धार्मिक-सांस्कृतिक प्रसार की प्रक्रिया को जॉन स्मिथ ने लोकप्रिय धार्मिक पंथों को समझने के लिए बहुत मजबूत अंतर्दृष्टि प्रदान की। उनके स्मारकीय कार्य, द *एपिक ऑफ पाबूजी*[81], ने धार्मिक अध्ययन में शोध के नए क्षेत्रों को खोलने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इसी तरह, डेनियल गोल्ड[82] ने दादू पंथियों का क्षेत्रीय संदर्भ में परीक्षण करते हुए यह सुझाव दिया कि इस क्षेत्र के राजनीतिक-सांस्कृतिक परिवेश ने ऐसे संप्रदायों के विकास और विस्तार की संभावनाएं उजागर की हैं।

अन्य विषयों के साथ, ऐतिहासिक शोध के क्षेत्र के रूप में स्त्रियों संबंधी इतिहास लेखन हाल के दिनों में बहुत प्रासंगिक हो गया है। घरेलू/पारिवारिक संगठन का स्त्रियों संबंधी इतिहास विवेचना में महत्वपूर्ण स्थान है। कुमकुम सांगरी[83], परिता मुक्ता[84] आदि जैसे इतिहासकारों ने इस विषय पर सशक्त लेखन किया है। इस संदर्भ में राजस्थान में जनानी ड्योढ़ी पर वसुमती शर्मा और किरण शेखावत[85] का लेखन उल्लेखनीय है। प्रारंभिक आधुनिकयुगीन राजस्थान में महिलाओं की स्थिति पर शशि अरोड़ा[86], राजस्थान में बहुविवाह पर वर्षा जोशी[87] और विवाह की संस्था पर सविता सिंह[88], रोटी सट्टा और निम्न जातियों में विधवा विवाह आदि पर कैलाश रानी[89], राजा महाराजाओं द्वारा पोषित रखैलों का सामाजिक-ऐतिहासिक अध्ययन प्रियंका खन्ना[90] के लेखन में देखने को मिलता है। राजकीय राजस्व के दस्तावेजों, जिनमें उस समय हो रहे अपराधों पर तत्कालीन राज्य द्वारा दिए जाने वाले दण्डों का विस्तृत विवरण मिलता है, के आधार पर दिलबाग सिंह ने एक अत्यंत महत्वपूर्ण लेख प्रकाशित किया। उन्होंने पारम्परिक प्रारंभिक आधुनिकयुगीन राज्य की समझ को बदलते हुए राज्य द्वारा घरेलु पारिवारिक संबंधों तक में हस्तक्षेप को उजागर किया जोकि उस समय अंग्रेजों द्वारा प्रसारित और प्रचारित की गई थी।[91]

राजस्थान में उपलब्ध राजकीय प्रशासनिक-भूराजस्व केंद्रित स्रोतों पर आधारित इतिहास लेखन के समानांतर पिछले दो दशकों में राजस्थान में मौजूद समृद्ध साहित्यिक स्रोतों पर आधारित इतिहास लेखन भी बड़े स्तर पर हुआ है। न केवल साहित्यिक दृष्टि से साहित्यिक स्रोतों को परखा गया बल्कि उनके

सहारे स्मृति में संरक्षित या प्रेषित इतिहास को बखूबी समझा गया। ऐतिहासिक घटनाओं के साहित्यिक चित्रण में लेखक द्वारा ली जाने वाली साहित्यिक स्वतंत्रता को इतिहासकार को समझना जरूरी होता है। राम्या श्रीनिवासन[92] द्वारा चित्तोड़ की रानी पद्मावती से संबंधित अतीत और उससे जुड़े मिथक के इतिहास को अपने लेखन में सशक्त रूप में दर्शाया है। ऐतिहासिक घटनाओं के मिथकीकरण और उससे जुड़ी राजनीति तथा साथ ही साथ औपनिवेशिक राज्य द्वारा उसके राजनीतिक उपयोग को उजागर करने में राम्या श्रीनिवास की पुस्तक ने गहरी भूमिका निभाई है। ऐसा ही एक और महत्वपूर्ण शोध सिंथिया टैलबोट द्वारा भी किया गया है। उन्होंने पृथ्वीराज चौहान[93] के मिथकीकरण के इतिहास को अपनी पुस्तक में व्याख्या सहित समझाने का प्रयास किया है। रेणु बहुगुणा ने अपने शोध में महाराणा प्रताप से जुड़े मिथक और मिथक के इतिहास को जगह दी है।[94] वही दूसरी ओर जेनेट कमफ्रॉस्ट जैसे इतिहासकारों ने अपने लेखन में भाषा के विकास और उस विकास में तत्कालीन राजनीतिक-सामाजिक परिस्थितियों की भूमिका को प्रकट किया है।

इधर हाल में हुए कुछ नए शोधों की चर्चा भी आवश्यक है, जैसे कि तृप्ति देव का चारणों के सामाजिक-राजनीतिक जीवन को समझने का प्रयत्न। चारण महिलाओं के तात्कालिक जीवन को समझने की कोशिश भी तृप्ति देव कर रही हैं। शासन को बेहतर तरीके से चलाने के लिए राजाओं को विभिन्न समुदायों के बीच तालमेल बनाये रखना पड़ता था, विशेषकर प्रारंभिक आधुनिकयुगीन राजस्थान में, जहाँ पदों और पदानुक्रम का बहुत महत्व था। राज्य द्वारा सामाजिक व्यवस्था को बनाये रखने के लिए प्रतीकों और रीतियों को बड़ा महत्व दिया जाता था। मयूराक्षी कुमार आमेर राज्य के दस्तावेज 'दस्तूर कौमवार' का अध्ययन इस दिशा में एक सार्थक प्रयास है। प्रारंभिक आधुनिकयुगीन राजस्थान से संबंधित चित्र बहुतायत में उपलब्ध है। आमतौर पर चित्र/पेंटिंग राजकीय संरक्षण में तैयार होते थे। शैलका मिश्रा राजस्थान की इस समृद्ध स्रोतों पर शोध कर रही है जिसमें न केवल पेंटिग की चर्चा की गयी है बल्कि पेंटिग से जुड़ी राजकीय व्यवस्था--'सूरतखाना' की भूमिका का भी इतिहास लिखा जा रहा है।[98]

यह लेख अधूरा रह जायेगा अगर हम इस काल के लिए उपलब्ध पुरातत्त्वीय अध्ययन की चर्चा नहीं करेंगे। राजस्थान का आरम्भिक आधुनिक काल पुरातात्त्विक साक्ष्यों का प्रचुर भंडार उपलब्ध कराता है और इतिहासकारों और पुरातत्त्ववेत्ताओं ने बहुत गहन अध्ययन करते हुए न केवल तत्कालीन तकनीकी विकास के अनछुए पहलुओं को उजागर किया है, बल्कि इन

संरचनाओं के सामाजिक-आर्थिक संबंधों को भी अपने लेखन में स्थान दिया है। पुरातत्त्वीय अध्ययन में अलीगढ़ विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग ने अग्रिम भूमिका निभाई। प्रारंभिक दौर में राजीव शर्मा और नदीम रिज़वी[99] ने आमेर से संलग्न जयगढ़ किले के करोड़पति टांका का पुरातत्त्वीय सर्वेक्षण प्रकाशित किया। राजस्थान के अर्द्ध शुष्क क्षेत्र में स्थित इस किले की चारदीवारी को जल इकट्ठा करने वाली नहरों/नाली के रूप में विकसित करते हुए तत्कालीन समाज और राज्य ने पहाड़ी पर स्थित इस किले की जल की आवश्यकताओं को सुरक्षित किया। यह तकनीक का एक बेहतरीन उदाहरण है, जिसमें भू-दृश्य के उतार-चढ़ाव को बारीकी से परखते हुए जल के प्रवाह को इस प्रकार संचालित किया कि बिना किसी मानवीय हस्तक्षेप के जल, कुंड तक पहुँच जाता था।

पुरातत्त्वीय साक्ष्यों का एक महत्वपूर्ण आयाम आरम्भिक आधुनिक काल में निर्मित बांधों के रूप में आज भी संरक्षित है। इस काल में बांधों का निर्माण अगर एक तरफ तकनीकी विकास को दर्शाता है तो वही दूसरी ओर राज्य की केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति को भी प्रकट करता है। इक़्तेदार आलम खान, रवींद्र कुमार आदि पुरातत्त्व-इतिहासकारों ने उदयपुर[100] और जयपुर[101] के आसपास के बांधों का पुरातत्त्वीय सर्वेक्षण प्रकाशित किया। राज्य के गठन में सिंचाई के साधनों के महत्व को जैसलमेर के क्षेत्र में खडीन के पुरातत्त्वीय सर्वेक्षण के माध्यम से अली नदीम रिज़वी आदि ने अपने लेख में उजागर किया।[102] मेवाड़ क्षेत्र के सिंचाई के पुरातत्त्वीय साक्ष्यों का अध्ययन भंवर लाल भादानी[103] ने अपनी पुस्तक में समग्र रूप से प्रकाशित किया है, वही नागौर शहर और उसके आसपास के सिंचाई के पुरातत्त्वीय साक्ष्यों का अध्ययन जिब्राइल[104] के लेख में प्रकाशित हुआ। राज्य के केंद्रीयकरण के आयाम पर मयंक कुमार का लेख[105] जल्द ही प्रकाशित होने वाला है।

अंत में यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि प्रारंभिक आधुनिकयुगीन राजस्थान से संबंधित इतिहास लेखन न केवल बहुत विविध है बल्कि बहुत समृद्ध भी है। राजस्थान में उपलब्ध अभिलेखागारीय और साहित्यिक स्रोतों को इतिहासकारों द्वारा बहुत कुशलता से प्रयोग किया जा रहा है जिससे प्रारंभिक आधुनिकयुगीन काल के इतिहास को समझने की नयी परिपाटी भी विकसित हो रही है। इतिहास लेखन के लिए उपलब्ध स्रोतों मात्र से इतिहास लेखन की समृद्ध परंपरा विकसित नहीं हो जाती है वरन् इतिहास लेखन की बदलती अवधारणा और परिपक्व समझ की दृष्टि से इतिहासकारों द्वारा जटिल सामाजिक,राजनीतिक, आर्थिक, पर्यावरणीय तथा बौद्धिक आदि पहलुओं को

तथ्यों की कसौटी पर कसने की कोशिशों से इतिहास लेखन नयी ऊंचाईयों को छू पाता है।

* प्रोफेसर दिलबाग सिंह, जी.एस.एल. देवड़ा, सूरजभान भारद्वाज और आर.पी. बहुगुणा का खासतौर पर शुक्रिया अदा करना चाहता हूँ जिन्होंने मुझे राजस्थान के इतिहास के विभिन्न आयामों से जुड़े लेखन से अवगत कराया। मैं प्रोफेसर भँवर लाल भादानी का भी शुक्रगुजार हूँ कि उन्होंने मुझे इस लेख को लिखने के लिए प्रोत्साहित किया।

सन्दर्भ

1. किसी भी परिचयात्मक निबंध में सभी इतिहासकारों और उनके लेखन को चित्रित करना काफी कठिन है, अतः संभव है कि कुछ चूक रह जाये तो उसके लिए अग्रिम माफ़ी मांग लेना जरूरी है। अभी हाल ही में हरबंस मुखिआ का लेख इसी काल से संबंधित लेखन का अखिल भारतीय सर्वेक्षण प्रस्तुत करता है : Harbans Mukhia, 'Evolving Contours of Medieval Indian History', First Sir Jadu Nath Sarkar Lecture, Bangiya Itihasa Samiti and Jadavpur University, Kolkatta, 24 February, 2017. मध्यकालीन राजस्थान से जुड़े इतिहास लेखन का सर्वेक्षण जी.एस.एल. देवड़ा के राजस्थान हिस्ट्री कांग्रेस के 19वें सत्र (2001, शिवगंज अधिवेशन) के अध्यक्षीय भाषण—'परंपरागत समाज और आधुनिक इतिहास लेखन' में देखा जा सकता है।
2. Rajat Kant Ray, "Colonel James Tod, Muhanota Nainasi and the Rajputs', *Indian Historical Review*, Vol. 25, No. 2, June 1999, pp. 100-111; Lloyd I Rudolf and Sussane Rudolf, *Romanticism's Child : An Intellectual History of James Tod's influence on Indian History and Historiography,* Oxford University Press, Delhi, 2017
3. विश्वेश्वर नाथ रेउ, *राजा भोज*, हिंदुस्तान अकादेमी, जोधपुर, 1932; *राष्ट्रकूटों का इतिहासः प्रारंभ से लेकर राव सीहाजी के मारवाड़ में आने तक, आर्कियोलोजिकल डिपार्टमेन्ट*, जोधपुर, 1934; *मारवाड़ का इतिहास, आर्कियोलोजिकल डिपार्टमेन्ट*, जोधपुर, 1938.
4. जगदीश सिंह गहलोत, *राजपूताने का इतिहासः संस्कृत पुस्तकों, फ़ारसी तवारीखों, शिलालेखों, ताम्रपत्रों, सिक्कों और ख्यातों, की आधार पर प्राचीन समय से वर्तमान काल तक का समस्त राजपुताना प्रान्त का सचित्र इतिहास,* (दो भागों में), हिंदी साहित्य मंदिर, जोधपुर, 193।

5. जगदीश सिंह गहलोत, *राजस्थान का सामाजिक जीवन,* (देवेंद्र सिंह गहलोत द्वारा मरणोपरांत सम्पादित), यूनिक ट्रेडर्स, जोधपुर, 1973। गौरतलब है कि जगदीश सिंह गहलोत द्वारा संकलित इतिहास सम्बन्धी सामग्री महाराजा मानसिंह पुस्तक प्रकाश, जोधपुर में उनके नाम : 'जगदीश सिंह गहलोत संकलन', से संकलित है।

6. Dashrath Sharma, *Early Chauhan Dynasties : A study of Chauhan political history, Chauhan Political institutions and life in the Chauhan Dominions from* 800 to 1316 -D, Motilal Banarsidas, Delhi, 1975

7. आर.वी. सोमानी, *महाराणा कुम्भा 1460-1525,* एलोरा प्रिंटर्स, जयपुर, 1968.

8. Rajiv Nain Prasad, Raja Man Singh of Amber, The World Press Private Ltd. Calcutta 1966.

9. सी.बी. त्रिपाठी, *मिर्जा राजा जय सिंह का जीवन और उनका काल,* अप्रकाशित शोध प्रबंध, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, 1959

10. S R Sharma, *Maharana Raj Singh and his times*, Motilal Banarasi Das, Delhi 1971.

11. V S Bhatnagar, *Life and Times of Sawai Jai Singh*, Impex India, Delhi 1974.

12. Beni Gupta, *Maratha penetration into Rajasthan*, Research Publications in the Social Sciences, New Delhi, 1979.

13. G N Sharma, *Mewar the Mughal Emperors* 1526-1707, Shiva Lal Agarwala Co. Ltd., -gra, 1954.

14. V S Bhargava, *Marwar and the Mughal Emperors* 1526-1748, Munshiram Manoharlal, Delhi, 1966.

15. K S Gupta, *Mewar and the Maratha Relations*: (1735-1818), S. Chand, Delhi, 1972.

16. G R Parihar, *Marwar and the Marathas*, 1724-1843 -D, Hindi Sahitya Bhandar, Jodhpur, 1968

17. S N Hasan, K. N. Hasan and S.P Gupta, 'The pattern of Agricultural Production in the territory of Amber (c.1650-1750)', *Proceedings Indian History Congress*, 1966, pp. 24-26.

18. Satish Chandra, 'Some Aspects of Indian Village Society in Northern India during the 18th Century', *Proceedings Indian History Congress*, 1974, pp. 51-64.

19. राजस्थान की पहचान को राजपूतों का पर्याय मानने वाले इतिहास को चुनौती देते

हुए बी.डी. चट्टोपाध्याय का अध्ययन राजपूतों के आदिवासी और खानाबदोश मूल से जमींदार अभिजात वर्ग के रूप में, प्रारंभिक मध्ययुगीन काल उभरने में, के इतिहास का बहुत ही प्रबल उदहारण है। कबीलाई समाज से राज्य के रूप में गठन के विकास में सिंचाई व्यवस्था और कृषक बस्तियों की स्थापना की महत्वपूर्ण भूमिका की बेजोड़ व्याख्या प्रस्तुत की। B. D. Chattopadhyaya, 'Origins of the Rajputs: The Political, Economic and Social Processes in Early Medieval Rajasthan', *Indian Historical Review*, 3, 1976, pp. 59-82.

20. G. D. Sharma, *Rajput Polity : A Study of Politics and Administration of the State of Marwar*, 1638-1749, Manohar Publications, Delhi, 1977.

21. Norman P. Ziegler, 'Evolution of the Rathor State of Marvar: Horses, Structural Change and Warfare, in *The Idea of Rajasthan, Explorations in Regional Identity*, Vol. II, Institutions, eds., Karine Schomer, Joan L. Erdman, Deryck O Lodrick, Lloyd L Rudolph, Manohar and American Institute of Indian Studies, New Delhi, 1994, pp. 192-216.

22. जी.एस.एल. देवड़ा, *राजस्थान इतिहास के अभिज्ञान रूप*, राजस्थान हिंदी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 2010.

23. Madhu Tandon Sethia, *Rajput Polity: Warriors, Peasants and Merchants, 1700-1800*, Rawat, Jaipur, 2003

24. Satish Chandra and S P Gupta, 'The Jaipur Pargana Records', Indian Economic and Social History Review, Vol.3, Issue, 3, 1966, pp. 303-14.

25. S Inayet Ali Zaidi, 'Rozinndar Troopers under Sawai Jai Singh of Jaipur (A.D. 1700-1743)', *Indian Historical Review*, Vol. X, No.1-2, July 1983-January 1984, pp. 45-65.; Ordinary Kachwaha Troopers Serving the Mughal Empire: Composition and Structure of the Contingents of the Kachwaha Nobles, *Studies in History*, Vol.-II, No.1, Jan-June 1980.

26. Frances Taft Plunkett, 'Royal Marriages in Rajasthan', *Contributions to Indian Sociology*, Vol. VII, Issue-1, 1973, pp. 64-80

27. Norman P. Ziegler, 'Some Notes on Rajput Loyalties During the Mughal Period', in John F. Richards, ed., *Kingship and Authority in South Asia*, University of Wisconsin, South Asian Studies Publication Series, Madison, 1978, pp. 215-51..

28. राजेंद्र कुमार, 'मारवाड़ की सेना में सैन्य बल की आपूर्ति के स्रोत-एक अध्ययन', *Proceedings of Rajasthan History Congress*, Vol. XXXIII, February 2019, pp. 244-50.

29. S. P. Gupta, *The Agrarian System of Eastern Rajasthan* (c. 1650-1750), Manohar Publications, Delhi, 1986.

30. जी. एस. एल. देवड़ा, राजस्थान की प्रशासनिक व्यवस्था (1574 से 1818 ई.) बीकानेर संभाग के सन्दर्भ में, धरती प्रकाशन, बीकानेर, 1981.

31. Dilbagh Singh, The State, Landlords and Peasants, Manohar, New Delhi, 1990.

32. K L Mathur, The Economy of Bikaner State 1746-1828 -D, LG Publishers Distributors, Delhi-2016.

33. B L Bhadani, 'The Allodial Proprietors: The Bhumias of Marwar', Indian Historical Review, Vol.6, No.1-2, 1979-80, pp. 141-53.

34. B. L. Bhadani, Peasants, *Artisans and Entrepreneurs: Economy of Marwar in the 17th Century,* Rawat Publication, Jaipur, 1999.

35. R P Rana, Rebels to Rulers: The *Rise of Jat Power in Medieval India C.* 1665-1735, Manohar, Delhi, 2006.

36. Suraj Bhan Bhardwaj, *Contestations and Accommodations*: *Mewat and Meos in Mughal India*, Oxford University Press, Delhi, 2016.

37. Neeladri Bhattacharya, The *Great Agrarian Conquest: The Colonial reshaping of a Rural World*, Orient Blackswan, Hyderabad, 2018.

38. Narayan Singh Rao, *Rural Economy and Society : A study of the South-Eastern Rajasthan during the Eighteenth Century*, Rawat Publication Jaipur A 2002.

39. Narayan Singh Rao, 'Role of The State, The Royal Ladies And The Malis In Management of Gardens And Promotion Of The Garden Economy In The Kota State (1670-1800 A.D.)', presented at National Seminar on Palaces, Gardens and Water Bodies : A Study of the Urban Space in India at Mahila P.G. Mahavidyalaya, Jodhpur, July 25-26, 2016.

40. Dilbagh Singh, 'The Role of Mahajans in the Rural Economy in Eastern Rajasthan During the 18th Century', *Social Scientist*, Vol. 2, No. 10, October 1974, pp. 22-31.

41. B L Gupta, *Trade and Commerce in Rajasthan during the 18th Century,* Jaipur Publishing House, Jaipur, 1987.

42. Bajekal Madhvi, 'Agricultural Production in Six Selected Qasbas of Eastern Rajasthan (c.1700-1780)', Unpublished Ph.D. Thesis, University of London, London, 1990.

43. Rajender Kumar, Woolen Trade in Western Rajputana (1750-1818 A.D.) : Its Impact on Society and Economy, Unpublished thesis, approved by Maharaja Ganga Singh University, Bikaner, (Raj.), 2010

44. शिव कुमार भनोत, *राजस्थान में पंचायत व्यवस्था*, University Book House, Jaipur 2000.

45. Harbans Mukhia, Illegal Extortions from Peasants, Artisans and Menials in Eighteenth Century Eastern Rajasthan', *Indian Economic and Social History Review,* Vol. 14 No. 2, 1977, pp. 231-45

46. Jibraeil, *Economy and Demographic profile of Urban Rajasthan (Eighteenth-Nineteenth Centuries)*, Manohar, Delhi, 2018

47. Mamta, 'Petty Moneylending to Ijaradari : Multiple Facets of Indigenous Banking of Rajasthan during Seventeenth and Eighteenth Centuries', in *Revisiting the History of Medieval Rajasthan: Essays for Prof. Dilbagh Singh, eds*., S.B. Bhardwaj, R.P. Bahuguna and Mayank Kumar, Primus, New Delhi, 2018, pp. 197-239.

48. G S L Devra, 'A Rethinking on the Politics of Commercial Society in PreBritish India: From Mutsaddi to Marwari', *Occasional Papers*, Nehru Memorial Museum and Library, New Delhi, 1987

49. Mamta Tyagi, 'Moneylenders in the Jaipur State during the Pre-Colonial Period,' in *Revisiting the History of Medieval Rajasthan: Essays for Prof. Dilbagh Singh,* eds., S.B. Bhardwaj, R.P. Bahuguna and Mayank Kumar, Primus, New Delhi, 2018, pp. 310-36.

50. Sumit Dahiya, 'Kapdo Ka Kothar : Structure working Mechanism during the 18th Century', *Proceedings Rajasthan History Congress*, Vol. 31, 2017 Jodhpur session, pp. 94-100.

51. Karine Schomer, Joan L. Erdman, Deryck O Lodrick, Lloyd L Rudolph, Eds. *The Idea of Rajasthan, Explorations in Regional Identity*, 2 Vols., Manohar and American Institute of Indian Studies, New Delhi, 1994

52. Ziegler, 'Some Notes on Rajput Loyalties During the Mughal Period.

53. Ramya Sreenivasan, 'The 'Marriage' of 'Hindu' and 'Turak': Medieval Rajput Histories of Jalore' *Medieval History Journal*, Vol.7, No. 1, 2004, pp. 87-108.

54. Tanuja Kothiyal, 'A' Mughal' Rajput or a 'Rajput' Mughal? Some Reflections on Rajput-Mughal Marriages In the Sixteenth and Seventeenth Centuries', in *Revisiting the History of Medieval Rajasthan: Essays for Prof. Dilbagh Singh*, eds., S.B. Bhardwaj, R.P. Bahuguna and Mayank Kumar, Primus, New Delhi, 2018, pp. 264-95.

55. Dirk H.A. Kolff, *Naukar, Rajputs and Sepoy: The ethnohistory of the military labour market in Hindustan*, 1450-1850, Cambridge University Press, Cambridge, 1990.

56. Bhardwaj, *Contestations and Accommodations: Mewat and Meos in Mughal India*

57. Shail Mayaram, *Against History, Against State: Counterperspectives from the Margins*, Permanent Black, Delhi, 2004.

58. Nirmal Kumar, 'Gender and Crime in 18th Century Rajasthan' *Indian Historical Review*, Vol. XXX, No. 2003, pp. 40-54.

59. Lokesh Bharti, 'Reconstructing the image of Meenas of Eastern Rajasthan', unpublished Ph D Thesis, Centre for Historical Research, Jawaharlal Nehru University, New Delhi, 2011

60. Tanuja Kothiyal, *Nomadic Narratives: A History of Mobility and Identity in the Great Indian Desert,* Cambridge University Press, New Delhi, 2016.

61. Manisha Choudhary, *Trade Transport and Tanda: Shifting Identities of Banjaras*, Primus, Delhi, 2018

62. G S L Devra, Traders and Missionaries: A Case Study of Sarts of Asia, in *Revisiting the History of Medieval Rajasthan: Essays for Prof. Dilbagh Singh*, eds., S.B. Bhardwaj, R.P. Bahuguna and Mayank Kumar, Primus, New Delhi, 2018, pp. 20-34.

63. Sunita Zaidi, 'The Mughal State and tribes in seventeenth century Sind', *Indian Economic and Social History Review*, Vol. 26, Issue, 3, 1989, pp. 343-62

64. Nandita Prasad Sahai, *Politics of Patronage and Protest* : *The State, Society and Artisans in Early Modern Rajasthan*, Oxford University Press, Delhi, 2006.

65. G. S. L. Devra, 'Desertification and Problem of Delimitation of Rajputana Desert During the Medieval Period', *Human Ecology*, Special Issue, No. 7, 1999, pp. 97-107.

66. Mayank Kumar, *Monsoon Ecologies: Irrigation, Agriculture and Settlement Patterns in Rajasthan during the Pre-Colonial Period*, Manohar, Delhi, 2013.

67. Mayank Kumar, 'Claims on Natural Resources: Exploring the Role of Political Power in Pre-Colonial Rajasthan, India', *Conservation and Society*, Vol. 3, No. 1, June 2005, pp. 134-49.

68. Bhupinder kumar Choudhary, Mitigating Climatic Adversity in Seventeenth-Eighteenth Century Rajasthan: A Study pf the Socio-Political Negotiations', in *Revisiting the History of Medieval Rajasthan: Essays for Prof. Dilbagh Singh*, eds., S.B. Bhardwaj, R.P. Bahuguna and Mayank Kumar, Primus, New Delhi, 2018, pp. 93-115.

69. Abhimanyu Singh Arha, 'Hoofprint of Empire : An Environmental History of Fodder in Mughal India (1650-1850)' *Studies in History,* Vol. 32, issue, 2, 2016, pp.186-208.

70. Nitin Goyal, 'Dynamics of Natural Resources Management: An Environmental History of North-Western Rajasthan (1746-1887 AD)', unpublished thesis, Department of History, Delhi University, Delhi, 2016.

71. Rajesh Gautam, 'Environment, Ecology and 'Shakun' in Eighteen Century' in *Historical Documents History*, Ed. Anuradha Mathur, Rajasthani Granthagar, Jodhpur, 2016, pp. 83-90.

72. Mayank Kumar, 'Genealogy/ies of geographies: Cultural-hegemonic to counter/complimentary narratives', in *Reconfiguring Historical Landscape of Rajasthan: Essays for GSL Devra*, Eds. Mayank Kumar, Suraj Bhan Bhardwaj, R. P. Bahuguna and Sangeeta Sharma, Aakar Books, Delhi, 2021, pp.160-74.

73. Nobert Peabody, *Hindu Kingship and Polity in Precolonial India*, Cambridge University Press, Cambridge, 2006.

74. Monika Horstmann, *Bhakti and Yoga : A Discourse in Seventeenth Century Codices, Primus, Delhi, 2021; In favour of Govinddevji: Historical documents Relating to a Deity of Vrindaban and Eastern Rajasthan*, Manohar, Delhi, 1999.

75. R P Bahuguna, 'Religious Festivals as Political Rituals : Kingship and Legitimation in Late Pre-Colonial Rajasthan', *in Revisiting*

the History of Medieval Rajasthan: Essays for Prof. Dilbagh Singh, eds., S.B. Bhardwaj, R.P. Bahuguna and Mayank Kumar, Primus, New Delhi, 2018, pp. 84-92.

76. पेमा राम, *मध्यकालीन राजस्थान में धार्मिक आंदोलन,* अर्चना प्रकाशन अजमेर, 1977.

77. Dominique Sila Khan, *Conversions and Shifting Identities: Ramdev Pir and the Islamite in Rajasthan*, Manohar, Delhi, 1997.

78. Yaqoob Ali, *Sufi Movements in Rajasthan during the Medieval Period, unpublished* Ph D Thesis, Aligarh Muslim University, Aligarh, 1984

79. हीरालाल माहेश्वरी जाम्भोजी, *बिश्नोई सम्प्रदाय ओर साहित्य*, B. R. Publications, Calcutta, 1970.

80. Max Harcourt, 'The Deshnoke 'Karni Mata' Temple and Political Legitimacy in Medieval Rajasthan, *South Aisa*, Vol. XVI, Special Edition, 1993, pp.33-48.

81. J D Smith, The Epic of Pabuji, *A Study, Transcription, and Translation*, Katha Books, New Delhi, 1991.

82. Daniel Gold, The Dadu Panth: A Religious Order in its Rajasthan Context' in *The Idea of Rajasthan, Explorations in Regional Identity, Vol. II, Institutions, eds.*, Karine Schomer, Joan L. Erdman, Deryck O Lodrick, Lloyd L Rudolph, Manohar and American Institute of Indian Studies, New Delhi, 1994, pp. 242-64

83. Kumkum Sangari, Politics of Possible : *Essays on Gender, History, Narrative, Colonial English,* Tulika, Delhi, 1999.

84. Mukta Parita, *Upholding the Common Life: The Community of Mirabai*, Oxford University Press, Delhi and New York, 1994; One can also see, Divya Cheriyan, Fall from Grace? Caste, Bhakti, and Politics in Late Eighteenth-Century Marwar, in Bhakti Power: Debating India's Religion of the Heart, eds. John S. Hawley, Christian L. Novetzke, Swapna Sharma, University of Washington Press, Seattle, 2019.

85. वसुमती शर्मा, 'जोधपुर के राजवंश की जनानी ड्योढ़ी', *राजस्थान भारती,* भाग-1, साइंटिफिक पब्लिशर जोधपुर, 1995, 165-71; किरण शेखावत, *जनानी ड्योढ़ी,* महाराजा मानसिंह पुस्तक प्रकाश, जोधपुर, 2013

86. शशि अरोड़ा देवड़ा, 'मध्ययुगीन राजस्थान की नारी सहयोगी या आश्रिता', *Presidential Address, Rajasthan History Congress, XXXIII Session*, 2019, pp. 1-16.

87. Varsha Joshi, *Polygamy and Purdah: Women and Society among Rajputs,* Rawat, Jaipur, 1995

88. Sabita Singh, *The Politics of Marriage in Medieval India: Gender and-lliance in Rajasthan*, Oxford University Press, Delhi, 2019

89. कैलाश रानी, 'रोटी सट्टा का समाजशास्त्र': मारवाड़ के समाज में स्त्री दास्ता का एक रूप', *Pratimaan: Samay, Samaj avam Sanskriti*, Vol.15 Jan-June, 2020, pp. 352-68; 'Claims and Counterclaims : Widow Remarriage in Eighteenth Century Marwar', in *Revisiting the History of Rajasthan: Essays for Prof. Dilbagh Singh,* eds., Suraj Bhan Bhardwaj, R P Bahuguna Mayank Kumar, Primus, Delhi, 2017, pp.294-307

90. Priyanka Khanna, 'The female Companion in a world of Men: Friendship and Concubinage in late eighteenth century Marwar', *Studies in History*, Vol. 33 Issue. 1, 2017, pp. 98-116

91. Dilbagh Singh, "Regulating the domestic: Notes on the Pre-colonial State and the Family,' *Studies in History*, n.s. Vol. 19, no.1, 2003, 69-86.

92. Ramya Srinivasan, *Many Lives of a Rajput Queen: heroic Pasts in India,* c.1500-1900, University of Washington Press, Seattle, 2007

93. Cynthia Talbot, The Last Hindu Emperor: Prithviraj Chauhan and Indian Past, 1200-2000, Cambridge University Press, Cambridge, 2015

94. Renu Bahuguna, "Maharana Pratap's Resistance to Mughal Dominance: – reinterpretation of Regional and Imperial Perspectives', in Revisiting the History of Rajasthan: Essays for Prof. Dilbagh Singh, eds., Suraj Bhan Bhardwaj, R P Bahuguna Mayank Kumar, Primus, Delhi, 2017, pp. 177-196.

95. Janet Kamphrost, In Praise of Death: History and Poetry in Medieval Marwar, Leiden University Press, Leiden, 2008.

96. Tripti Deo, Charans in Medieval Rajasthan, Lambert Academic Publication, 2014

97. Mayurakshi Kumar, "Documenting Politico cum Social History of Jaipur Kingdom through Dastur Komwar', in Historical Documents History, ed. Anuradha Mathur, Rajasthani Granthagar, Jodhpur, 2016, pp. 76-82.

98. Shailka Misra, "Beyond the Imaginary: Paintings of Women in the Courts of Rajasthan' Catalogue to the exhibition, Visions of Paradise: Indian Court Paintings, at the National Gallery of Victoria, Melbourne.

99. Rajiv Sharma and S.A Nadeem Rezavi, "Aspects of Hydraulic Engineering in Medieval Rajasthan: A Case Study of Water System in Jaigarh Fort', in Art and Culture, eds. Ahsan Jan Qaisar and Som Prakash Verma, Publications Scheme, Jaipur, 1993, pp. 129-33.

100. Ravindra Kumar, "Structural Engineering of Gravity Dams in Medieval Mewar', Studies in Social and Economic Change in Western India Thirteenth to Twentieth Centuries, Baroda, 1997

101. I. A. Khan and Ravindra Kumar, "The Mansagar Dam of Amber', in Ancient and Medieval Technologies in India, eds., Anirudha Ray and S. K. Bagchi, Sundeep Prakashan, New Delhi, 1986, pp. 25-40.

102. S Ali Nadeem Rezavi, "Kuldhara in Jaisalmer State Social and Economic Implications of the remains of Medieval Settlement,' *Proceedings of the Indian History Congress*, 56th Session, Rabindra Bharti, Calcutta, 1995, pp. 312-38.

103. B L Bhadani, Water Harvesting, Conservation and Irrigation in Mewar, Manohar, Delhi, 2012. Please also see: Hegewald Julia, "Water Architecture in Rajasthan', in Giles Tillotson, Ed., *Stones in the Sand*: The Architecture of Rajasthan, Marg Publication, Mumbai, 2001, pp. 78-89; Victoria Lautman, *Vanishing Stepwells of India*, Merrell Publishers, London and New York, 2017

104. Jibraeil, Water Management System in the Desert region of Rajasthan: Thirteen- eighteen Centuries, Ane Book, New Delhi, 2018

105. Mayank Kumar, "Markers of early modern era: Readings in the nature of 17th -18th century polities of Rajasthan', in The Early Modern in South Asian History, eds. Meena Bhargava, Pratyay Nath, Cambridge University Press (forthcoming)

डॉ. मयंक कुमार
सह आचार्य, इतिहास
सामाजिक विज्ञान संकाय
इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय , मैदान गढ़ी
नई दिल्ली -110068

❑❑❑

साहित्य का सत्य बनाम इतिहास के तथ्य: स्रोत, सृजनात्मकता तथा नैरेटिव

• डॉ. पंकज झा

तथ्य व सत्य के पेचीदे रिश्तों पर हाल के वर्षों में न तो साहित्यिक चर्चा हुई है और न ही कोई ऐतिहासिक विवाद सामने आया है।[1] हिंदुस्तान के हिंदी जगत में या इतिहासवेत्ताओं के संकरे गलियारों में तो बिलकुल ही नहीं। ये आश्चर्य का विषय है क्योंकि इन मसलों के घालमेल से इतिहासकार, साहित्यकार और आलोचक तीनों ही जूझते रहते हैं। प्रस्तुत लेख का मकसद इन विषयों पर कुछ प्राथमिक विचारों को व्यक्त करना है, इस उम्मीद से कि इनसे हम जो गुत्थियाँ सुलझा पाएंगे उससे इतिहास और साहित्य दोनों को ही लाभ होगा। यहाँ यह प्रारंभ में ही कह देना होगा कि तथ्य व सत्य के साथ-साथ हमें इतिहास तथा साहित्य के रिश्तों को भी खंगालना होगा।

मोटी बात यह है कि साहित्य समाज की उपज है, समाज के अंदर से पनपता है, मनुष्यों के लिए मनुष्यों के द्वारा लिखा जाता है। लाज़िम है कि किसी भी समाज को समझने के लिए उस काल-स्थान विशेष का साहित्य एक बढ़िया जरिया हो सकता है। ध्यान रहे कि यह काम न तो आसान है, न सरल। हमें साहित्य समाज का आईना है वाले सोच से निकलना होगा। साहित्यिक कृतियाँ कई तरह की हो सकती हैं। दूसरी तरफ मानवीय समाज में एक निहित जटिलता है। साहित्य व समाज के बीच का संबंध भी परिवर्तनशील है। इन तीनों बातों को ध्यान में रखकर ही आप साहित्य को स्रोत के रूप में पढ़ने की कोशिश कर सकते हैं।

बिरले ही कभी कोई व्यक्ति स्रोत गढ़ता है। वर्तमान हो या अतीत, लोग तो साहित्य ही रचते हैं। वही रचनाएं स्रोत तब बनती हैं जब बाद में इतिहासकार उनको स्रोत के रूप में पढ़ते हैं। ये समझना प्रासंगिक इसलिए है कि साहित्यिक

कृतियों का एक संदर्भ होता है जिससे अलगा कर उस रचना को आप नहीं पढ़ सकते।[2] (कम से कम स्रोत के रूप में तो नहीं!) यह संदर्भ भौतिक, राजनैतिक या वैयक्तिक के साथ साथ पाठ व विधा-संबंधित भी होता है। इन सभी संदर्भों के मद्दे नज़र ही किसी कृति को स्रोत बनाने की धृष्टता की जा सकती है। उदाहरण के रूप में आप रामधारी सिंह 'दिनकर' की रचना कुरुक्षेत्र को ले लें। यदि एक इतिहासकार इस काव्य को स्रोत की तरह इस्तेमाल करना चाहे तो उसे उस काव्य को कई संदर्भों में रखकर पढ़ना होगा।[3] एक राजनैतिक संदर्भ है, कि इसको द्वितीय महायुद्ध के समाप्त होने के तुरंत बाद रचा गया था और एक तरह से यह किताब हिंदी भाषा-भाषी शहरी संभ्रातों के बीच व्याप्त शांति/युद्ध के सरोकारों को चिन्हित करती है। इसी किताब का एक पाठ-संदर्भ (textual context) भी है—बिना महाभारत को जाने आप कुरुक्षेत्र को नहीं समझ सकते। लेकिन यह पाठ संदर्भ महाभारत से आगे भी जाती है। आप कुरुक्षेत्र को टॉल्सटॉय (War and Peace) के साथ दिनकर के संवाद के रूप में भी पढ़ सकते हैं।[4] यदि थोड़े विस्तार में जाएं तो कुछ ऐसे भी अंश हैं कुरुक्षेत्र में जिन्हें आप गांधीवादी अहिंसा पर दिनकर के चिंतन के रूप में पढ़ सकते हैं। ये उसके वैचारिक संवाद के संदर्भ हैं।

इस प्रश्न पर अगर थोड़ा आड़े-तिरछे विचार करें तो कुरुक्षेत्र से दूरी बनाकर आप यह भी कह सकते हैं कि स्वातंत्र्योत्तर काल में कई प्रकार के सरोकारों पर विद्वान व कवि विचाररत थे। ऐसा क्यों है कि कुछ ख़ास वर्ग/जाति के रचनाकारों में दार्शनिक सवालों (युद्ध/शांति, गेहूं/गुलाब, भौतिक/आध्यात्मिक) को लेकर ज्यादा चिंताएं दिखाई देती हैं तथा राष्ट्रवाद पर किशोर-सुलभ उग्रता व नादानी।[5] ये भी कि क्यों बंटवारे से सबसे ज्यादा प्रभावित हैं[6], या राष्ट्रवाद के प्रति एक चिंतनशील सतर्कता है वो गंगा-यमुना दोआब के इलाकों में नहीं दिखाई देती। यदि आप इन तमाम साहित्यिक संदर्भों में रखकर कुरुक्षेत्र की व्याख्या करते हैं तभी आप साहित्य और स्रोत दोनों के साथ न्याय कर पाएंगे।

यदि मूल प्रश्न पर वापस आएँ तो इतिहास के सत्य में और साहित्य के सत्य में जो द्वंद्व दिखलाई पड़ता है उसके क्या कारण हो सकते हैं, तब जबकि दोनों राज्याश्रय में लिखे गए हों? इस सवाल का इकहरा या निश्चित जवाब संभव नहीं है। अव्वल तो साहित्य और इतिहास का फर्क हमेशा स्पष्ट नहीं होता।[7] यदि आप साहित्य को बिलकुल संकुचित अर्थ में लें कि जहाँ सिर्फ कल्पित साहित्य (कविता, कहानी, उपन्यास, आदि) को ही साहित्य मानें, तब

भी यह ध्यान रहे कि जो शुद्धतया तथ्यपरक है (यही तो इतिहास की दावेदारी है), वह भी एक गढ़े हुए कथा-नैरेटिव (यानि साहित्यिक) की शक्ल में ही अर्थपूर्ण बन पाता है। सबाल्टर्न इतिहासकारों के नैरेटिव में उत्तर प्रदेश के किसानों की जो तसवीर है[8] वह गोदान के गोबर और होरी के कथाचित्र के बहुत करीब है। लेकिन यही बात इतिहासलेखन का अन्य प्रवृत्तियों में नहीं दिखाई देती। साहित्यकारों में भी इतिहासबोध होता है, और अपने इतिहासबोध के दायरे में ही वे अपनी रचनाएं रचने के लिए बाध्य हैं।[9] यदि आप एक ही युग में, एक ही दरबार में साहित्यकारों व इतिहासकारों के काम को देखें तो कुछ विभिन्नताओं के दिखने की संभावना है, हालांकि यह आवश्यक नहीं है।

पुरातन संस्कृत साहित्य में एक ओर तथ्यपरक रचनाएं थीं, जिन्हें 'आख्यायिका' विधा में रखा जाता था और दूसरी ओर वे जिन्हें कल्पित साहित्य की शक्ल में 'कथा' विधा के दायरे में रखा जाता था। इन दोनों का फर्क नवीं सदी से ही गौण होने लगा। लेकिन फारसी अदब में ये फर्क विधाओं के स्तर पर बना रहा। यदि आप राजतरंगिणी या तारीख़-ए फ़िरोज़शाही (जिन्हें इतिहास माना जाता है) पढ़ें तो पाएंगे कि उनमें भी साहित्यिक उपादान धड़ल्ले से उपयोग में लाए गए। दूसरी तरफ पुरुष परीक्षा जैसी कथाओं में आपको ऐतिहासिक किरदार मिल जाएंगे। सोचना ये भी होगा कि जो अतीत का साहित्य है, वही इतिहासकार का कच्चा माल भी है। एक इतिहासवेत्ता के रूप में यदि मुझमें क्षमता है तो मैं साहित्य तथा इतिहास दोनों में ही सत्य की बहुलता को देख व प्रतिष्ठित कर पाऊंगा।

यह पूछना फिर भी लाजिम है कि क्या इतिहास और साहित्य के अंतर को यथार्थ और आदर्श का फर्क माना जा सकता है। यदि ऐसा है तब इतिहास लेखन के स्रोत-संदर्भ के रूप में साहित्य के चयन की क्या चुनौतियाँ हो सकती हैं? यहाँ मैं फिर से रेखांकित करना चाहूंगा कि साहित्य की तरह इतिहास भी कई तरह से लिखे जाते हैं। हर साहित्य प्रेमचंद की तरह आदर्शोन्मुख यथार्थवाद पर नहीं टिका होता। बल्कि प्रेमचंद की सभी रचनाओं में भी यह आग्रह एक समान नहीं दिखता। दरअसल यथार्थ व आदर्श का फ़र्क इतिहास और साहित्य दोनों के लिए अहम् है। उतना ही जितना उनके पढ़ने वालों के लिए। जब इतिहासकार कल्पित साहित्य को स्रोत बनाता है तब वह उसे एक खास किस्म से पढ़ता है, या पढ़ना चाहिए। अबुल फ़ज़्ल ने जब अकबरनामा लिखा, उससे लगभग पंद्रह-सोलह साल पहले तुलसीदास ने मानस की रचना की। क्या आप उन्हें एक ही तरीक़े से पढ़ सकते हैं? अकबरनामा में आप वो तथ्य देख सकते हैं

जो अकबर और उसकी सरपरस्ती में लिखने वाला अबुल फ़ज़्ल आपको दिखाना चाहता है। आप इन तथ्यों को दूसरे तथ्यों से मिलाकर सत्यापित भी कर सकते हैं। लेकिन यहाँ पेशेवर इतिहासकार के रूप में आपकी जिम्मेदारी खत्म नहीं हो जाती। अकबर व अबुल फ़ज़ल के तथ्य सत्ता के तथ्य हैं, जो सत्ता के सत्य को ही गढ़ते हैं। दूसरी तरफ़, तुलसीदास की रचनाओं में भी आपको इतिहास की निशानियां मिल जाएंगी। ऐसी चीजों का ज़िक्र मिलेगा जो पंद्रहवीं सदी से पहले संभव नहीं था।

ये समझना आवश्यक है कि साहित्य भी इतिहास का हवा-पानी लेकर ही पनपता है। या यों कहें कि साहित्य भी एक दिए हुए ऐतिहासिक परिवेश की ही उपज है। यहां 'इतिहास' से मेरा तात्पर्य सिर्फ़ लिखित इतिहास से नहीं है। इतिहास को आप अतीत व अतीत की संचित-सामूहिक स्मृतियों के बल-प्रभाव के रूप में भी देख सकते हैं।[10] क्या वजह है कि बारहवीं सदी से पहले संस्कृत तथा कुछ हद तक अपभ्रंश या प्राकृत के अलावा और किसी अन्य 'देसी' भाषाओं में साहित्य नहीं रचा गया? जब तेरहवीं सदी से हमें ये रचनाएं उत्तर भारत में मिलती भी हैं, तो रचनाकार जैसे क्षमा मांगते हुए लिखते हैं। वे अपने मंगलाचरण के तुरंत बाद इस बात की सफ़ाई देते नज़र आते हैं कि वो देस भाषा में क्यों लिख रहे हैं। वो कीर्तिलता में विद्यापति हों, मानस के तुलसी।[11] सतरहवीं सदी में केशवदास ने तो अपने आप को मंदबुद्धि तक कह डाला। मानो ये सभी रचनाकार इतिहास के उस बोझ को झटक देना चाहते थे जिसके तहत ये उम्मीद पंद्रहवीं-सोलहवीं सदी में भी बंधी थी कि उत्तम साहित्य तो संस्कृत में ही लिखा जाना चाहिए।

लेकिन संस्कृत के समांतर जब फ़ारसी जैसी अंतर्देसीय भाषा की प्रतिष्ठा बढ़ती है तो इतिहास का एक नया संदर्भ पैदा होता है और इन्हीं नई प्रवृतियों के एक तार के रूप में देस-भाषाओं में साहित्य रचना के पहल को भी समझा जा सकता है। जब तुलसी कुछ खास रचनाएं (जैसे रामचरितमानस) अवधी में रचते हैं, और कुछ अन्य ब्रजभाषा में तो उसके पीछे इन भाषाओं के (उस काल तक विकास पाए) ऐतिहासिक रुझानों का भी योगदान है। तुलसी के सामने जायसी, दाऊद व मंझन के उदाहरण मौजूद थे। तो इस साहित्यिक इतिहास का असर तुलसी के अपने पसंद या नापसंद पर पड़ा होगा, ये संभव है। जब हिंदी की दुनियां में आत्मकथा एक विधा के रूप में उभरती है तो ज़ाहिर है कि वो आसमान से तो नहीं टपका होगा। तुज़ुक-ए बाबरी (बाबर की 'आत्मकथा') का उदाहरण शायद बनारसीदास के सामने रहा होगा। ये भी संभव है कि कच्चे/

शुरुआती आधुनिकता की सोच जिसमें वैयक्तिक व विषयपरक सोच की महत्ता पनपती है, उसका असर भी बनारसीदास सरीख़े लेखकों पर पड़ा हो। तो हर युग, हर समाज, हर भाषा की रचनाधर्मिता पर इतिहास की छाप विविध रूपों में दिखाई दे जाती है। इन रूपों को पहचान कर ही हम किसी भी युग के साहित्य को बाकायदा आंक सकते हैं। और लगे हाथ उस साहित्य का समुचित इतिहास भी लिख सकते हैं।

अक्सर इतिहासकारों की शिकायत होती है कि कई कृतिकार अपने समय और समाज के बारे में अपने ग्रंथों में सीधे तौर पर कोई संकेत नहीं देते। सवाल यह उठता है कि ऐसी साहित्यिक कृतियों का इस्तेमाल इतिहासकार कैसे कर सकते हैं। क्या ऐसी रचनाएँ एक इतिहासवेत्ता के लिए नितांत अनुपयोगी हैं?

जब हम कहते हैं कि फ़लां ग्रंथ में कृतिकार ने अपने समय और समाज के बारे में सीधे तौर पर कोई संकेत नहीं दिया तो दरअसल हम ये मान कर चलते हैं कि हम उस देश-काल में मौजूद इतिहास के 'अवयवों' के बारे में पहले से ही पर्याप्त रूप से परिचित हैं। बहुत संभव है कि उस ग्रंथ में मौजूद ऐतिहासिक संकेतों को हम इसलिए पहचान नहीं पाते कि वो नए हैं। ध्यान रहे कि यदि तुलसीदास की रचना में हमें वो नहीं दिखता जो सोलहवीं सदी के बारे में इतिहासकारों के मौजूदा ज्ञान के दायरे में हम पहले से जानते हैं तो इसका मतलब यह नहीं कि तुलसी की रचना अपने देश-काल से कटी हुई थी। बल्कि इसका अर्थ यह है कि अभी हमें सोलहवीं सदी के बारे में बहुत कुछ नया जानना है। इसके लिए हमें साहित्य को पढ़ने की तरकीबों में ज्यादा सतर्कता व बारीकी तो बरतनी ही होगी, साथ ही साथ इतिहास के दायरे में भी विस्तार करना होगा। इसी काल में जहांगीर जस चंद्रिका में बादशाहों व महाराजाओं का ज़िक्र आता है, तो क्या हम कह सकते हैं कि केशवदास इतिहास के ठोस तत्त्व के प्रमाण सोद्देश्य दे रहे हैं और तुलसी नहीं दे रहे? शायद नहीं। मानस में मिथिला के रिवाज़ों का जो विस्तृत बख़ान है वो शायद अपने आप में अभूतपूर्व है।[12] वो भी इतिहास है। विचित्र रामायण में रामकथा को जिस तरह मरोड़ कर पेश किया गया है वह मात्र एक रचनाकार के कल्पना की अंधी उड़ान नहीं है। किसी प्रचलित कथा को पुनर्गठित कर देना एक स्थापित साहित्यिक तरकीब थी जिसमें एक समांतर नैतिकता गढ़ने की कोशिश दिखाई देती है। उस नई नैतिकता व उभरते मूल्यों का इतिहास हम विचित्र रामायण से निकाल सकते हैं, हालांकि सरसरी नज़र में हम इतिहास के इन संकेतों को नहीं पढ़ पाते।

साहित्यिक सर्जक सीधे सपाट तरीके से ऐतिहासिक तथ्यों का इस्तेमाल

नहीं करते। यदि वो कोई वास्तविक किरदार या घटना का ज़िक्र कर भी दें तो वो बड़े कल्पनाशील तरीक़े से बहुधा किसी नए व कल्पित संदर्भ में करते हैं। तो क्या ऐसे में उनकी ऐतिहासिकता सदैव संदिग्ध ही मानी जायेगी? बिलकुल नहीं। काल्पनिक चित्र भी तभी अर्थपूर्ण बन पड़ते हैं जब वो हमारे जिंदा सरोकारों से जुड़ने में हमें मदद करते हैं। इतिहास तथ्यपरक होता है, हम जानते हैं। साहित्यिक कृतियों में कल्पना की उड़ान होगी, ये भी हम मान चुके। लेकिन इतिहास की तथ्यपरकता हो या साहित्य की कल्पनाशीलता, कामयाब तभी हैं जब उसमें सत्य के बीजमंत्र हों। इतिहासकार की रुचि अतीत व वर्तमान की हक़ीक़त की पेचीदगियों में होती है। और इन पेचीदगियों को समझने में अक्सर वो कहानियां हमें नई दृष्टियां देती हैं जो तथ्य की कसौटी पर हो न हो, सत्य के पैमाने पर खरी उतरती हैं। वैसे भी हम इतिहास इसलिए नहीं पढ़ते कि केनेडी की मृत्यु तिथि या कुतुब मीनार की ऊँचाई जान पाएँ। उस पैमाने पर तो सबसे बड़ा इतिहासकार गूगल ही माना जाएगा। इन तथ्यों को अन्य तथ्यों से जोड़कर जो दास्तान बनाई जाती है, हमारी रुचि उसमें है। इसी तरह कभी कभी कल्पित साहित्य शत-प्रतिशत प्रति-तथ्यात्मक (यानी तथ्यों के विपरीत) होकर भी अपने समय को बखूबी अभिव्यक्ति देता है और इसलिए ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अमूल्य है। एच.जी. वेल्स की टाइम मशीन सरीखे साइन्स फिक्शन को आप इसका उदाहरण मान सकते हैं। अपने देश काल में बेतहाशा वैज्ञानिक प्रगति से जगने वाली अपेक्षाओं तथा चिंताओं से पनपे सरोकारों को यह किताब जितनी संजीदगी से दर्ज करती है वह बेमिसाल है।[13] आधुनिक काल में जगी इन उम्मीदों के इतिहास में दिलचस्पी रखने वाले विद्वानों के लिए यह बेशकीमती कच्चा माल है।

कई बार यह भी देखा गया है कि हम इतिहास के अपने अधकचरे समझ की वजह से साहित्यिक कृतियों की ऐतिहासिकता को ठीक से नहीं आंक पाते। यदि आप हिंदी साहित्य के इतिहास की समझ के लिए पूरी तरह से रामचंद्र शुक्ल पर ही निर्भर हैं तो हो सकता है आपको लगे कि पंद्रहवीं सदी में श्रृंगार की अभिव्यक्ति (मसलन विद्यापति में) या तो चमत्कार है या महज एक संयोग, जिसके पीछे कोई इतिहास नहीं। लेकिन थोड़े खुले मिजाज़ से यदि आप स्थापित खाँचों से बाहर निकल कर गौर करें तो पाएंगे कि विद्यापति के रचना काल में वृहत्तर 'हिंदी' जगत में श्रृंगार का कोई बड़ा कवि भले न हो, लेकिन विद्यापति के समय से पहले उत्तर भारत में श्रृंगार की प्रवृतियाँ काफी पहले से मौजूद थी, विशेषकर संस्कृत की दुनियां में। कालिदास से लेकर भास और जयदेव से लेकर अब्दुल रहमाण तक श्रृंगार के कई रूप हमें विद्यापति के ठीक पहले के हज़ार

वर्षों में दिखाई देते हैं।[14] विद्यापति के बाद अगले सौ वर्षों के अंदर जायसी की रचनाओं में शृंगार का ज़बरदस्त प्रभाव है। हाँ, उसके रूप अलग-अलग हैं। इसके लिए आवश्यक है कि आप मध्यकाल के बहुभाषी परिवेश का संज्ञान लें, और विभिन्न भाषाओं के बीच पसरी साझी सांस्कृतिक विरासत तथा मौखिक तहज़ीब की प्रक्रियाओं के प्रति आप संवेदनशील रहें। ध्यान रहे कि अवधी, ब्रजभाषा या अपभ्रंश के कवियों के रचना संसार में फ़ारसी शब्दावली की भरमार तो है, लेकिन इन भाषाओं में विधाओं के स्तर पर संस्कृत की नक़ल करने की प्रवृति भी बहुत मजबूत थी।

अक्सर हिंदी साहित्य के इतिहास में उकेरी पत्थर की लकीर (शुक्ल जी के काल-निर्धारण) की वजह से हम इन बारीकियों को परखने से चूक जाते हैं। इस या उस कवि/काल को शृंगार या वीर रस का कवि/काल घोषित करने की बजाय हमें विभिन्न रचनाओं में मौजूद रचनात्मकता के विविध धागों को पहचानना चाहिए। फिर हम शृंगार में भक्ति, भक्ति में वीर रस, और वीर गाथाओं में काव्यरीति के आग्रह को देखने में सक्षम हो पाएंगे। ध्यान रहे, संस्कृत काव्य परंपरा में महाकाव्य सबसे उदात्त समझा जाता था, और किसी रचना को महाकाव्य मानने की एक शर्त्त यह भी थी कि उसमें सभी रस हों। मेरे ख़्याल में विद्यापति की ख़ूबी यह थी कि उन्होंने काव्य की इन शास्त्रीय तरकीबों का उपयोग लोक गाथाओं व लोक गीत की मौखिक परंपराओं को जीवंत बनाने के लिए किया।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपनी मशहूर किताब **हिंदी साहित्य का इतिहास** में लिखा कि 'प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिंब होता है.... इन्हीं चित्तवृत्तियों की परंपरा को परखते हुए साहित्य परंपरा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही 'साहित्य का इतिहास' कहलाता है।'[15] तो सवाल यह उठता है कि क्या साहित्य को समाज के सामूहिक बोध का इतिहास कहा जा सकता है ? आचार्य शुक्ल की बात एक हद तक तार्किक है। लेकिन इसमें दो गंभीर समस्याएँ हैं। पहली यह कि किसी समाज की चित्तवृत्तियों को जब साहित्यकार अभिव्यक्ति देते हैं तो उनकी वैयक्तिक विषयपरकता (individual subjectivity) की इस अभिव्यक्ति में कुछ तो भूमिका होगी। यदि साहित्य उन वृत्तियों का सिर्फ़ प्रतिबिंब होता तो एक समाज में पनपने वाले अलग-अलग साहित्य में भेद नहीं होता। सब एक जैसे होते। तात्पर्य यह है कि साहित्य कुछ विशेष वृत्तियों को दर्शाता तो है लेकिन रचनात्मकता की प्रक्रिया से गुजरने के बाद। और रचनात्मकता की प्रक्रिया में

एक ओर रचनाकार के व्यक्तिगत अनुभवजनित चेतना की गुंजाइश है, तो दूसरी ओर उस संबद्ध विषय व विधा में रचने का इतिहास है, कायदे हैं, पूरी व्यवस्था है। रचनाकार इनके दायरे में रचने के लिए बाध्य है। दूसरी समस्या यह है कि समाज की संरचना बड़ी जटिल होती है। बच्चे-बूढ़े, औरत-मर्द, विभिन्न वर्ग, विविध जातियाँ, संपत्ति का विषम वितरण, ग्रामीण बनाम शहरी—समाज इन तमाम विसंगतियों व विरोधाभासों से पटा होता है। ऐसे में पूरे समाज का सामूहिक बोध क्या हो सकता है?

कई बार शहरों के अमीर व उच्च जातीय संभ्रात सहूलियतों की अपनी छोटी-सी दुनियां की समझ को समकालीन समाज के सामूहिक बोध का नाम देकर धन्य महसूस करने लगते हैं। इसलिए साहित्य-आलोचक के रूप में भी और इतिहासकार के रूप में भी हमारे लिए यह समझना आवश्यक है कि (क) समाज के अंदर कई प्रकार के ज्ञान बोध व चेतना पाई जाती हैं; (ख) चेतना व बोध के ये विभिन्न तार अक्सर अलग-अलग तबकों, जाति-समूहों, जेंडर, पेशों, क्षेत्रों, भाषा-समूहों, तथा रचना परंपराओं से जुड़े होते हैं; (ग) 'सामूहिक बोध' की ये विविध प्रवृतियां साहित्य में समान रूप से संप्रेषित नहीं होतीं। कुछ रचनाएँ टिकाऊ रूप में (जैसे ताम्र या ताल पत्र में, या आधुनिक युग के संदर्भ में अच्छे कागज़ पर किताबों की शक़्ल में) संजोयी जाती हैं, कुछ अपेक्षाकृत नश्वर या क्षणभंगुर रूपों में (जैसे मौखिक लोक गीतों तथा गाथाओं में)। कई तबकों की अनुभवजनित गाथाएं तो रचनात्मक अभिव्यक्ति पाने से पहले ही दम तोड़ देती होंगी ये मानना भी अनुचित नहीं होगा। आलोचक या इतिहासकार जब किसी साहित्यिक रचना को पढ़ें तो इस बात पर भी गौर करें कि उन रचनाकारों में कौन-सी आवाजें हम नहीं सुन पा रहे, कौन-सा नजरिया प्रधानता पा रहा है, कौन-सा हाशिये पर रह गया। सैकड़ों रामायण हैं, अलग-अलग नजरियों से लिखे हुए। मगर जब पहली बार आधुनिक काल में सीतायण लिखा गया तो क्या रामायणों के 'सार्वकालिकता' के प्रति हमारे नजरिए में फर्क नहीं आना चाहिए?[16]

कई साहित्यिक उपादान आपको सतही या फुटकल लग सकते हैं। अब किंवदंतियों को ही ले लीजिए। आप उन्हें मौलिक भावनाओं के उद्‌गार के रूप में भी देख सकते हैं और आकस्मिक इतिहासरहित विस्फोट की तरह भी। सच तो यह है कि किंवदंतियाँ इतिहासकारों के लिए एक खजाने की तरह ही हैं। एक तो किंवदंतियों का अपना इतिहास होता है, जो जानना चाहिए। कई बार एक ही किंवदंती अलग-अलग देश-काल में अलग-अलग संदर्भों में दिखाई देती हैं और

उनमें सूक्ष्म अंतर पाए जाते हैं। यह बहुत दिलचस्प है। मगर कल्पित कहानियों की तरह किंवदंतियाँ भी अपने युग में चल रहे संवादों में एक सोद्देश्य हस्तक्षेप होती हैं। इसलिए साहित्यिक रचनाओं की तरह किंवदंतियों की व्याख्या भी उनके समुचित व विविध पाठीय व भौतिक संदर्भ में ही किया जाना चाहिए।

तो क्या इतिहास और साहित्य के सत्यान्वेषण की प्रविधियों में कोई मूल अंतर है, होना चाहिए? सबसे अहम ये समझना है कि इतिहास व साहित्य का फर्क़ तात्विक न होकर व्यावहारिक है—संदर्भ सापेक्ष है। इतिहासकार तथ्यों की प्रामाणिकता बरतने पर ज्यादा जोर देते हैं मगर अंततः नैरेटिव के माध्यम से सामाजिक जटिलताओं पर प्रकाश डाल सकने की दावेदारी ही इतिहास को ग्राह्य बनाती है। इसी तरह साहित्य कल्पनाशीलता व सृजनात्मकता पर ज्यादा बल देता है। इस क्रम में साहित्यकारों को तथ्यों से खिलवाड़ करने की छूट तो मिलती है, लेकिन साहित्य सिर्फ़ मनोरंजन या शुद्ध सौंदर्य की वस्तु बनकर नहीं रह सकता। आख़िरकार साहित्य का औचित्य भी जीवन की अनुभूतियों, संघर्षों एवं विसंगतियों को नई अंतर्दृष्टियों से रेखांकित कर पाने में ही है।

अक्सर हम ये मान लेते हैं कि इतिहास अतीत के सामाजिक जीवन का दस्तावेजीकरण है जबकि साहित्य समाज की संचित आकांक्षाओं का कल्पनाशील संप्रेषण। समझना ये भी होगा कि दस्तावेजीकरण सूचनाओं या आंकड़ों को औपचारिक तौर पर दर्ज़ करने भर से ऐतिहासिक गाथाएं नहीं बनती, दस्तावेज़ शायद बन जाते होंगे। बल्कि इतिहास के नज़रिए से दस्तावेजीकरण की इस प्रक्रिया को अतीत व वर्तमान के बीच चल रहे ऐसे संवाद के रूप में समझें जो अंतहीन तथा परिवर्तनशील है, पत्थर की लकीर की तरह अमिट, नियत या स्थायी नहीं। यही वजह है कि तथ्यपरक होकर भी ऐतिहासिक गाथाएं बड़े दिलचस्प तरीक़े से भेद्य व आलोचनीय है। इसी तरह ये भी ध्यान रखना होगा कि समाज के अंदर कई समाज होते हैं, और उनमें से हर एक इकाई की कई अभिव्यक्तियाँ होती हैं। इन अभिव्यक्तियों में टकराव संभव है—बल्कि एक सक्षम इतिहासकार का ये कर्तव्य है कि वो इन परस्पर विलग अभिव्यक्तियों के बीच संवाद स्थापित कराए। इतिहासकार जिस काल-स्थान का पड़ताल कर रहे हैं उसके सामाजिक अंतर्विरोधों को दिखाना, उसके विविध रंगों को उकेरना भी उसका काम है।

संदर्भ

1. हाँ, पश्चिम में ऐसे बहस हुए हैं, विशेषकर कार्लो गिन्ज़बर्ग, हेडेन व्हाइट, वगैरह के शोध व दलीलों के इर्दगिर्द। इस सदी के शुरुआती वर्षों में दक्षिण भारतीय

इतिहास लेखन की परंपराओं को लेकर भी ऐसी एक बहस चली थी। देखें, V.N.Rao, David Shulman & Sanjay Subrahmanyam, *Textures of Time : Writing History in South India*, 1600-1800, New Delhi: Permanent Black, 2003. इस किताब की अंतर्दृष्टियों पर छिड़ी अंतराष्ट्रीय बहस के लिए देखे शोध पत्रिका History and Theory, vol. 47 (2007), विशेषकर Sheldon Pollock, 'Pretextures of Time', pp. 366-383.

2. Terry Eagleton, *Literary Theory : An Introduction*, Minnesota : University of Minnesota Press, 2008.

3. रामधारी सिंह दिनकर ने 1946 में कुरुक्षेत्र की रचना प्रबंध काव्य के रूप में की—ठीक द्वितीय महायुद्ध के अंत में।

4. ध्यान रहे कि टॉल्सटॉय ने *War and Peace* की रचना कुरुक्षेत्र से लगभग 80 वर्ष पहले की थी। लेकिन जंग और अमन के वो कालातीत मसले दूसरे महायुद्ध के समय फिर से प्रासिंगक हो चले थे।

5. इस संदर्भ में रामधारी सिंह दिनकर, रामवृक्ष बेनीपुरी, मैथिली शरण गुप्त और लगभग सभी छायावादी/रहस्यवादी रचनाकार जैसे जयशंकर प्रसाद, महादेवी वर्मा, सुमित्रानंदन पंत, इत्यादि की रचनाओं को देखा जा सकता है।

6. जैसे मंटो, अमृता प्रीतम, कृष्णा सोबती, भीष्म साहनी, आदि की कृतियाँ।

7. बात महज हेयडेन व्हाइट सरीखे उत्तर आधुनिक चिंतकों की नहीं है जो तथ्यपरक गाथाओं और कल्पित कथाओं के फ़र्क को मामूली या सतही मानते हैं, और इस समानता को बहुत ज्यादा तूल देते हैं। ध्यान देने योग्य बात है कि तथ्यात्मक व कल्पित का श्वेत-श्याम फर्क पूर्वाधुनिक काल में मौजूद तो था मगर उतना महत्वपूर्ण नहीं जितना आज बन पड़ा है।

8. देखें Gyanendra Pandey, *'Peasant Revolt and Indian Nationalism: The Peasant Movement in* Awadh, 1919-22'. In *Subaltern Studies I : Writings on South Asian History and Society,* edited by Ranajit Guha, 143-97. New Delhi: Oxford University Press, 1982.

9. मगर अलग-अलग साहित्यकारों में ये अलग-अलग स्वरूप लेता है। विधाओं पर भी ये निर्भर है। कविता में ऐतिहासिक संदर्भ उतना प्रत्यक्ष नहीं होता जितना संस्मरण या यात्रावृत्तांत में।

10. इतिहास के बल-प्रभाव के विभिन्न आयामों पर चर्चा के लिए आप देख सकते हैं पंकज झा, सत्ता, साहित्य और इतिहास : मध्यकालीन इतिहास के परिप्रेक्ष्य में, *आलोचना,* अंक 62 (अक्टूबर–दिसंबर, 2019), पृ. सं. 72-81.

11. ये बात करीब करीब उन सबों पर लागू होती है जो तुलसी, विद्यापति, केशवदास और अन्य कई रचनाकारों की तरह तेरहवीं सदी या उसके बाद अपनी रचनाएं गढ़ते हैं।

12. तुलसीदास, *रामचरितमानस,* गोरखपुरः गीता प्रेस, 2009, पृ. सं 272-274, 292.

13. H.G. Wells की ज्यादातर रचनाओं को हम इसी पैमाने पर देख सकते हैं। जैसे, *The Invisible Man, The Time Machine, The War of the Worlds, The Food of the Gods,* इत्यादि।

14-. B. Keith, - History of Sanskrit Literature, New Delhi: Motilal Banarsidass, 1993 (प्रथम भारतीय संस्करण).

15. रामचंद्र शुक्ल, *हिंदी साहित्य का इतिहास,* इलाहाबादः लोकभारती प्रकाशन, 1929. उद्धृत अंशों के लिए देखें भूमिका के बाद 'काल विभाग' शीर्षक से किताब के सबसे पहले अंश की पहली पंक्तियाँ।

16. गौरतलब है कि जहाँ हाल में आयी अमित मजूमदार की किताब सीतायन को काफी लोकप्रियता मिली है, दरअसल सीता को केंद्र में रखकर सीतायण पहले भी लिखी गई थी। मसलन 1987 में छपी आयंगर की लगभग 700 पृष्ठों की सीतायण : K.R. Srinivas Iyengar, *Sitayana : Epic of Earth Born*, Madras: Samata Books, 1987.

डॉ. पंकज झा
इतिहास विभाग
लेडी श्री राम कॉलेज फ़ार विमेनस
दिल्ली विश्वविद्यालय

❑❑❑

लोक स्थापत्य के विविध आयाम

• डॉ. ब्रजरतन जोशी

धरती पर पसरी संस्कृति-सभ्यताएं मनुष्य को प्रकृति का दिया अप्रतिम उपहार है। हर एक सभ्यता की अपनी एक संस्कृति होती है। जीने का ढब होता है उसी के बल से वह संस्कृति अपनी अविराम यात्रा को बनाए रखती है। जिस संस्कृति के सभी उपादान अपने-अपने क्षेत्र के लिये जितने वैज्ञानिक, परम्परा से जुड़े और स्थानीय भूगोल के अनुकूल होते हैं, वह संस्कृति उतनी वैभवशाली होती है। इतिहास के झरोखे से मानव का विकास यात्रा का सिंहावलोकन करें, तो पाएंगे कि मनुष्यता का क्रमिक विकास ही असल में संस्कृति का विकास है। प्रत्येक कालखण्ड की अपनी रीति-नीति, धर्म, विज्ञान, कला कौशल होती है। उसी के अनुरूप वह संस्कृति अपने व्याकरण को रचती है। सवा पांच सौ बरस पुराने बीकानेर का इतिहास उपर्युक्त बताए तथ्यों से परे नहीं हैं प्रत्येक संस्कृति के गुणी लोग अपनी पारम्परिक थाती, विराट अनुभव, संवेदना, अस्तित्व के विलयन से अपने समय का ढांचा खड़ा कर उसमें अपनी पहचना देते हैं।

किसी भी नगर की बसावट के लिये सबसे अहम बात जो हमारे सम्मुख आती है कि उस नगर के स्थापत्य की परिकल्पना करने वाले दिमाग को स्थानीय भूगोल का कितना ध्यान और ज्ञान है। क्योंकि जब तक स्थानीय भूगोल के साथ उसका रिश्ता सामंजस्यपूर्ण नहीं होगा, तब तक अपनी परिकल्पना को ठोस धरातल पर स्थापित नहीं कर पाएगा। आज समाज में एक समान मकान (एक पैटर्न) बनाने का जो चलन है, वह सांस्कृतिक विद्रूपता का ही नमूना है। क्योंकि हमारी परिकल्पना पश्चिम से प्रभावित होकर उन्हीं के भूगोल की सहमति पर आधारित है। पर, जहां आपको यह परिकल्पना साकार करनी है, वहां का भूगोल इस अवधारणा के अनुकूल नहीं है। आज शहरों में खासकर बीकानेर में आरसीसी छतें डाली जाती हैं। क्या कठोर जलवायु वाले इस जांगल प्रदेश में समुद्री किनारे बसे शहरों की आर्द्रता का संचार सम्भव है? हमारे पूर्वज भले ही हमारी तरह डिग्रीधारी नहीं थे, पर वे अपने स्थानीय भूगोल

के साथ संवेदनात्मक रिश्ता रखना जानते थे। इसलिये वे यूनिवर्सल आर्किटेक्चर के बजाय इकॉलॉजिकल आर्किटेक्चर के पथगामी थे।

हमारी दृष्टि का मूल दोष यह भी है कि हम कला और जीवन को दो अलग-अलग चीजें मानते हैं जबकि चिन्तक आनन्दकुमार स्वामी जैसे प्रबुद्ध दार्शनिक के अनुसार कला और जीवन में भेद नहीं है। दोनों को अलग-अलग नहीं देखा जाना चाहिए। जीवनोपयोगी चीजों में कला है। सारा-का-सारा स्थापत्य स्पेस को भरने का ही जतन है। कला भी स्पेस को समय के साथ भरकर एक आकार देने का काम करती है।

हमें यह तो नहीं मालूम कि हमारे पूर्वज कुमार स्वामी जैसे दार्शनिकों के सम्पर्क में थे या नहीं, लेकिन नगर के घरों की बनावट में उन्होंने जीवन और कला की एकात्मकता को परिपुष्ट किया है नगर की बसावट व बनावट में यह तथ्य असानी से लक्षित किया जा सकता है।

हम मरू प्रदेश के वासी हैं आंधी हमारी सहयात्री है। अगर हम आज की आधुनिक तकनीक के साथ बनावट के फेरे में पड़कर बड़े-बड़े दरवाजे, खिड़कियां व रोशनदान रखेंगे, तो घर का शायद ही कोई कोना ऐसा होगा जिसमें रेत अपना राग नहीं सुना रही होगी। तेज आंधी के साथ धूप का पराक्रम भी हमें झेलना होता है। आज की तरह अविचारित का स्वीकार हमारे पूर्वजों के संस्कार में नहीं था वरन वे अक्षर ज्ञान से विहीन होते हुए भी उनकी संवेदना में इकॉलोजिकल आर्किटेक्ट की अवधारणा गहरे पैठ बनाए हुए थी। उनकी तौल पर वे कोई समझौता नहीं करते थे। इसलिये चाहे हवेलियां, किले या सामान्य गांधी गृह हों उनके दरवाजे छोटे व खिड़कियां जिन्हें यहां की स्थानीय भाषा में गोखे कहा जाता है, वे छोटे-छोटे बनाए जाते थे। इसके दो कारण प्रमुख थे।

पहला आंधी, हवा, रेत, बारिश आदि के प्राकृतिक प्रकोप से सुरक्षा हो जाती, दूसरे यह बाहरी आक्रमण या गृहयुद्ध अथवा किसी झगड़े आदि यानी सामरिक दृष्टि से भी छोटे-छोटे दरवाजे-गोखे जीवनरक्षा में अपनी उतनी प्रभावकारी भूमिका निभाते थे, जितनी की प्रकृति से लड़ते हुए यानी प्रकृति से इंसान की सुरक्षा करते इंसान की प्रकृति का रूपायन भी अपनी बनावट में वे कर देते थे। इन पंक्तियों के लेखक ने जब गोखे संरचना के बारे में और गहरे पड़ताल की, तो सामने आया सच चैंकाने वाला था।

प्रसिद्ध भौतिक शास्त्री जूल थामसन के नाम से जूल थामसन प्रभाव सिद्धान्त का प्रचलन भौतिक शास्त्र में है। इस सिद्धान्त के अनुसार जब भी हवा

उच्च दाब क्षेत्र से निम्न दाब क्षेत्र में प्रवेश करती है, तो उसका ताप कम हो जाता है। गोखे आकार व संरचना में छोटे होते हैं। बाहर के उच्च दाब क्षेत्र में आती हवा जब गोखे की खिड़की की बनावट के कारण आयु दाब को कम करती है तदुपरान्त हवा कमरे में प्रवेश करती है। तो कमरे का आयतन बड़ा होने के कारण वह शीतलता का अहसास देती है। इसलिये घोर गर्मी के दिनों में 'मोल मालियों' (छत पर बना बड़ा कमरा) के झरोखे व गोखे प्राकृतिक शीलता का आनन्द देते थे। अब की बनावट में यह गायब है। इसलिये कमरे गर्म रहते हैं। अधिकांश ही नहीं बल्कि कहा जाए कि प्रायः सभी घरों में दरवाजें लकड़ी व कांच के बने मिलते हैं।

लोक स्थापत्य के हमारे पारस्परिक अनुभवी शिल्पकारों ने लकड़ी व कांच को तरजीह दी। कारण अत्यन्त वैज्ञानिक एवं स्पष्ट है कि कांच और लकड़ी ताप के कुचालक हैं। इसलिये हम देखते हैं कि परकोटे के भीतरी शहर के अन्दरूनी हिस्से में सभी घरों, हवेलियों या फिर दुर्गो तक में प्रायः छतें लकड़ी की मिलती हैं। जहां लकड़ी की छतें हैं, वे स्थान घर में गर्मी के समय ठंडे व सर्दी में गर्म रहते हैं। आज की संस्कृति स्थानीय भूगोल के आधारभूत सूत्रों को ताक पर रख आगे बढ़ रही है। हम फिर कहना चाहते हैं कि एक समान मकान (एक ही पैटर्न) की अवधारणा किसी भी शहर में भूगोल अनुकूल नहीं है।

ऐसा आधुनिक अभियांत्रिकी व वास्तु शास्त्री भी कहते हैं यह सार्वभौमिक तथ्य है कि क्योंकि किसी भी शहर (नगर) का स्थापत्य वहां उपलब्ध स्थानीय संसाधनों, जलवायु व भूमि की उपलब्ध के आधार पर होना चाहिए न कि हमारी निजी सुविधा या मांग के अनुसार। जब तक स्थानीय भूगोल के साथ रगात्मक रिश्ता नहीं होगा तब तक वह शहर, संस्कृति प्राकृतिक एवं कृत्रिम (मानवीय) प्रभावों का शिकार होती रहेगी। इसके अलावा एक और खास बनावट का उल्लेख यहां अनिवार्य हो जाता है। चाहे गढ़ हो या हवेली या गांधी गृह। सबमें गुम्हारिए (Underground) अवश्य ही होते थे। हालांकि अब तो वर्तमान फैशन की चलन में वे गायब होते जा रहे हैं।

गुम्हारिए वातानुकूलित कक्ष होते थे। ऐसे प्राकृतिक वातानुकूलित कक्षों का विधान लोक स्थापत्य में ही सम्भव है। तत्कालीन समय में आज की आधुनिक सुविधाओं का अभाव था। गुम्हारियों की बनावट के पीछे एक और भी कारण था यहां के जमीन का समतल नहीं होना। अतः कई बार नींव खोदते-खोदते चैठ (सख्त जमीन) नहीं आती तब तक खोदना पड़ता है। अगर खुदाई की गई जमीन को पुनः भरती की जाये, तो महंगाई की मार झेलनी पड़ती थी।

अतः गुम्हारियों का विधान किया गया, ताकि इसमें रहने के अलावा पशुओं का चारा आदि के साथ स्त्रियों व बच्चों के पाखाने के काम भी आते थे। कई जगह पाया गया कि ये आज की भाषा में कहें तो स्टोर के रूप में उपयोग में आते थे। साथ ही दो से ढाई फीट के गोलाई में आर्च घुमाव (वक्राकार) देकर उस पर पूरा मकान भी खड़ा कर दिया जाता था।

इस तरह जगह का उपयोग भी हो जाता व सुविधा का विस्तार भी। यानी एक पंथ दो काज। क्योंकि यहां के शिल्पियों ने यह जान लिया था कि कठोर जलवायु के अनुसार हमें गृह निर्माण में चूने, बजरी व पानी के संयोग से ही सारी कला का वैभव बिखेरना है। चूने की उम्र भी लम्बी होती है। बल्कि जानकार कहते हैं कि सौ वर्ष में तो चूना जवान होता है। चूने के साथ मुढ़ (मुरड़–एक प्रकार की कंकरीली मिट्टी जो दीवार की चुनाई में गारे के काम आती है) का इस्तेमाल भी यहां के स्थानीय भूगोल में बहुताधिक पाया जाता है इन पंक्तियों के लेखक ने जब इन दोनों की रासायनिक संरचना का अध्ययन किया, तो पाया कि चूना (ब्ंव्) त्रिविनीय (त्रिआयामी) है।

हमारे जानकार व जागरूक समाज ने यहां के जलवायु के अनुकूल ही इस पदार्थ को अधिक महत्त्व दिया है क्योंकि अपनी त्रिविनीयता के चलते चूने के परमाणुओं के बीच जो बल काम करता है, वह हर दिशा में बराबर होता है। फलस्वरूप यह बहुत ज्यादा कठोर, मजूबत होता है। दूसरे, क्योंकि हम सूखे क्षेत्र में जीवन बसर कर रहे हैं और चूने से निरन्तर पानी वाष्पित होता रहता है। बांडिंग के चलते यानी परमाणुओं की पकड़ मजबूत हो जाती है। तीसरे, चूने के परमाणु बड़े होते हैं। उनके बीच छोटे-छोटे परमाणु भी विद्यमान होते जाते हैं। उससे उसकी क्षमता निरन्तर बढ़ती रहती है चूने की इन्हीं रासायनिक विशिष्टताओं के चलते हमारे पूर्वजों ने इसे प्रमुख निर्माण सामग्री के रूप में जगह में दी है।

दूसरा प्रमुख संसाधन है मुड। मुड अपनी रासायनिक संरचना में एक मिश्रण है। इसमें सिलिका कैल्शियम कार्बोनेट व आयन के साथ कई अन्य तत्व भी मिले होते हैं। इसे गीला कर पुनः सुखाया जाता हैं तो इसकी बॉडिंग यानी परमाणुओं की पकड़ मजबूत होती जाती है। जो इसे स्थायीत्व व मजबूती देती है। इसके साथ मुड में एक प्रमुख गुण प्रत्यावस्था का भी है। जिसके कारण इसकी खिंचाव की क्षमता परिवर्धित होती जाती है। पेपर यूनिफार्म भी होती जाती है। इसके अतिरिक्त रोड़ा (बजरी और पत्थर से प्राकृतिक रूप से निर्मित) को चुनाई में नींव भरने के काम लिया जाता था।

इसके अलावा एक बड़ी बात यह भी है कि ये दोनों स्थानीय संसाधन हैं अतः आसानी से उपलब्ध हो जाते हैं। हमारी अनुभव सम्पन्न परम्परा के प्रतिनिधियों के दिमाग में यह तय रहता था कि हम अपने इर्द-गिर्द जो भी रचें, वह अपनी धरती की कोख का हो। आवागमन के साधन भी आज के-से नहीं थे। आज जब इकोफ्रेंडली आर्किटेक्चर की वकालत की जा रही है, तब यह रोचक तथ्य हमारे लिए अत्यन्त सुखदायी प्रतीत होता है।

हमारे लोक विद्याओं के मार्मी इस तथ्य से भी भली-भांति परिचित थे कि हमारा वातावरण समुद्री किनारे बसे शहरों की तुलना में कम परिवर्तनशील है। आज आरसीसी के पैरोकार यह भूल जाते हैं कि आरसीसी हमारी आबो-हवा के अनुकूल नहीं है। हमारे स्थानीय स्थापत्य के जानकार तो इसे सुचालक मानते हैं। उनके अनुसार यहां की जलवायु के अनुसार सीमेंट भी सुचालक है, जबकि मीठा चूना कुचालक। हमारे पुराने घरों में पट्टियां हैं। पर, पट्टियों ने इस नगर में तब प्रवेश किया जब रेल आई।

उसके पूर्व में बने मकानों में डाट का ही काम मिलता है। आज की तरह लकड़ी प्रचुर मात्रा में और कई प्रकारों में उपलब्ध नहीं थी। अतः स्थानीय स्तर पर जो लकड़ी उपलब्ध थी उसी को काम में लाये जाने की परम्परा है। डाट में एक खास तरह की स्थानीय स्तर पर प्राप्त घास की परत भी देकर शीतोष्ण प्रभाव को कम करने की कवायद की जाती थी। छोटी ईंटें जो कम आंच में ज्यादा पकी हो उसके साथ चूना व पट्टी आदि को लेकर डाट बनाई जाती थी।

हमारे सामने एक प्रश्न खड़ा हो सकता है कि प्रारम्भ में हमने कहा कि एक से मकान नहीं हों। जैसे आज की कॉलोनियों में बनाए जाते हैं, लेकिन ध्यान से देखेंगे तो पाएंगे कि फसील (अपभ्रष्ट रूप सफील है) के अन्दर के अधिकांश घरों की बनावट हवेलियों को छोड़कर एक जैसी है। ऐसा क्यों? इसका उत्तर यह है कि यह तत्कालीन स्थापत्य शैली का प्रभाव था जो तत्कालीन चलवों के दिमाग में बैठा हुआ था। दूसरे गुरु-शिष्य परम्परा का प्रभाव भी इसमें देखा जा सकता है। अमुक चलवे ने ऐसे मकान तैयार किये, तो उनके अनुयायी ने भी उसी शैली का अनुकरण किया। तीसरे, घर का दखणाद (बायां) पक्ष भारी रखना है। अतः सभी मकानों में एक-सा ही नक्शा देखने को मिलता है।

घर में घुसते ही खुला आंगन, अगर परिवार समृद्ध है तो फिर कुछ सीढ़ियां, फिर बरसाली, बरसाली के अन्दर से आंगन, आंगन में बाईं ओर

सीढ़ियां थीं। श्रेष्ठि वर्ग के मकानों की सीढ़ियां दाईं व बाईं दोनों ओर होती थीं। वास्तुशास्त्री मानते हैं कि इससे नकारात्मक ऊर्जा का सन्तुलन हो जाता था। सीढ़ियों के पास रसोई, सीढ़ियों के नीचे रसोई के चूल्हे के पास भखारी (सामान्यतः ईंधन की लकड़ी रखने का स्थान) रसोई के आगे पलीन्डा (पीने का जल स्थान) उसके आगे मन्दिर, फिर पंखा साल, पंखा साल के ओरे गृहस्वामी की समृद्धि व सामर्थ्यनुसार आखिर में पिछोकड़ा घर के पीछे खुला स्थान या श्रेष्ठिवर्ग के घरों में बाड़ा होता था। जहां अधिकांश लोग-पशु पालन करते थे। वहीं कुछ वे जिनके पशु नहीं थे, पाखाना के रूप में उसका प्रयोग करते थे। घर की बनावट में जहां-जहां खाली स्थान निकलता था वहां पछेन्ती व भखारियों का प्रावधान रखा जाता था। भखारियां, पछेन्तियां घर के अतिरिक्त एवं सुरक्षित रखे जाने योग्य समान को पूरी हिफाजत व सलीके से रखते थे।

वास्तुशास्त्रियों ने इसका कारण जो बताया वह भी काफी हद तक ठीक बैठता है क्योंकि उस जमाने में शिक्षा का प्रचार-प्रसार आज का-सा नहीं था। अतः कम पढ़े-लिखे या पारम्परिक रूप से पंडिताई करते आ रहे मध्यकालीन जैन आगमों के सूत्र साहित्य से लोगों ने एक वास्तुशास्त्रीय सिद्धान्त की रचना कर डाली। (जो सही कितनी है इसका निर्णय वास्तुशास्त्री ही कर सकते हैं) कि मकान के मुख्य द्वार को पूर्व मानकर मकान की वास्तु का निर्धारण किया जाये। फसील (परकोटा) के अन्दर बनी हवेलियां, घर आदि इसी के अनुरूप व अधिक निकट जान पड़ते हैं। इसके अलावा यह शहर कहीं भी समतल नहीं है। जानकार लोगों का कहना है कि और जो लगभग सच ही है कि हर्षों का चौंतरफा व लक्ष्मीनाथ जी के मन्दिर का गुम्बद एक ही ऊंचाई पर है। कई-कई घर तो अत्यन्त ही नीचे हैं कई बहुत ऊंचाई पर। इसका कारण है कि यह मरुस्थल का हिस्सा था। यहां रेत के बड़े-बड़े टीबे थे। नाले-खाले थे जिनकी दरवेशी (समतल कर) कर उन पर गृह निर्माण किया जाता था। दूसरे, जब यह नगर बसाया गया तो जयपुर या चंडीगढ़ की तर्ज पर वास्तु व अत्यन्त सोच समझ के साथ नहीं बसाया गया। शिक्षा का प्रचार-प्रसार कम था। वास्तुशास्त्र के जानकार पंडित लोग थे। श्रेष्ठि वर्ग की उनकी सलाह का उपयोग कर सकता था क्योंकि आम के पास पर्याप्त धन नहीं था। गुजर-बसर के लिये निरन्तर संघर्ष चलता था। ऐसे में व्यवस्थित रूप से इसे बसाने की परिकल्पना किसी के दिमाग में नहीं रही। अगर गौर करें तो जयपुर के नौ दरवाजे नवग्रह की परिकल्पना पर आधारित थे। लेकिन यहां के पांच दरवाजे, सात बारियां, (छोटे दरवाजे) एक सौ बारह गुवाड़ (मोहल्ले) वास्तुशास्त्रीय दृष्टि से नहीं बने वरन बीकानेर की बसावट तो सुविधाशास्त्र का अप्रतिम नमूना है।

यहां के मकानों का नाप भी इसलिये अलग-अलग है। कोई पचास गज का है, तो कोई नब्बे गज का तो कोई 504 गज का। श्रेष्ठि वर्ग के मकान बड़े और सुन्दर, कलात्मक एवं कोरनी तथा लकड़ी के काम का नायाब नमूना हैं। वे आलागिला कला, मथैरण, उस्ता आदि चित्रकला के कामों का जीवन्त प्रमाण भी हैं। बड़े-बड़े अर्द्ध चन्द्राकार दोनों कपाटों को जब एक साथ मिलाते हैं तो पिरौल (प्रोल) का आकार हमारे सम्मुख आ जाता है। प्रोल में बाई तरफ एक छोटा-सा दरवाजा रखा जाता है। सुरक्षा, प्राकृतिक प्रकोप एवं कलात्मकता के साथ पिरोल रसूख व समृद्धि का प्रतीक भी थी।

इसके अलावा मकानों का ऊंचे-नीचे होना, टेढ़े-तिरछे होने के पीछे शायद यह भी कारण रहा हो कि इस शहर में रह रही अधिकांश जातियां बाहर से आकर बसीं। यह सिलसिला सरदारसिंह जी के समय से अधिक स्पष्ट रूप में देखा-परखा जा सकता है। अतः जो जाति या समुदाय आया, उसे जहां जैसी जितनी जगह मिली उसने अपने सामर्थ्य से अपना घर बनाया। अन्दरूनी शहर में चारों तरफ से खुले मकान की परिकल्पना बड़ी मुश्किल-सी नजर आती है। इन पंक्तियों के लेखक का पुश्तैनी आवास जोशी पिरौल, हर्षों का चौक इसका एक शानदार नमुना है। शहर में परकोटे की परिधि में इस तरह के चौतरफा खुले मकान अत्यल्प हैं।

शहर के मोहल्लों की बसावट में गुर-जज्मानी (गुरु-शिष्य) का सम्बन्ध भी समाजशास्त्रीय अध्ययन की भरी-पुरी गुंजाईश रखता है। उदाहरण के लिये रांगड़ी के पास सेवग, पुष्टिकर-महेश्वरी मोहल्लों के पास ओझा, छंगाणी और श्रीमाली जाति के मकान आज भी देखने को मिल सकते हैं। इसके अतिरिक्त पानी के साधनों के पास माली, मन्दिर में स्वामी व सेवग, कथा वाचन में व्यास (रत्ताणी) यानी पैसे के अनुकूल भी जाति व रहने की व्यवस्था थी।

इसके अतिरिक्त लोक स्थापत्य के स्थपतियों के दिमाग में घर की पवित्रता का दबाव इस कदर हावी था कि आपको यह जानकर आश्चर्य हो सकता है कि पुराने नगर के छोटे-बड़े सभी घरों में आज की तरह टॉयलेट नहीं थे। जानकार लोगों का कहना है कि घर में शौचालय होने से शौचालय का गन्दा पानी घर की नींव में जाता है, यह घर के लिये शुभ नहीं है। इसके साथ उन दिनों की जीवनशैली भी इसका महत्त्वपूर्ण कारण थी, क्योंकि उस समय के लोग सुबह घर से उठ कर बगेचियों की ओर जाते थे, वहां से जंगल (खुले आकाश के तले शौच) जाते। जंगल से आकर नीम से दातून करते और बगेची में स्नान और नित्यादि कर्म से निवृत्त होकर घर आ जाते, फिर अपनी जीविकोपार्जन के

कर्म में रत होते। स्त्रियां व बच्चे घर के बाहर बनी नालियों का टायलेट के रूप में प्रयोग करते थे, ये सारा काम वे प्रातः भोर होने से पूर्व ही सम्पन्न कर लिया करते थे। इसलिये किसी भी घर में शौचालय बनाने की आवश्यकता ही नहीं पड़ी।

शहर में हर दिशा से प्रवेश करने के लिये पांच दरवाजे और सात बारियों का विधान भी था। अन्दरूनी बनावट में श्रेष्ठिवर और सामान्य वर्ग के मकानों में ही संरचनात्मक भेद को परिलक्षित किया जा सकता है। बाकी में नहीं। अधिकांश एक ही शैली व विजन का विस्तार है।

इस प्रकार कहा जा सकता है भले हमारा नगर वास्तुशास्त्रीय दृष्टि से नहीं बसा है, पर जिन बड़े (बुर्जुगों) के दिमाग में इसकी परिकल्पना थी वह किसी अच्छे कौशल सम्पन्न शिल्पकार की गम्भीर समझ, विवेक और स्थानीय भूगोल के अनुरूप ही थी।

डॉ. ब्रजरतन जोशी
नत्थूसर गेट के बाहर, बीकानेर

❑❑❑

मेवाड़ और मारवाड़ में गणगौर उत्सव- ऐतिहासिक अध्ययन

• डॉ. सुशीला शक्तावत

गणगौर राजस्थान का एक विशिष्ट त्योहार है। 'मनोवांछित पति प्राप्ति निमित यह त्योहार विशेषतः कुंवारी कन्याओं द्वारा मनाया जाता है।

गणगौर त्योहार होलिका दहन के दूसरे दिन से ही प्रारम्भ हो जाता है तथा चैत्र शुक्ला चतुर्थी तक मनाया जाता है। चैत्र शुक्ला तृतीया एवं चतुर्थी को गवरा की सवारी किसी जलाशय पर ले जायी जाती है। चैत्र शुक्ला नवमी को गणगौर विसर्जन किया जाता हैं।

होली के दूसरे दिन से ही बालिकाएं होली के राख के सौलह पिण्ड बनाकर पूरे सौलह दिन तक गणगौर की पूजा करती है। पूजा शीतलाष्टमी तक की जाती है। शीतला अष्टमी को जाते-जाते राख के पिण्ड प्रतिमा के रूप में विकसित हो जाते हैं। इस दिन लड़कियां कुम्हार के घर जाकर मिट्टी लाती हैं और उस मिट्टी से गणगौर, ईसर तथा काना रींवा अथवा मालिन ढोला की सुन्दर-सुन्दर प्रतिमाएं बनाती हैं।[1] उदयपुर शहर में सप्तमी व अष्टमी को मोती चोहट्टा में छोटी गणगौर के दिन मेला भरता हैं। वैसे मुख्य मेला अष्टमी को रहता हैं। गणगौर के मुख्य आयोजन से 10 दिन पहले छोटी गणगौर का आयोजन होता हैं। परंपरा के अनुसार बालिकाएं बाग-बगीचों से लाए गए फूलों से गणगौर का शृंगार करती हैं। छोटी गणगौर के दो दिवसीय मेले के दूसरे दिन अष्टमी पर महिलाएं ईसर-पार्वती की प्रतिमाएं श्रद्धा के साथ घर ले जाती हैं। मिट्टी की प्रतिमाओं को शुभ मुहूर्त में लिया जाता है। मेले में ही प्रतिमाओं का वस्त्र और आभूषण से शृंगार किया जाता है। गीत गाती हुई महिलाएं गणगौर को मान-सम्मान के साथ घर ले जाती है। विधि विधान से पूजा अर्चना के साथ

नेवैद्य अर्पण किया जाता है, जल के कुसुंबे दिए जाते हैं। कई समाजों द्वारा नोहरों में गणगौर-ईसर की प्रतिमा की स्थापना कर पूजा अर्चना की जाती है। महिलाएं पारंपरिक वेशभूषा धारण कर गणगौर के गीत एवं नृत्य प्रस्तुत करती हैं।[2] कुछ लोग घर की दीवारों पर गणगौर बनाकर उसकी पूजा करते हैं। प्रतिमाएं काष्ठ की सम्पूर्ण अंग-प्रत्यंगों (सर से पैर तक) की बनाई जाती है। मिट्टी की प्रतिमाएं सिर से लेकर नाभि तक ही बनाई जाती है। मिट्टी का गोल घाघरे का घेरा बनाकर नाभि के नीचे लगा देते हैं, जिसके सहारे यह टिकी रहती है।

चांदी की मूर्ति राजघराने में पूजी जाती हैं। मूर्ति को साफ करके मुहूर्त पर श्रृंगार व चित्रावरण किया जाता है। चांदी की मूर्ति के भंवारे, मेहन्दी, मुख पर रंग, मस्तक पर श्रृंगार व चरणों में मेहन्दी लगाई जाती है, आंखे लगाकर उनका श्रृंगार काजल इत्यादि से किया जाता है। कांचली, लहंगा, लहंगे पर फेटिया, ओढ़ना इत्यादि पोशाक पर गोटा तुर्रा का काम होता है तथा रंग लाल, केसरिया, सपतालू होता हैं।[3] विभिन्न प्रकार के जेवरात पहनाये जाते हैं।[4]

प्रात: होते ही कुंवारी लड़कियां समूह में बाग बगीचों में फूल-पत्तियां तथा दूब लेने जाती है। जंगल तथा बाग-बगीचों से कन्याएं अपने लोटों में जब फूल लेकर लौटती हैं तब का दृश्य बड़ा ही सुहावना लगता है। छोटी-छोटी लड़कियां जहां अपने सिर पर एक-एक लोटा-लोटियां रखती हैं वहां बड़ी-बड़ी लड़कियां पांच-पांच, सात-सात की संख्या में चूड़ा उतार अर्थात् बड़े से छोटे लोटे रखती हैं। सजी-धजी लड़कियां जब समूह में गीत गातें हुए निकलती हैं तो सारा आकाश इनके मधुर गीतों से गूंज उठता है। कही-कहीं लड़कियां गणगौर पूजा पर *खींपोली* नामक गीत गाती हैं।[5] मारवाड़ में प्राय: फोग की डालियों द्वारा यह पूजा संपन्न की जाती हैं। पूजा के लिये कुओं अथवा जलाशयों से निर्मल जल लाया जाता है और कांसे की एक थाली में पानी डालकर नदी जलाशय का रूप स्थापित किया जाता हैं। पूजा करने वाली अपने दायें हाथ में टहनियां एवं पत्तियां लिये थाली की मुण्डेर थामे रहती है और उसे गोलाकार घुमाती हुई गीत गाती है[6] और तदनन्तर थाली को ओंधी कर देती है इसी दिन से प्रति संध्या का गौर का *बंदोला* निकाला जाता है। शीतलाष्टमी के पूर्व तक गणगौर घर में ही पूजी जाती है। उसके बाद वह बाहर आने जाने लगती है। मुहल्ले की स्त्रियां भोग लगाने व *खोल* भरने के लिए गणगौर को आमन्त्रित करती रहती हैं। इसमें बारी-बारी से लड़कियां अपने-अपने घरों से गेहूं, मकई, बाजरे अथवा चने की घूघरी लाती हैं और आपस में मिल बैठकर खाती-गाती हैं। इसी दिन घरों में किशोरियां जो गेहू बो कर जवारों के रूप में अपने हाथों से फसल का रोपण

करती हैं। मांगलिक कार्यों में *ज्वारे* शुभ कल्याणकारी तथा आरोग्यमूलक माने गये है।[7]

घूड़ला फिराना—मारवाड़ में चैत्र कृष्ण अष्टमी को घुड़ला निकाला जाता है। कहा जाता हैं कि वि.सं. 1548 ई. 1491 में अजमेर के मल्लू खां ने मेड़ता पर चढ़ाई की। वह पीपाड़ के पास कोसाना ग्राम में गोरी पूजा के लिए आई हुई 141 स्त्रियों को ले भागा। इसकी सूचना जब जोधपुर के राव सातल को लगी तो उन्होंने तत्काल पीछा किया। उक्त स्त्रियों को तो वे छुड़ा ही लाये किन्तु साथ ही अमीर घराने की कुछ अन्य स्त्रियों को भी ले आये जिनमें घुड़ला खां की एक सुन्दर कन्या भी थी। मान्यता प्रचलित है कि घुड़ला खां ने इस अपमान का बदला लेने के लिए वीरतापूर्वक युद्ध किया किन्तु तीरों से छिदकर उसे अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ा। घुड़ला खां की याद में उसकी लड़की ने घुड़ले का त्योहार प्रचलित किया जिसमें बालिकाएं छिद्रों वाले घड़े को सिर पर रखकर अपने सम्बन्धियों के यहां गीत गाती हुई जाती हैं।

राव सातल जी ने तीजणियों को छुड़ा लिया किन्तु युद्ध में लगे घावों से वे इतने घायल हो गये थे कि चैत सुदी 3 की रात्रि को उनका प्राणान्त हो गया। कहा जाता है कि मीर घुड़ला का मस्तक काटकर उन तीजणियों को दे दिया गया था जिसे थाली में रखकर वे कन्याएं नगर के घर-घर में घूमी और उस आततायी के कटे हुए मस्तक का प्रदर्शन करके ग्रामीणों में इस भावना का संचार किया कि मारवाड़ में नगर-ग्राम कन्याओं के अपहरणकर्ताओं को ऐसा दण्ड मिलता है। इसके पश्चात् प्रत्येक वर्ष गणगौर के अवसर पर इस घटना की स्मृति को बनाये रखने के लिए गौरी पूजन हेतु आने वाली कन्याएं कुम्हार के यहां से शीतला अष्टमी को एक छोटी मटकी, जिसके चारों ओर छिद्र होते हैं, लाती हैं और अन्दर दीपक जलाकर उसे सिर पर रखकर अन्य कन्याएं साथ मिलकर घर-घर घुड़ला का गीत गाती हुई घूमती हैं और तेल संचय करती हैं। इस प्रकार आज लगभग 500 वर्षों से मारवाड़ उस ऐतिहासिक घटना को ताजा बनाए हुए है।[8]

चैत्र सुदी तीज को यह मटकी अर्थात घुड़ले को महाराजा द्वारा तलवार के वार से फोड़ा जाता हैं। उस फूटे घड़े के टुकड़ों का लोग शकुन के तौर पर अपने अन्न के कोठार में रखते है। राव सातल की चैत्र सुदी तीज को मृत्यु होने से जोधपुर में गणगौर की पूजा होती है। ईसरजी की पूजा नहीं होती है।

लोटियों का मेला—घुड़ले के मेले के दूसरे रोज ही मारवाड़ में लोटियों का मेला होता है। प्रति दिन संध्या समय कन्याएं व सुहागन स्त्रियां टोली

बनाकर जलाशय या कुएं बावड़ी पर जाती हैं और सिर पर छोटे-बड़े तीन-चार कलश रखकर गीत गाती हुई जाती हैं। जलाशयों से पात्रों में पानी भरकर सबसे नीचे बड़ा कलश उस पर उससे छोटा और उस पर सबसे छोटा पात्र रखकर कुमकुम तथा चन्दन से पूजा करती है। कलश पर नारियल व पुष्प मालाएं बांधी जाती है। लोटियों वाली स्त्रियां गले में फूलों की माला पहनकर गीत गाती हुई पूजा स्थान को आती हैं और गणगौर को पानी पिलाती हैं। जोधपुर में गुलाबसागर, मायला बाग का झालरा, रानीसर व पदमसर पर लोटियों का मेला रहता है।[9]

गणगौर के पहले वाले दिन को सिंझारा कहते हैं। इस दिन महिलाएँ-किशोरियाँ अपने हाथ पाँवों के मेहंदी लगाती हैं। मेहंदी मांडणों में प्राय: वे ही अंकन उभारे जाते हैं जो गणगौर से सम्बन्धित होते हैं। महिलाएँ गणगौर की पूजा चूंदड़ी पहनकर करती हैं तो मेहंदी में भी इसी चूंदड़ी के समान बनाया जाता है। इस दिन घेवर, शक्करपारा, गुणों का जोड़ जैसे मिष्ठान बनाये जाते हैं। मेहंदी में भी इन्हें उकेरा जाता है। चौपड़ इस त्योहार का मुख्य खेल है, इसलिए चौपड़ को हथेलियों में भी उकेरा जाता है।

दांतण हेला : मेवाड़ में यह दिन बड़ा महत्वपूर्ण माना जाता है। इस दिन को उस क्षेत्र में दांतण हेला का दिन भी कहते हैं। संध्या को स्त्रियां नये परिधानों तथा आभूषण पहन कर गीत गाती हुई तालाब की पाल पर जाती हैं, जहाँ हथगोड़ में खेलती-नाचती मनोविनोद करती हैं। घर लौटते समय वे अपने-अपने हाथों में आम की छोटी-छोटी डालियाँ ले जाती हैं। ये डालियाँ आम का दाँतण *(दतौन)* कहलाती हैं। इसी *दतौन* को गणगौर के मुँह पर लगाकर उसके दातून करने की रस्म पूरी करती हैं। राजपरिवार में भी यह रस्म धूमधाम से होती है। साड़ी के पल्लू को दोनों हाथों से पकड़कर दातून को माताजी के मुख से आठ बार लगाया जाता है इसके पश्चात् जल का आचमन और आठ बार चूरमे का भोग चढ़ाया जाता है। फूलों का *चोसरा* पहनाया जाता है तथा माताजी के चरणों में चोटी वाला नारियल रखकर रोकड़ रुपये भेंट किये जाते है। 'दांतणहेला' के दिन रात्रि को महिलाएँ गणगौर का 'टूंट्या' निकालती हैं जिसमें वर-वधू की शादी का दृश्य दिखाया जाता है। इसमें वर प्राय: छोटा तथा वधू बड़ी होती है। वर बनने वाली वर की पूरी पोशाक धारण करती है तथा वधू बनने वाली वधू की। आगे-आगे ढोल की जगह फूटा कंनस्तर बजाया जाता है। वर-वधू की यह *बनोली* अत्यंत आकर्षक लगती है।[10]

तीज के दिन कहीं मीठी पूड़ियाँ, खाजे-पापड़ी तथा कहीं चूरमा-बाटी बनाया जाता है। कोई घर ऐसा नहीं रहता है जहां गणगौर का मिष्ठान नहीं बनता हो। मीठी-चरकी पापड़ियाँ तथा मीठे-चरके फर (फल) भी बनाये जाते हैं। गणगौर के लिये 32 फर (16 मीठे तथा 16 चरके) बनाये जाते हैं जो उसकी पूजा थाली में रखे जाते हैं। गणगौर स्थान पर जब महिलाएँ पूजा करने जाती हैं तब सोलह तो गणगौर के चढ़ा देती हैं शेष सोलह का एक-दूसरी आपस में अदला-बदली करती हैं। पूजा की थाल में मेहंदी, लच्छा, कुमकुम के साथ-साथ हल्दी मिले गेहूं-आटे के गणगौर माता के आभूषण बड़े कलात्मक और विशेष दक्षता-कारीगरी लिये होते हैं। इन आभूषणों के अतिरिक्त एक दूब भरा लोटा होता है। सारी औरतें उस लोटे को बीच में रखकर घूघरमार बैठकर अपनी अंगुलियों से पानी का छिड़काव देती हुई लोटा फेरते हुए गीत गाती हैं। ईसर का 'ईसर पूजू पारवती जी' वाला गीत लड़कियां भी प्रतिदिन की पूजा में गाती हैं।[11]

राजस्थान में गणगौर का त्योहार लगभग सभी जगह मनाया जाता है परन्तु पिछले कुछ वर्षो से बूंदी में यह त्योहार नहीं मनाया जाता है। कहा जाता है कि एक बार यहाँ के राव बुधसिंह के भाई जोधसिंह अपनी पत्नी स्वरूपकंवर तथा सालियों के साथ जब नाव की सैर को निकले तो एक मदमस्त हाथी ने उनकी नाव पलट दी। इससे नाव में सवार सभी व्यक्ति मारे गये तभी से यहाँ यह त्योहार मनाना बंद कर दिया गया। इसीलिये कहा जाता है 'हाड़ो ले डूब्यो गणगौर।' हाड़ा तो डूबा सो डूबा, गणगौर को ही ले डूबा। इस दुर्घटना की इसी चाल की एक उल्टी कहावत 'हाड़ा नै ले डूबी गणगौर' (गणगौर हाड़ा को ले डूबी) भी प्रचलित है।[12]

गणगौर के दिनों में इस बात का पूरा ध्यान रखा जाता था कि गणगौर को कोई अपहरण कर न ले जाये। एक तो इनका कीमती पहनावा तथा जेवर भी बहुमूल्य होता था। दूसरा यदि कोई इसे छीनकर ले गया तो यह एक प्रकार से पराभव तथा बेइज्जती समझी जाती थी इसलिये प्राय: सभी जगह ठिकानों में गणगौरों पर कड़े पहरे थे। लेकिन बावजूद कितने ही पहरे के कुछ घटनायें हमें ऐसी मिलती हैं जहाँ भरे जुलूस में गणगौर का अपहरण कर लिया गया। इससे गणगौर उठाकर ले जाने वाले ठिकाने की जहाँ विजयश्री गौरवान्वित हुई वहीं जिस ठिकाने की गणगौर छीन ली गई उसकी जनता जनार्दन में पराजय तथा नीची निगाहें रही। गणगौर अपहरण संबंधी दो-एक दिलचस्प घटनाओं का उल्लेख यहाँ किया जा रहा हैं।

उदयपुर की गणगौर के साथ-साथ गोगुन्दा की गणगौर भी बड़ी नामी रही है। यहां के कुंवर लालसिंहजी बड़े रोबीले, स्वतंत्र तथा घुमक्कड़ प्रवृत्ति के थे। एक समय उदयपुर के महाराणा स्वरूपसिंहजी के सामने कोटा की गणगौर की तारीफ हुई तब महाराणा ने फरमाया कि तारीफ तो बहुत कर ली गई मगर कोई माई का लाल उस गणगौर को तो लाकर दिखाये! बिना उसे देखे कैसे पता चले कि वह गणगौर केसी है? महाराणा साहब का हुक्म सबके लिये चुनौती बन गया। बीड़ा फैरा गया कि कोई हिम्मतवार हो जो कोटा की गणगौर उड़ाकर लाये। बीड़ा किसी पुरुष ने नहीं झेला तब वीरवर लालसिंह ने उसकी इज्जत रखी और ठीक गणगौर के दिन अपने घोड़े पर सवार हो कोटा पहुंचा। दरबार गणगौर की मजलिस का आनन्द ले रहे थे। उसी समय लालसिंह ने कहलवाया कि एक घुड़सवार घोड़े पर गणगौर नचाने में बड़ा प्रवीण है। यदि दरबार की इजाजत हो जाये तो वह अपना करिश्मा दिखा सकता है। दरबार ने सोचा कि घोड़े पर गणगौर नचानेवाला न तो सुना गया और न आज तक देखा ही गया। यदि वह यहां हाजिर है तो उसका कमाल देखने में क्या हर्ज है, फलतः उन्होंने इजाजत दे दी। लालसिंह तो इसी अवसर की टोह में था। वह अपने घोड़े सहित पहुंचा। उसने पहले गणगौर को धीरे-धीरे घुमाया और फिर धीरे-धीरे घोड़े की चाल बढ़ाता गया। एक समय ऐसा आया कि उसने घोड़े को एड़ी दी और घोड़ा छलाँग मारता हुआ वहां से नौ दो ग्यारह हो पड़ा। लोग हक्के-बक्के हो देखते रह गये कि कैसे क्या हो गया। लालसिंह ने महाराणा को गणगौर लाकर दी। महाराणा ने उसे शाबाशी दी और पुरस्कार स्वरूप वही गणगौर दे दी जो आज भी गोगुन्दे के ठिकाने में सुरक्षित है।[13]

गौरी की प्रतिमा विसर्जित करते समय औरतें दाम्पत्य सुख का वरदान मांगती हैं। साथ ही विनोदमय ढंग से अपने पति के नाम का उच्चारण करती हैं। वैसे हमारे वहाँ पत्नी के लिये पति का नाम लेना वर्जित है परन्तु ऐसी मान्यता है कि गौरी के सम्मुख उसका नाम लेने से उसे अखंड सौभाग्य और सुख की प्राप्ति होती है। अतः इस पवित्र भावना के फलस्वरूप वे अपने पति का नाम ले लेती है। विसर्जन के अवसर पर कहीं-कहीं बालिकाएँ अपनी गणगौरों को चांदी के छल्ले से पानी पिलाती हैं।[14]

चैत्र शुक्ला 3 से 6 तक गणगौर का त्योहार मनाया जाता था। मेवाड़ में यह त्योहार उदयपुर, नाथद्वारा तथा गोगुन्दा में विशेष रंगोल्लास के साथ मनाया जाता था। उदयपुर की गणगौर की विशेषता महाराणाओं की भव्य एवं कलात्मक सवारी के कारण थी। यह सवारी प्रतिदिन सायंकाल चारों दिन निकाली जाती

थी। इसमें सबसे आगे निसांण का हाथी रहता जिस पर एक व्यक्ति निसांण लिए बैठा रहता था। यह निसांण पताका के रूप में सुनहरी रंग की जरी (आसावरी) का होता जिस पर सफेद कपड़े के चाँद तथा सूरज लगे होते थे। इस हाथी के पीछे बैंड वाले रहते थे, बैंड वाजक अपने बैंड पर गणगौर गीतों को बड़ी कर्ण प्रिय धुन बजाते हुए चलते थे। इनके पीछे राइफलें लिए पलटन होती थी। पलटनिये पैदल खाकी तथा लाल वर्दी में रहते थे।[15] इनके बाद दरबार के हाजरवासी मेहता धाबाई तथा मरजीन्दा लोग रहते थे। ये हाथी पर सवार होते। प्रत्येक हाथी पर *फारकी* (पालकी) कसी हुई होती जिसमें चार-चार व्यक्ति बैठे रहते थे। इन हाथियों की संख्या आठ-दस तक होती। इन हाथियों के पीछे घोड़े होते जिन पर राजकीय प्रतिष्ठित लोग मेहता, मुसददी, दीवान, उमराव तथा चारण आदि रहते। इनके पीछे तीन हाथी होते जो सोने, चांदी के होदों तथा बेशकीमती जेवरों से सजे होते। इनमें एक हाथी एकलिंग जी की सवारी का होता, जिस पर सोने के नाग का फण सुशोभित रहता इन हाथियों के पीछे रणकंकण बाजे वाले चलते। रणकंकणिये तीस के करीब होते जिनमें तीन-चार बांसुरी बजाने वाले भी होते। इन्हीं रणकंकणियो के साथ गोटेवाले, छड़ीदार तथा बंदूकधारी होते। ठीक इनके साथ दरबार का हाथी चलता जिस पर दरबार शाही पोशाक में बिराजे हुए रहते।[16] इनके आगे महावत तथा पीछे कोई एक बत्तीसी जागीरदार चंवर ढोलते रहते। चंवर के साथ *छत्र, छहोंगीर, किरविया, अड़ाणी, छवा* आदि *लवाजमा* भी होता। मोटे छड़ी वालों के साथ वीरतापूर्ण दोहे गाते हुए ढोली गंधर्व चलते थे।[17]

महाराणा के हाथी के पीछे खाकी वर्दी में रिसाले के घुड़सवार रहते। ये सवार बंदूकधारी होते। इनके पीछे सोने चांदी के कीमती जेवर व जरी का सामान पहने घोड़े चलते। मुख्य घोड़ों के दोनों तरफ चंवर तथा मोरछल होते हुए निकलते। घोड़ों के साथ चलने वाले सईस भी विशिष्ट पोशाक में इनकी लगाम थामे बढ़ते। इनके पीछे आखरी मे नगारे का हाथी रहता। इसके ऊपर दोनों ओर नगारे रहते जिन्हें नगारची बजाता रहता। नगारची के पीछे दो-तीन शहनाई बजाने वाले भी बैठे रहते। गणगौर की ऐसी सवारी और उफनता हुआ उल्लसित जनसमूह उदयपुर के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं देखने को नहीं मिलता।[18]

यह सवारी गणगौर घाट (त्रिपोलिया) जाकर पूरी हो जाती। यहां महाराणा नौका में सवार होते। इस नौका में चार खंभों वाली कलात्मक छतरी होती, जिसमें एक सिंहासन होता। यह सिंहासन बहुत ही बेहतरीन ढंग से सजाया जाता

था। महाराणा इसी सिंहासन पर बिराजते। महाराणा के अतिरिक्त इसी जंगी नाव में अन्य सरदार, सामन्त, उमराव भी होते जो अपने पद प्रतिष्ठा के अनुसार जगह पाते, बैठते अथवा खड़े रहते। नाव में चढ़ने वालों की संख्या लगभग सौ तक पहुंच जाती। घूमर लेने वाली पातुरे भी इसी नाव में सवार होती थी।[19]

इसी नाव के साथ एक नाव और जोड़ दी जाती जो सतरहवें उमराव की होती थी। यह नाव बिना छतरी के होती थी। दोनों नावों की रूप-सज्जा देखते ही बनती थी। चार दिन की सवारी में चारों दिन महाराणा के मनमाफिक रंग की पोशाकें तथा तद्रुरूप सजावट होती है। जागीरदार, सरदार, उमराव से लेकर नावे तथा नावड़ ये तक उसी रंग विशेष में रंगे जाते। इन दोनों नावों के पीछे एक छोटी नाव ओर होती जो डूडा कहलाती। इसमें नगारे तथा शहनाई वादक बैठ कर अपना वादन देते।[20]

जब कभी महारानी साहिबा को सवारी का ठाठ देखना होता तो उनके लिए कमरानुमा पर्दे वाली एक छोटी सी नाव जोड़ दी जाती जिसमें राणीजी अपनी दासियों सहित विराजमान रहती। महाराणा के नौका पर सवार होने के पश्चात् महलों से गणगौर की भव्य सवारी निकाली जाती। इसमें वस्त्राभूषणों से गणगौर माता को सजाया जाता। ये वस्त्राभूषण अत्यन्त कीमती होते। गणगौर को *भोयण* अपने सिर पर सिंहासन सहित उठाये चलती जिसके दोनों ओर दो दासियां चंवर ढोलती रहती। इनके पीछे महाराणा की संवारी की ही भांति फौज, पलटन, हाथी, घोड़े तथा पैदल पंडित अहलकार आदि चलते। गणगौर घाट पर गणगौर माता का पंडित-ज्योतिषियों द्वारा विधिवत् पूजन होता जहां महाराणा नाव से ही उठकर माता को प्रणाम करते।[21] यही दासियां गणगौर के दोनों और खड़ी होकर वंदना के रूप में झुकती हुई लूहरें गाती। इसके बाद उस गणगौर की यह सवारी महलों को लौट आती। तदुपरान्त, महाराणा की नाव गणगौर घाट से चलकर नावघाट तक जाती। यहां से घूम-फिरकर पुनः नाव गणगौर घाट आ जाती, जहां पातुरे नाव से उतरकर गणगौर गीतों के साथ घूमरे लेती। घूमर के बाद पुनः वे नाव में सवार हो जाती। यहां से नाव मोहन मंदिर की ओर बढ़ती। मंदिर के पास पहुंचते ही आतिशबाजी छोड़ी जाती जिससे गुब्बारों का विशेष आकर्षण रहता जिसे देख किनारों पर खड़ी राज्य की जनता आनन्दित हो उठती थी। गणगौर की इस सवारी में माछले मगरे पर तीन बार तोपें दागी जाती जो अलग-अलग संकेतों की सूचक होती। पहली तोप महाराणा महलों से प्रस्थान करते तब, दूसरी महाराणा नाव में बिराजते तब तथा तीसरी सवारी के बाद महाराणा महलों में पधारते तब दागी जाती।[22] नाव की यह सवारी महाराणा

सज्जन सिंह ने प्रारंभ की। इस विषयक एक गीत गणगौर गीतों के साथ आज भी सुनने को मिलता है। *हेली नाव री असवारी सजन राणा आवे छै सजन राणा आवे छै हिन्दुवा भांण आवे छै धीरे धीरे नाव चालै इन्दु गाजे छै पीछोला री पाल मोरी घूमर आवे छै।*

गणगौर का त्योहार यद्यपि महिलाओं का होता था, किन्तु राजवंश एवं सम्पूर्ण राज्य इसे उत्साह उमंग से मनाते थे। इस अवसर पर मारवाड़ में भी गणगौर की सवारी का अपना वैभव होता था। गणगौर प्रतिमा को सजाया जाता। राजवंश की स्त्रियां गणगौर के पूजन महल में करती थी तथा गणगौर की सवारी राजसी ठाट-बाट से निकलती।[23]

रानियों की सवारी भी इस अवसर पर होती थी। जोधपुर शहर के प्रमुख मोहल्लों की एवं उच्चाधिकारियों की गणगौर भी इस अवसर पर राज्य की गणगौरों में शामिल हो जाती थी। पातरिया, भगतणिया इस अवसर पर घूमरा लेती तथा गवर के तमाशों का खेल इस अवसर पर सम्पन्न होता था।[24]

गणगौर विसर्जन के दिन अन्त:पुर में गौरी के सम्मुख राजपरिवार की महिलाएँ पूजा के साथ लाखा फूलाणी गीत गाती है। इसकी कुछ पंक्तियां दृष्टव्य है।[25]

ए लाखों फुलाणी सुन्दर लेरियो ए उमा
थां छोटा लाखोजी मोटा चोवटिया ए उमा
म्हारी छोटी गेंद गुलाल
ए लाखो फुलाणी सुन्दर लेरियो ए उमा

लाखा फुलाणी के साथ-साथ नथमल गीत व गोंदोली भी गाई जाती हैं।

गणगौर त्योहार मना लेने के बाद गणगौर को विसर्जित किया जाता है। विसर्जन करने से एक दिन पहले की सवारी में गणगौर को काजलिया रंग की साड़ी धारण कराई जाती है। प्रतिमा उठाने वाली स्त्रियां भी प्राय: इसी रंग की साड़ी पहनती हैं। यह अन्तिम सवारी का संकेत सा होता है। इस प्रकार की पोशाक केवल मेवाड़ में ही पहनाई जाती है। साड़ी का काला रंग यद्यपि वैधव्य का प्रतीक होता है फिर भी उस पर गोटा किनारी लगा देने के पश्चात् सुहागिन स्त्रियां भी उन्हें पहन सकती है।[26]

दूसरे दिन सवेरे गणगौर का विसर्जन किया जाता है। गणगौर को अन्त:पुर के चौक में रखकर राज्य परिवार की औरतें घूमर लेती है। इस समय

लाखा फूलाणी व गींदोली के गीत गाये जाते हैं। लाखा फूलाणी कच्छ का राजा था। यह राजस्थानी लोक साहित्य, गीतों और गाथाओं का लोकप्रिय नायक है।[27]

गीत एवं नृत्यादि के पश्चात् गणगौर को विसर्जन हेतु विदा किया जाता है। विवाहोत्सव पर कन्या को विदा करते समय जो दस्तूर किये जाते है वे ही इस अवसर पर किये जाते है। 'ईसर' और 'गौर' की प्रतिमाओं को सिर पर धारण किये दो स्त्रियां खड़ी रहती है तथा अन्य स्त्रियां 'ईसर' को जंवाई के रूप में 'जवारी' के रुपये भेंट करती है।

राजघरानों में गणगौर की विदाई के पूर्व रानीजी थाली में दूब, पानी रखकर उसे पिलाती है। कंकू काजल के टीले टपके करती है और तब डावड़िया उसे वराने (विसर्जित करने) ले जाती हैं। तब एकत्रित सारा जन समुदाय करूणा के सागर में डूबा हुआ लगता है। काजल, सिन्दुर, मेहंदी, रोली से गणगौर की पूजा कर सधवाये उसके नेत्रों में काजल डालती हैं। उसके सिन्दूर को अपनी मांग में भरती है और उसके चढ़ी रोली को कपड़े में बांध उसके सोलह गांठे लगाकर अपने बाजू पर बांधती हैं। इसे वे पार्वती की भाति अटल सुहाग की प्राप्ति मानती है। विसर्जन के समय मार्ग में यदि कोई पुरुष मिल जाता है तो उसका मिलना स्वयं उसी के लिए बड़ा अनिष्कारी समझा जाता है। ऐसी स्थिति में छः माह के भीतर उसकी मृत्यु होगी समझ लिया जाता है।[28]

संदर्भ

1. *मेवाड़ राजघराने के उत्सव व त्योहार री विगत* हस्तलिखित प्रति, प्रताप शोध प्रतिष्ठान, उदयपुर, पत्र 1
2. *राजस्थान पत्रिका*, उदयपुर, 17 मार्च 2020 का अंक, पृ. 4
3. बालकृष्ण, वनराज जोशी–*उदयपुर डाइरेक्टरी*, पृ. 83
4. महेन्द्र सिंह नगर, *मारवाड़ के राजवंश की सांस्कृतिक परम्पराएं*–भाग-2, महाराजा मानसिंह, पुस्तक प्रकाश केन्द्र जोधपुर, 2011
5. महेन्द्र भानावत, 'राजस्थान की गणगौर', प्रकाशित लेख लोककला, जनवरी-जून 1977, पृ. 12
6. शिवचरण मेनारिया, मेवाड़ के परंपरागत त्योहार व उत्सव, पृ. 227
7. महेन्द्र सिंह नगर–मारवाड़ राजवंश के रीति रिवाज, पृ. 465

8. धर्मपाल शर्मा, *मेवाड़ की संस्कृति एवं परंपरा,* प्रताप शोध प्रतिष्ठान, 1999, पृ. 171
9. *मेवाड़ राजघराने के उत्सव व त्योहार री विगत,* प्रताप शोध प्रतिष्ठान, पृ. 2
10. वही, पृ. 2
11. महेन्द्र भानावत, *राजस्थान की गणगौर,* उपर्युक्त, पृ. 36
12. वही, पृ. 41
13. रानी लक्ष्मीकुमारी चुण्डावत, 'खेलण दो गणगौर ओ पन्ना मारू', *मरूभारती,* 12 अंक, 2 जुलाई 1964, पृ. 21
14. राजस्थान पत्रिका, उदयपुर, 4 व 7 अप्रैल 2000 का अंक
15. शिवचरण मेनारिया, *मेवाड़ के परंपरागत त्योहार व उत्सव,* पृ. 228
16. रणकंकण बाजा भालेनुमा वाद्य होता है जिस पर लगे घुंघरूओं से छम-छम की ध्वनि निकलती है।
17. श्यामलदास, *वीर विनोद,* प्रथम भाग, वैदिक यंत्रालय, अजमेर, 1913, पृ. 120
18. वही, पृ. 121
19. धर्मपाल शर्मा, *मेवाड़ की संस्कृति एवं परंपरा,* पृ. 189
20. वही, पृ. 189
21. रानी लक्ष्मीकुमारी चुण्डावत–'खेलण दो गणगौर ओ पन्ना मारू', उपर्युक्त, वर्ष–12 अंक, पृ. 23
22. श्यामलदास, *वीर विनोद,* राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर 2017, पृ. 1901
23. *जोधपुर हकीकत बही,* नं. 10, वि.सं. 1871-1880, पत्रांक 252-255, 299, 345 रा.रा. अभिलेखागार बीकानेर
24. *जोधपुर हकीकत बही,* नं. 7, वि.सं. 1854-55, पत्रांक 125, रा.रा. अभिलेखागार बीकानेर
25. रानी लक्ष्मी कुमारी चुण्डावत, 'खेलण दो गणगौर ओ पन्ना मारू', उपर्युक्त पृ. 21
26. महेन्द्र भानावत *लोककला,* 1977, पृ. 21
27. गींदोली अहमदाबाद के बादशाह मेहमूद बेगड़ा की कन्या थी। एक बार जगमालजी के अनुपस्थिति में महुंग की तीज खेलती 140 कन्याओं को पाटण का सूबेदार हाथीखान पकड़ कर ले गया। हाथीखान ने उन लड़कियों को अहमदाबाद के

बादशाह को भेंट कर दिया था। गणगौर के पहले दिन जब बादशाह की बेटी गणगौर देखने शहर के बाहर आई थी, तब जगमालजी के प्रधान डूलजी ने गींदोली को महुवे ले जाकर जगमाल जी को दिया। उस समय गणगौर को विसर्जित कर जगमालजी की सवारी लौट रही थी। जगमालजी ने गींदोली को सम्मान के साथ गींदोली को आगे किया और आप पीछे हुए। स्त्रियां इन दोनों की सवारी निकाल साथ में गाती चली आगे आगे गींदोली, पीछे ए जगमाल कंवर, धीरा रो ए जगमाल कंवर, म्हारो छैल रूस्यो जाय।

28. महेन्द्र भानावत, लोककला, जनवरी-जून 1977, पृ. 44

डॉ. सुशीला शक्तावत
प्रोफेसर (इतिहास)
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय
जोधपुर (राज.)

❑❑❑

बीकानेर में पुष्टि भक्ति परम्परा का विकास

पूर्व गुप्तकाल (240 ई.) से महाराजा गजसिंह (1787 ई.) तक

• शिव कुमार व्यास

राजपूताना के पश्चिम दिशा की ओर, महा भारत में वर्णित कुरूदेश के पास स्थित, मानव रहित जंगल क्षेत्र के रूप में पहिचान की गई। इसी जांगलदेश[1] क्षेत्र में राव बीका ने वि. सं. 1545। 1488 ई. में बीकानेर राज्य की स्थापना।[2] बीकानेर से 113 मील उत्तर-पूर्व में स्थित सूरतगढ़ से 2 मील उत्तर-पूर्व दिशा की ओर 500 ईसा पूर्व से 1600 ई. के मध्य लगभग 240 ई. में रंग महल नामक संस्कृति का विकास घग्गर के पाट में हुआ। इस संस्कृति प्राप्त अवशेषों में रोमन-बौद्ध संस्कृति का मिश्रित प्रभाव परिलक्षित होता है।

डॉ. एल. पी. टैस्सीटोरी ने 1916 ई. में इस पूर्व गुप्तकालीन बौद्ध-रोमन-गांधार सभ्यता के अवशेषों की खोज की। रंगमहल से प्राप्त तत्कालीन बौद्ध धर्म एवं रोमन प्रभाव से चिह्नित; टेराकोटा से निर्मित फलकों में शैव, शाक्त आदि के साथ विष्णु के विभिन्न अवतारों कृष्ण, वामन, गरूड़ आदि का चित्रण, भारत में प्रचलित वैष्णव धर्म की इस क्षेत्र में उपस्थिति का संकेत करते हैं।[3] टेराकोटा से निर्मित से फलक सम्भवतः पूर्व गुप्त कालीन देवालयों को बाहर की ओर अलंकृत करने हेतु लगाये जाते थे। कालान्तर में इन देवालयों को आक्रान्ताओं के द्वारा नष्ट कर दिया गया होगा।

वैष्णव सम्प्रदाय को प्रतिबिम्बित करने से सम्बन्धित रंगमहल से प्राप्त महत्वपूर्ण फलक :

श्री गोवर्धनधर कृष्ण फलक (बीकानेर संग्रहालय 229) : रंगमहल से

प्राप्त, गोवर्धन पर्वत उठाये हुए श्रीकृष्ण टेराकोटा फलक का आकार 14.5'' गुणा 9'' है बीकानेर संग्रहालय में प्रदर्शित 229 समसंख्यक। इस फलक का समय 350-450 ई. माना जाता है। इस में अंकित श्रीकृष्ण को स्थानकावस्था में मूँछों को धारण किये हुए दर्शाया गया है। भारत में अन्यत्र किसी भी स्थान से प्राप्त गोवर्धन की प्रतिमा में कृष्ण के मुख पर मूछें नहीं मिलती। यह गान्धारकालीन फलक अब तक प्राप्त अपनी श्रेणी की एकमात्र कृति है।[4]

कृष्ण की दान लीला (बीकानेर संग्र. 261) : पीर सुल्तान, सूरतगढ़ से प्राप्त इस फलक का आकार 13'' गुणा 11'' है एवं समय लगभग 350 से 450 ई. के मध्य का माना जाता है। इस फलक में मुंह पर दाढ़ी रहित मूंछ, घुटने तक अधोवस्त्र, लकुटधारी कृष्ण पेड़ के नीचे, एक ओढ़नी एवं लहंगा पहने हुए ग्वालिन स्त्री के साथ रमणीक दृश्य में खड़े दिखाई दे रहे हैं। नंगे सिर, खुले वक्ष स्थल, स्त्री के पीठ एवं सिर पर दुपट्टा, घुटनों के थोड़ा नीचे तक अधोवस्त्र, सिर पर दूध से भरी मटकी का फलक रोमन शैली के अधिक समीप प्रतीत होता है।[5]

इस फलक का प्रदर्शन महाकवि कालीदास द्वारा रचित मेघदूत गीति काव्य में वर्णित विष्णु के गोपवेश धारी स्वरूप गाथा गोपवस्त्रस्य विष्णोः (मेघदूत, अध्या.1/15) का संकेत भी करता है। बीकानेर के इस क्षेत्र में प्राप्त दान लीला का ऐसा प्राचीनतम मनमोहक अंकन तो कृष्ण की क्रीड़ा स्थली ब्रज मण्डल में भी नही मिला है।

मुण्डा (सूरतगढ़) से ही पांचवी सदी में निर्मित एक अन्य फलक प्राप्त हुआ है; जिसका आकार 3.5 गुणा 6.5 है। इस छवि के आधार पर केवल पैरों के के विन्यास ही प्राप्त हुए है। आधार के ऊपर का विन्यास गायब है। महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि इस खण्डित प्रतिमा रूप चरण चौकी के आधार पर ब्राह्मी लिपि में यशोदाकृति अंकित (बीका. संग्र. 1762) है। सम्भवतः यह फलक श्रीकृष्ण की पालक; माता यशोदा की मूर्ति का होगा।[6] दो अन्य फलक

में क्रमशः पुरूष रूप सुदर्शन चक्र एवं (बीका. संग्र. 265), पीर सुल्तान की थड़ी से प्राप्त तीसरी सदी का टेराकोटा का एक पंख वाला झुका हुआ भगवान विष्णु का वाहन गरुड़[7] (बीका. संग्र. 259) आदि का अंकन मिलना भी इस क्षेत्र की वैष्णव भक्ति परम्परा को प्रदर्शित करता है।

१७१२. त्रमिलेन्ब-युक्त मृण्मूर्ति, मुण्डा

बीकानेर क्षेत्र से प्राप्त पूर्व गुप्त कालीन लगभग 1600-1700 वर्ष पूर्व निर्मित इन फलक से इतना तो सिद्ध होता है कि तत्कालीन शासक वर्ग, सामाज एवं समाज के विभिन्न अंग शिल्पकार व कलाकार आदि में कृष्ण भक्ति धारा समग्र रूप से विकसित थी।[8]

इसी कृष्ण भक्ति का प्रभाव निरन्तरता से चलता हुआ मध्यकाल में अस्तित्व में आये बीकानेर राज्य में भी एक नवीन स्वरूप में विकसित हुआ।

रजवाड़ा काल में कृष्ण भक्ति का विकास :

बीकानेर के राठौड़ शासक प्रारम्भ से ही धार्मिक रहे हैं। जिसकी पुष्टि राव बीका द्वारा राज्य की स्थापना[9] के पश्चात पिता की तेरह पूजनीक चीजों में लक्ष्मी नारायण की मूर्ति को विशेषरूप से मांगा।[10] राजपूताना की देशी रियासतों में लक्ष्मी नारायण विग्रह को भी राज्य में सम्मान प्राप्त था।[11]

राव बीका के पूगल एवं बरसलपुर के दो भाटी राज्यों को जोइया मुसलमानों के अधिकार से मुक्त करवाने[12] की स्मृति में चौहथ नामक चारण ने संवत् 1615 से 1634 के मध्य पुरानी डिंगल भाषा में एक गीत की रचना की थी जिस में बीका को गोवर्धनधारी श्रीकृष्ण, भाटी शासकों तथा पुंगळ एवं बरसलपुर को गोपियों के रूप में दर्शाया गया है।

वीकउ वाखाणि जेणि वडरायाँ.....अपणइ गोकल तणँ उबारियइ, कान्ह प्रवाड़उ किस्यउ कलि।।1।।

काठलिअे..... तइँ आँगुली अनड़ तू ऊपरि, गिड़े कियउ पड़ते गोविद।।2।।

उपरि गोपि कियइ गिरि ओलइ अज्जइ आदिवराह उरू।
वीग्रहिया ऊग्रहिया वीकइ, पूगळ नइ वइरसल्लपुरु।।3।।[13]

अतः बीकानेर अपने प्रारम्भिक काल में रचित साहित्य में भी कृष्ण भक्ति धारा से ओतप्रोत था और शासकों का गुणगान करने के लिये तत्कालीन चारण कवि पौराणिक पात्र श्रीकृष्ण एवं उनकी लीलाओं को ही अपना वर्ण्य विषय बनाते थे।

बीकानेर शैली की राजपूत चित्रकला में श्रीकृष्ण भक्ति :

मूर्तिकला के साथ साथ चित्रण कला में भी कृष्ण भक्ति धारा का विकास दिखाई देता है। बीकानेर में चित्रकला में प्रथम संकेत देवलियों के चित्रों के रूप में राव कल्याण मल (सन् 1542 से 1571 ई.) के काल में दिखाई पड़ते है। डॉ. गिरिजाशंकर शर्मा ने कृष्ण की लीलाओं पर आधारित गीत गोविन्द की चित्रित पाण्डुलिपि को भी इसी के काल की बताया है।[14] बीकानेर में राजपूत चित्रकला शैली का परम्परागत विकास महाराजा रायसिंह के समय के कालीदास द्वारा रचित मेघदूतम् की चित्रित प्रति तथा 1580 ई. के श्री मद्भागवत के चित्रों में दान लीला का चित्र श्रेष्ठ माना जाता है।[15] बीकानेर के कलाकारों ने श्रीकृष्ण के अधिक लोकप्रिय वर्ण्य विषय रासलीला का चित्रण अपने चित्रों में प्रमुखता से किया है।[16] बीकानेर में भी देवीकुण्ड सागर में निर्मित राज परिवार की छतरियों (मृत्यु स्मारक) को आध्यामिक भाव से अलंकृत करने के इसी प्रकार की रासलीला का चित्रांकन छतरियों की छतों एवं आधार पर बनायी जाती है। महाराजा सूरसिंह (सन् 1613-31 ई.) से लेकर महाराजा अनूपसिंह (1673-95 ई.) के लगभग सौ वर्षों के कालांश में रासलीला का चित्रांकन महलों एवं छतरियों पर देखने को मिलता है। निर्माण का क्रम लगभग सौ वर्षो महाराजा सुजान सिंह, उनकी माता राजावती कंवर देवी, पत्नी दिजी कँवर, महाराजा करणसिंह (सन् 1631-1669), महाराजा अनूप सिंह (सन् 1674-1698) आदि तक शासकों के मृत्यु स्मारकों एवं आवास स्थलों में अलंकरण के लिये रासलीला का अंकन लगभग सौ वर्षो तक अपनी पूर्णता के

साथ दिखाई देता है। देवीकुण्ड सागर में स्थित महाराजा अनूप सिंह (1674-1698) की छतरी एवं बीकानेर किले में बनी पुरोहित जगरान जी की 1740 ई. की छतरी के अन्दर बनी रास लीला के चित्र अपने समय की चित्रकला एवं धार्मिक भावना के तत्कालीन प्रतिनिधि प्रतीक है।[17]

रासलीला चित्रण की परम्परा को शासकों के आवास गृहों में भी प्रयुक्त होती थी। इन चित्रों में प्रथम 1684 ई. का चित्र है जिसमें श्रीकृष्ण छिप कर अपनी प्रियतमा राधा को निहार रहे है, द्वितीय 1687 ई. का रसिक प्रिया चित्र (अनूप सिंह काल), तृतीय 1872-87 बीकानेर के जूनागढ़ के छत्तर महल की रासलीला अत्यन्त दर्शनीय है। चतुर्थ एवं सोलहवीं शताब्दी का एक लघु चित्र जिसमें राधा अपनी सखियों के साथ एवं दूसरे चित्र में श्रीकृष्ण राधा के चरणों में विराजमान होने के मनमोहक दृश्य चित्रित है।[18]

उपर्युक्त फलकों, प्रस्तर प्रतिमाओं एवं चित्रकला के उदाहरणों से स्पष्ट है कि बीकानेर में श्रीकृष्ण की भक्ति के सन्दर्भ पूर्व गुप्तकाल से ही दृटिगोचर होना प्रारम्भ हो गया था। बीकानेर के राजपरिवार का उद्भव जोधपुर के राठौड़ राजवंश से है और जोधपुर के राजकीय संग्रहालय में ईसा की 4-5 सदी के दो वृहत्स्तंभ प्राप्त हुए है जिनकी ऊँचाईं बारह से तेरह फिट है। इन स्तंम्भों पर कृष्ण की लीलाओं की भिन्न भिन्न झांकियाँ उत्कीर्ण है। इनमें से एक स्तम्भ में तो छः फुट चार इंच तक केवल गोवर्धन धारी मोर मुकुट धारण किये श्रीकृष्ण की प्रमुख क्रीड़ा ने ही आवृत है। इतने प्राचीन काल के कलाकार मूर्ति एवं शिल्पकार श्रीकृष्ण की भक्ति से ओतप्रोत थे। निश्चित रूप से कलाकारों की यह अभिव्यक्ति जन मानस के भावों की ही प्रदर्शन था। यह भावाभिव्यक्ति निरन्तरता के साथ उत्तराधिकार में प्रजा एवं राज परिवारों में चलती रही और कृष्ण भक्ति का प्रचार प्रसार होता रहा। उपर्युक्त वर्णन से सुस्पष्ट है कि पहले जोधपुर एवं बाद में बीकानेर राज्य की स्थापना के पश्चात भी इस भक्ति धारा के सन्दर्भ उपस्थित होते रहे है।[19]

बीकानेर राज्य के राज परिवार से सम्बद्ध लोगों में श्री कृष्ण के प्रति अनन्य भक्ति का प्रथम स्पष्ट उदाहरण तृतीय राव लूणकरण (1504-1526ई.) की पुत्री बाई बाल की श्री द्वारकानाथ जी (भगवान श्री कृष्ण) के परम भक्त के रूप में प्राप्त होते हैं।[20]

अतः निष्कर्षतः सिद्ध होता है कि स्थापत्य कला के साथ साथ चित्रकला में तत्कालीन धार्मिक भावनाओं का चित्रण स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है।

इसी कृष्ण भक्ति धारा के आलोक में ही परवर्ति शासक वर्ग ने पुष्टिमार्ग के प्रति अपना समर्पण अभिव्यक्त किया।

पुष्टिमार्ग का अनुसरण :

बीकानेर के प्रतापी शासक रायसिंह का बल्लभ सम्प्रदाय के प्रति विशेष झुकाव था। जिसकी पुष्टि राय सिंह (1571-1611 ई.)[21] द्वारा वल्लभाचार्य के वंशज, पंचमपीठ-पीठाधीश से वल्लभ वैष्णव[22] दीक्षा का प्रथम संदर्भ एवं 'नांव श्रवण'[23] अर्थात पुष्टि मार्ग की शरण मंत्रोपदेशक मंत्र दीक्षा प्राप्त कर गुरू दक्षिणा के रूप में रु. 300/- की आय का गाँव रैवासी भेंट करने से होती है।[24]

बीकानेर के राज प्रासाद के निर्माण के उपलक्ष्य में सन् 1594ई. की सूरज प्रोळ प्रशस्ति जूनागढ़ का प्रारम्भ श्रीकृष्नाय नमः अंकित होना वैष्णव सम्प्रदाय के प्रति शासकों की रूचि को प्रदर्शित करता है।[25]

महाराजा रायसिंह के भाई एवं अकबर के दरबारी पृथ्वीराज पीथळ भी गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के समकालीन एवं पुष्टिमार्ग के परम भगवदीय सेवक थे। उनकी गणना गुंसाई जी के परमप्रिय सेवकों में होने के कारण श्री गोकुलनाथ जी द्वारा गुंसाई जी के निज सेवकों के चरित्र चित्रण पर रचित दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता में वार्ता संख्या 241 में इसका वर्णन मिलता है।[26]

पृथ्वीराज ने अपने वल्लभ वैष्णव होने का परिचय प्रसिद्ध रचना **वेली कृष्ण रुकमणी** री के अतिरिक्त श्री विठ्ठलनाथ जी रा दूहा-12 (श्री गुरू प्रार्थना), वसदेवरावउतरा दूहा 185(श्री कृष्ण स्तुती), दशरथ रावउतरा दूहा 54 (श्री राम स्तुति), भागीरथी, जाह्नवी और मंदाकिनी रा दूहा 88 (श्री गंगा स्तुति) प्रेम दीपिका एवं श्याम लता नामक रचनाओं के द्वारा प्रस्तुत किया।[27]

बीकानेर की बहियों से भी पुष्टिमार्ग के प्रति आस्था प्रकट होती है। संवत् 1683 तदनुसार 1626 ई. की 'ठाकुरों रे पट्टों री बही' के प्रथम पृष्ठ पर श्री गोवरधन नाथ जी के लिखने से भी अप्रत्यक्ष ही सही पुष्टिमार्ग के प्रसार की पुष्टि होती है।[28]

बीकानेर के शासक गजसिंह (1745-1787 ई.) संवत् 1828, 1771 ई. में श्री नाथद्वारा में मेवाड़ के राणा अड़सी (अरिसिंह), जोधपुर महाराजा विजय सिंह एवं किशनगढ़ के महाराजा बादर सिंह (बहादुर सिंह) मुलाकात के लिये इकठ्ठा हुए।[29] कर्नल टॉड ने लिखा है कि गजसिंह ने नाथद्वारा में पुष्टि सम्प्रदाय के अन्नकूट उत्सव में भी भाग लिया।[30] तदुपरान्त

गजसिंह ने बल्लभ सम्प्रदाय के प्रति रूचि का प्रदर्शन करते हुए रू. चार हजार मन्दिर में दक्षिणा भेंट कर मन्दिर के ब्राह्मणों को दक्षिणा दी। वल्लभकुल गोस्वामी जी से भेंट कर धर्म शास्त्रों की चर्चा के दौरान महाप्रभु बल्लभाचार्य एवं गुसांई विठ्ठलनाथ जी की वंश परम्परा के प्रति अपनी उत्कंठा प्रकट की। पीठाधीश्वर ने अपनी वंश परम्परा के बारे में बीकानेर महाराजा को विस्तार से जानकारी प्रदान की। इस अवसर पर उन्हें चीण बांधी गई एवं सिरोपाव प्रदान किया गया।[31]

महाराजा गजसिंह ने तिलकायत श्री ब्रजभूषण लाल के संवत् 1833, 1776 ई. में देहावसान पश्चात उनके पौत्र; गोस्वामी ब्रजनाथ के पुत्र विट्ठल नाथ; के बैशाख सुदी छठ संवत् 1834, 1777 ई. में तिलकायत पद पर आसीन होने पर भाद्र कृष्णा दशमी संवत् 1835, 1778 ई. को भेंट करने वाले सर्वप्रथम राज्याधिपति थे। इस अवसर पर महाराजा गजसिंह ने कांकरोली आकर श्री द्वारकाधीश के दर्शन कर अपने कारिन्दे कमलनयन ओझा के हाथ श्री प्रभु के चरणों में भेंट धराई।[32]

भाद्रपद बदी तेरस संवत् 1839, 1782 ई. को गजसिंह ने अपनी तरफ से पवित्रा की भेंट कराई। इसी प्रकार बीकानेर नरेश ने श्री द्वारकाधीश जी को मार्गशीर्ष बदी ग्यारस संवत् 1841 1784 ई., भाद्रपद बदी बारस सं. 1843, 1786 ई. एवं अषाढ़ बदी छठ सं. 1844, 1787 ई. बुधवार को भी भेंट भिजवा कर पुष्टिमार्ग या बल्लभ सम्प्रदाय के प्रति अपने श्रद्धा भाव को प्रकट किया।[33]

मृत्यु स्मारकों में श्रीकृष्ण भक्ति :

बीका जी टेकरी पर स्थित बीकानेर राज्य के संस्थापक राव बीका के सन् 1504 ई.[34] से महाराजा अनूपसिंह के पुत्र आनन्दसिंह के सन् 1748 ई.[35] प्रभृति मृत्यु स्मारकों पर सती प्रथा के प्रचलन के कारण राव-राजा के साथ सती होने वाली पत्नियों, खवास या भोग्य पत्नियों एवं दासियों की प्रतिमाएँ उकेरे जाने की प्रथा का प्रचलन था, परन्तु कल्याण सागर (देवीकुण्ड सागर) के मृत्यु स्मारकों का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि सन् 1777 ई. के महाराजा गजसिंह के पुत्र भोपालसिंह की[36] स्मृति में निर्मित मृत्यु स्मारक पर लक्ष्मीनारायण प्रतिमा का अंकन एक नवीन प्रथा के प्रारम्भ की ओर संकेत करता है। सम्भव है कि महाराजा गजसिंह के शासन काल में सती प्रथा को हतोत्साहित कर दिया गया हो।

यद्यपि महाराजा गजसिंह का रूझान बल्लभ सम्प्रदाय की ओर जिससे प्रतीत होता है कि महाराजा गजसिंह ने वल्लभ वैष्णव होने के कारण दया भाव से ओतप्रोत हो कर सती प्रथा को हतोत्साहित किया और वैष्णव भक्ति को प्रोत्साहित किया।

सार संक्षेप :

अतः पूर्व गुप्तकाल से महाराजा गजसिंह के शासन काल तक बीकानेर में श्रीकृष्ण को आराध्य मानने वाले वैष्णव संप्रदाय का पर्याप्त प्रचलन था। सन् 240ई. के लगभग बीकानेर के उत्तर पूर्व की ओर विकसित रंगमहल में मिले गोवर्धनधारी एवं दानलीला के फलक को निश्चय ही पुष्टिमार्ग या बल्लभ सम्प्रदाय की श्रीकृष्ण की स्वरूप सेवा के आद्य प्रतिनिधि स्वरूप माना जा सकता है।

बीकानेर के लोक साहित्य में आश्रयदाता शासक को कृष्ण रूप में प्रदर्शित करना, महाराजा रायसिंह के प्रथम बल्लभ वैष्णव होने की अभूतपूर्व घटना एवं महाराज पृथ्वीराज द्वारा कृष्ण की अनन्य भक्ति से ओत प्रोत हो विभिन्न ग्रन्थों की रचना, पुष्टि सम्प्रदाय के गोस्वामी विठ्ठलनाथ शिष्य एवं गोस्वामी गोकुलनाथ द्वारा रचित दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता में स्थान प्राप्त करना भी बीकानेर क्षेत्र में कृष्ण के बल्लभ सम्प्रदाय के गहराई से स्थापित होने की ओर संकेत करता है।

महाराजा गजसिंह के शासन काल में बल्लभ सम्प्रदाय के प्रेम तत्व का महत्वपूर्ण पक्ष सती प्रथा के हतोत्साहित होने के रूप में सामने आया। अब राज परिवार की कतिपय स्मारकों को छोड़ अन्य छतरियों (मृत्यु स्मारक) पर सतियों के चित्र एवं नाम अंकन के स्थान पर लक्ष्मीनारायण के चित्रों का अंकन होने लगा।

अतः स्वयं सिद्ध है कि बीकानेर क्षेत्र में श्रीकृष्ण की भक्ति के साथ शनैः शनैः बल्लभ सम्प्रदाय का प्रचार प्रसार निरन्तरता के साथ चलता रहा।

सन्दर्भ ग्रन्थ :

1. हरमन गोइट्स आर्ट एण्ड आर्किटेक्चर ऑफ बीकानेर स्टेट, द गवर्नमेंट ऑफ बीकानेर स्टेट, 1950, पृ.17, डॉ. गौरी शंकर हीराचन्द ओझा, ओझा निबन्ध संग्रह, भाग-1, राज. विद्यापीठ, 1954, पृ.07. मुंहता नैणसी, मुंहता नैणसीरी ख्यात, भाग-3, सं. बदरीप्रसाद सांकरिया, राज. राज्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, 1964, पृ. 20

2. दयालदास सिंढ़ायच, दयालदास री ख्यात, भाग-2, सं. दशरथ शर्मा, अनूप संस्कृत पुस्तकालय, बीकानेर, 1948, पृ.07, ...अर संवत् 1545 सहर बसायो, नाम बीकानेर दरायौ।
3. डॉ. डी. बी. स्पूनर, एनुअल रिपोर्ट ऑफ द ऑर्कियोलोजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, कलकत्ता 1917-18, पृ. 22-23, रत्नचन्द्र अग्रवाल, राजस्थान में विष्णु पूजा, राजस्थान भारती, अगस्त 1955, भाग-4, अंक-4, श्री सादूल राजस्थानी रिसर्च इंस्टीट्यूट, बीकानेर, पृ. 11, हैना रिड, रंग महल, खनन कार्य विवरण-1952-54, सी.डब्ल्यू. के. ग्लीरअप पब्लिशर्स, लुंड, स्वीडन 1959,पृ. 17. आर्ट ट्रजर द जी. जी. टी. म्यूजियम बीकानेर, पुरातत्व एवं म्यूजियम विभाग, जयपुर पृ. 03 (रा. रा. अभिलेखागार, बीकानेर)
4. डॉ. डी.बी स्पूनर, उपर्युक्त, पृ. 22, प्लेट 13, चित्र-1, बीकानेर स्वर्ण जयन्ती ग्रन्थ(1887 से 1937ई.) बम्बई, 1937, पृष्ठ 78 गंगा रा. संग्रहालय बीकानेर। हरमन गोइट्स, उपर्युक्त, पृ. 15, 143, चित्र-5, रत्नचन्द्र अग्रवाल, उपर्युक्त, पृ. 11, हैना रिड, उपर्युक्त, पृ. 157, प्लेट-72, आर. सी. अग्रवाल, बीकानेर संग्रहालय की महत्त्वपूर्ण मृण्मूत्तियाँ, शोध पत्रिका, अंक-4, जून-1961, साहित्य संस्थान, राजस्थान विद्या पीठ, उदयपुर, पृ. 023. आर्ट ट्रजर द जी. जी. टी. म्यूजियम बीकानेर, उपर्युक्त,पृ. 52,53,72.
5. डॉ. डी.बी स्पूनर, उपर्युक्त, पृ. 22,23 प्लेट 13, चित्र-03, बीकानेर स्वर्ण जयन्ती ग्रन्थ(1887 से 1937ई.) उपर्युक्त, पृ.78, हरमन गोइट्स, उपर्युक्त, पृ. 15, 142, चित्र-3, आर्ट ट्रजर द जी. जी. टी. म्यूजियम बीकानेर, उपर्युक्त, पृ. 54,55,72.
6. विजय शंकर श्रीवास्तव, हिस्ट्री ऑफ म्यूजियम, प्रथम संस्करण, 1961, पृ. 24. रा. गंगा संग्रहालय, बीकानेर।
7. आर्ट ट्रजर द जी. जी. टी. म्यूजियम बीकानेर, उपर्युक्त, पृ. 38,39,72,
8. रत्नचन्द्र अग्रवाल, उपर्युक्त, पृ. 3,4,6 3. बीकानेर स्वर्ण जयन्ती ग्रन्थ(1887 से 1937ई.) बम्बई, 1937, पृष्ठ 78 गंगा रा. संग्रहालय बीकानेर।
9. दयालदास सिंढायच, सं. डॉ. दशरथ शर्मा, अनूप संस्कृत पुस्तकालय बीकानेर, पृ. 07; ...अर संवत् 1545 सहर बसायौ नाम बीकानेर दरायौ।
10. दयालदास सिंढायच, सं. डॉ. दशरथ शर्मा, अनूप संस्कृत पुस्तकालय बीकानेर, पृ. 21.
11. हरमन गोइट्स, आर्ट एण्ड आर्किटेक्चर ऑफ बीकानेर, गवर्नमण्ट ऑफ बीकानेर स्टेट, 1950, पृ.30, सिंढ़ायच, दयालदास, उपर्युक्त, पृ.1
12. सिंढ़ायच, दयालदास, उपर्युक्त, पृ.11..पीछे कंवर बीकौजी साथ कर सिंहाण जोइयै

किलक ऊपर गया, तद मिलक सन्मुख आप श्री बीकैजी रौ पायतामी हुवौ...परगने पूंगळरे मैं आंण फेर सेखै बरसलोतनू पायनामी कियौ।

13. एल. पी. टैसीटोरी, ए प्रोग्रेस रिपोर्ट ऑफ द वर्क इन ट्यूरिंग द ईयर 1916 इन कनेक्शन विद द बार्डिक एण्ड हिस्टोरिकल सर्वे ऑफ राजपूताना जर्नल एण्ड प्रोसिडिंग्स ऑफ एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल न्यू सीरिज, वोल्यूम 13, 1917, पृ. 198, 232, 234
14. हरमन गोइट्स, उपर्युक्त, पृ. 97, डॉ. गिरजाशंकर शर्मा, बीकानेर की चित्रांकन परम्परा, जवाहर कला केन्द्र, 2005, पृ.20
15. हरमन गोइट्स, उपर्युक्त, चित्र-91, पृ. 178
16. हरमन गोइट्स, उपर्युक्त, पृ. 97
17. हरमन गोइट्स, उपर्युक्त, पृ. 15,16, 93, 94, चित्र-54, पृ. 161
18. हरमन गोइट्स, उपर्युक्त, 1. चित्र संख्या 78, पृ. 171, चित्र-93, पृ. 179, 2. चित्र-93, पृ. 179, 3. चित्र-48, पृ. 158, प्लेट-6
19. रत्नचन्द्र अग्रवाल, उपर्युक्त, पृ.3
20. दयाल दास री ख्यात-द्वितीय खण्ड, पृ. 38, 42।
21. बीकानेर दुर्ग जूनागढ़ के सूरजपोल दरवाजे की बड़ी प्रशस्ति के अन्तिम भाग में लिखा है कि अथ संवत् 1650 वर्षे माघ मासे शुक्ल पक्षे षष्ठ्यां गुरौ रेवती नक्षत्रे साध्य नाम्नी योगे महाराजाधिराज महाराज श्री श्री श्री 2 रायसिंहेन दुर्गप्रतोली संपूर्णा कारिता डॉ. राजेन्द्र प्रसाद व्यास, रियासतकालीन बीकानेर के शिलालेख, प्रथम संस्करण, 2020, पृ. 33 से 37
22. ब्रजनाथ शर्मा, उपर्युक्त, पृ. 18
23. ब्रजनाथ शर्मा, उपर्युक्त, पृ. 23, प्रथम शरणोपदेश के अन्तर्गत वैष्णव के रूप में मान्यता प्रदान होती है। वैष्णव को, वल्लभाचार्य वंशज द्वारा श्रीकृष्ण शरणम् मम की नाम मंत्र दीक्षा एवं तुलसी माला प्रदान की जाती है।
24. सिंढ़ायच दयाल दास, ख्यात देशदर्पण, सं. जे. के. जैन, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर, 1989, पृ. 151
25. शोधार्थी का सामुख्य अध्ययन, डॉ. राजेन्द्र प्रसाद व्यास, रियासतकालीन बीकानेर के शिलालेख, 2020, प्रथम संस्करण, पृ. 33
26. गो. गोकुलनाथ, दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता, वार्ता सं. 241, सं. रामदास, गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास, श्रीवेकटेश्वर स्टीम प्रेस,सन् 1931 पृ. 483. श्री मोहन लाल पुरोहित, मोकाती पाड़ा, जैसलमेर का निजी पुस्तकालय, निरीक्षण भेंट दिनांक-9 मई 2019

27. मुंहता नैणसी, ख्यात-भाग 3, संपा. श्री बदरीप्रसाद साकरिया, राज. प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, प्रथम संस्करण, 1964 पृ. 206

28. पट्टा बही रिकार्ड, ठाकुरा रे पटो री बही संवत् 1683, पृ. 01, रा.राज्य अभि. बीकानेर।

29. मुंशी सोहन लाल, तवारीख राजश्री बीकानेर, 1841, पृ. 192,कविराज श्यामलदास, वीर विनोद, भाग-2, पृ. 507, भाग-3, पृ. 855, भाग-4, पृ. 1573

30. कर्नल जेम्स टॉड, अनल्स एण्ड एन्टीक्विटिज् ऑफ राजस्थान, लन्दन, 1829, पृ. 547 महाराजा गजसिंह के अन्नकूट में भाग लेने का उल्लेख अन्यत्र कहीं प्राप्त होता है।

31. दयालदास सिंढ़ायच, उपर्युक्त, पृ. 56,57, मुंशी सोहन लाल, उपर्युक्त, पृ. 192, 93. गजेटियर ऑफ द बीकानेर स्टेट सी. डब्ल्यू. पावेल, 1874 पृ. 62 (राज. राज्य अभिलेखागार, बीकानेर)

32. कण्ठमणी शास्त्री पो., कांकरोली का इतिहास, श्री विद्या विभाग, कांकरोली, प्रथम संस्करण,1939 पृ 214

33. कण्ठमणी शास्त्री पो., कांकरोली का इतिहास श्री विद्या विभाग, कांकरोली, प्रथम संस्करण,1939 पृ 220, 22

34. डॉ. राजेन्द्र प्रसाद व्यास, उपर्युक्त, पृ. 26

35. वही, पृ. 78

36. वही , पृ. 79

शिव कुमार व्यास
मुरलीधर व्यास, कॉलोनी
बीकानेर

❑❑❑

राजस्थानी साहित्य की अनमोल ऐतिहासिक धरोहर : कृषि कहावतें

डॉ. विष्णु प्रिया टेमानी

भाषा और साहित्य में सुन्दरता एवं सजीवता लाने के लिए कहावतों का प्रयोग युगों से होता आ रहा है। साहित्य को सारगर्भित बनाने के लिए कहावतें का प्रयोग किया जाता है। इन कहावतों की जननी मनुष्य जीवन के अनुभव है। जिस प्रकार वेद एवं पुराणों में महर्षि वेद मुनियों ने अपने कठिन तप एवं परिश्रम से मनुष्य मात्र के कल्याण के लिए मार्गदर्शक एवं ज्ञानवर्धक बातों का भंडार भरा है उसी प्रकार सामान्य मनुष्य द्वारा अपने ज्ञान एवं अनुभव के आधार सामान्य जनजीवन क्रियाकलाप में सहायता हेतु कहावतों का सूत्रपात किया गया। इसी संदर्भ में राजस्थानी कहावतें हमारी अमूल्य धरोहर है। राजस्थानी किसानों द्वारा रचित यह कहावतें जनजीवन के व्यवहार कुशलता की कुंजियाँ हैं।

यह कहावतें आज से सैकड़ों हजारों वर्षों के अनुभवों एवं शोध की पूंजी है तथा विज्ञान की कसौटी पर आज भी खरी उतरती हैं, भविष्य में होने वाली घटनाओं का पूर्वानुमान लगाना मनुष्य की वृत्ति है सामान्यता सांख्यिकी में आंकड़ों के आधार पर पूर्वानुमान लगाने की इस कला को *प्रायिकता* कहा जाता है इसी प्रकार राजस्थान में भी किसानों के द्वारा वर्षा के होने व न होने की *प्रायिकता* प्रकृति में होने वाले परिवर्तनों के आधार पर ज्ञात की जाती है —

अनोखी बात यह है कि राजस्थान में यह पूर्वानुमान, पूर्व कालीन किसानों के द्वारा कहावतों के रूप में पिरोया गया है ग्रामीण लोगों ने इन कहावतों में जो अनमोल ज्ञान भरा है वह प्राचीन पीढ़ियों के अनुभव का फल है आधुनिक वैज्ञानिक निरीक्षण पद्धतियों के सामने इन कहावतों की उपयोगिता कम नहीं है वास्तविक धरातल पर देखा जाए तो इन कहावतों के पूर्वानुमान सटीक प्रतीत होते हैं—

पश्चिमी राजस्थान एक मरुस्थलीय प्रदेश है राजस्थान का 60% भूभाग इसी के अंतर्गत आता है तथा यहां बहुत ही कम वर्षा होती है। किसान द्वारा यही प्रार्थना की जाती है की अकाल की स्थिति उत्पन्न ना हो। राजस्थान की भौगोलिक स्थिति की जानकारी निम्नांकित कहावत में दृष्टिगत होती है :

पग पुंगल धड़ कोटड़े, उदरज बीकानेर।
भूलो चूको जोधपुर, ठावो जैसलमेर।।

अकाल कहता है–मेरे पैर पुंगल इलाके (बीकानेर राज्य के पश्चिमी भाग) में, धड़ (जोधपुर राज्य के पश्चिमी भाग) कोटड़ा में और उदर बीकानेर में स्थायी रूप से है, कभी कभी भूला भटका जोधपुर भी पहुँच जाता हूँ परन्तु जैसलमेर में तो स्थायी रूप से निवास करता हूँ।

उपरोक्त कहावत वर्तमान परिपेक्ष में भी बिल्कुल सत्य प्रतीत होती है तथा राजस्थान के किसानों के समक्ष उत्पन्न विकट एवं प्रतिकूल भौगोलिक एवं प्राकृतिक वातावरण का भी आभास कराती है। यह कहावत तो सिर्फ एक नमूना मात्र ही है राजस्थान में मानसून के अनुमान हेतु बहुत-सी कहावतों का निर्माण किया गया है, जिसके अंतर्गत आकाश मंडल तथा वायुमंडल की व्यवस्थाओं, सौरमंडल की स्थिति, वायु की दिशा तथा पशु-पक्षियों के व्यवहार के आधार पर वर्षा का अनुमान लगाया जाता है।

इस शोध प्रपत्र में प्रस्तुत कहावतें राजस्थान के किसानों की अनेक वर्षों तथा वंश परंपरा से आए हुए अनुभवों का मनोरंजक परिणाम है राजस्थान के निवासियों की तो यह कहावतें अपनी निधि है समय और सभ्यता के साथ-साथ ही अमूल्य रत्न क्रमशः लुप्त हो रहे हैं हमने इसी निधि की रक्षा का थोड़ा-सा प्रयत्न किया है इन कहावत से राजस्थान प्रांत के किसानों तथा निवासियों के केवल अनुभवों का ही ज्ञान हमें नहीं होता बल्कि उनकी कालगणना तथा उस काल गणना का सूर्य चंद्रमा तथा ग्रह नक्षत्रों से वैज्ञानिक संबंध तथा उस समय में बिना किसी यंत्र उपकरण के समय का सटीक अनुमान तथा प्रकृति में होने वाले परिवर्तनों का पूर्वानुमान लगाने की योग्यता का भी पता चलता है। प्रस्तुत शोध पत्र में हम विभिन्न वर्षा के पूर्वानुमान से संबंधित कहावतों विवेचना करेंगे।

1. प्रथम चरण में आकाश मंडल की साधारण अवस्थाओं का वर्षा पर प्रभाव डालने वाली कहावतों का वर्णन निम्न प्रकार है :

सूरज तेज सु तेज, श्राड बोले अनयाली।
मही माट गल जाय, पवन फिर बैठे छाली।

कीड़ी मेले इंड, चिड़ी रेत में नाहवै।
काँसी कामन दौड़, आभो लील रंग लावे।।
डेडरो डहक बाड़ां चढ़, बिसहर चड बैठे बड़ां।
पांडिया जोतिस झूठा पड़े, घन बरसै इतरागुणां।

अर्थात सूर्य का प्रचण्ड तेज (धूप), बतक का चिल्लाना, घी का पिघलना, हवा की तरफ पीठ देकर बकरी का बैठना, चिटियों का अंडे लेकर चलना, चिड़ियों का धूल से नहाना, कांसे का रंग फीका पड़ जाना, आकाश का गहरा नीला हो जाना, मेढ़कों का बाड़ में घुस जाना और सांपों का वृक्षों पर चढ़ना, आगामी घनी जा पड़ेगा वर्षा के चिन्ह है चाहे ज्योतिषो को बात झूठी पड़ जाय, पर ये शकुन अटल है।

परभाते गेह डंबरा, दोफारां तर्पत।
रातू तारां निरमला, चेला करो गछंत।

अर्थात यदि प्रातःकाल में बादल दौड़ें, दोपहर को धूप तेज हो पीलापन और रात्रि को निर्मल आकाश में तारे दिखाई दें, तो, हे शिष्य! उस देश से अपना रास्ता लेना चाहिये (अर्थात् वहाँ अकाल पड़ेगा)।

आभा राता मेह माता, आभा पीला मेह सीला।

अर्थात यदि आकाश में ललाई दिखाई दे तो भारी वर्षा हो और पीलापन दिखाई दे तो वर्षा की कमी हो।

दुशमन की किरपा बुरी, भली सैन की त्रास।
आईंग कर गरमी करै, जद बरसन की आस।।

अर्थात शत्रु की कृपा की अपेक्षा मित्र की डाट डपट अच्छी है। जब कड़ाके की गरमी पड़ती है और पसीना नहीं सूखता तब वर्षा की आशा होती है।

अगस्त ऊगा मेह पूगा।

अर्थात अगस्त तारा उगने पर मेह का अन्त समझना चाहिये।

अगस्त ऊगा मेह न मंडे। जो मण्डे तो धारन खंडे।।

अर्थात अगस्त के उगने पर (प्रारंभ होने पर) प्रथम तो वर्षा होगी ही नहीं और हुई तो खूब मूसलाधार होगी।

सवार रो गाजियो।
(ने) सापुरस रो बोलियो, एल्यो नहीं जाय।।

अर्थात प्रातःकाल का गरजना और महात्मा की पाणी वृथा नहीं, जाती है।

गले अमल गुल री म्है गारी। रवि सिस रे दोली कुंडारी।।
सुरपत धनक करे विध सारी। (तो) एरापत मघवा असवारी।।

अर्थात यदि अफीम गलने लगे और गुड़ में पानी छूटने लगे। सूर्य और चन्द्रमा के चारों तरफ कुण्डल हो और इन्द्रधनुष पूरा दिखाई दे, तो इन्द्र एरावत हाथी की सवारी पर आएंगे यानी वर्षा खूब होगी।

पवन गिरी छूटे परवाई। ऊठे घटा छटा चढ़ आई।।
करे सरसाई। (तो) धर गिर छोलां इन्द्र धपाई।

अर्थात यदि पूर्व से हवा चले और बिजली को चमक से बाल चड़े तथा अन्न हरा होने लगे तो भूमि और पर्वत को वर्षा तर करे।

उपरोक्त कहावतें आकाश मंडल में होने वाले परिवर्तनों यथा वायु का तापमान, हवा की दिशा, बादलों की गर्जना एवं उनका, ग्रह नक्षत्रों की दशा के आधार पर वर्षा की संभावना को बताती है। इन कहावतों के आधार पर एक सामान्य व्यक्ति भी वायुमंडल में होने वाले परिवर्तनों के आधार पर वर्षा का पूर्वानुमान लगा सकता है।

1. इस शोधपत्र के दूसरे चरण में उन कहावतें का अध्ययन करेंगे जो विक्रम संवत के हिंदी महीनों में होने वाले मौसम परिवर्तन का वर्षा पर पड़ने वाले प्रभाव के बारे में विश्लेषण करती हैं :

चैत चिड़पड़ा। सावन निरमला।।

अर्थात यदि चैत में छोटी-छोटी चूदें गिरें तो सावण में वर्षा बिल्कुल नहीं होगी।

चैत मास नै पख अधियारा।
आठम चबदस दो दिन सारा।।

जिण दिस बादल जिण दिस मेह।
जिण दिस निरमल जिण दिस खेह।।

अर्थात चैत्र के कृष्ण पक्ष की अष्टमी और चतुर्दशी को दिन भर जिस दिशा से बादल आवे, उसी दिशा में वर्षा अच्छी होगी और जिस दिशा में बादल न हों, उस दिशा में धूल की वर्षा हो यानी वर्षा न होगी।

चैत महीने चीज लुकोचे। धुर वैशाख केसू धोये।

अर्थात यदि चैत्र भर बिजली न दिखाई दे तो वैशाख कि आरंभ में ही वर्षा होती है।

जेठा अन्त विगाडिया, पूनम ने पड़वा।

अर्थात् यदि जेठ की पूणिमा (पूर्णमासी) और आषाढ़ की प्रथमा (प्रतिपदा) को छीटें पढ़ें तो अपशकुन समझना

जेठ बीती पहली पड़वा जो अम्बर धरहते।
असाढ़ सावन काड कारो, भादखे विरखा कर।।

अर्थात आषाढ़ की प्रथमा को यदि बादल गर्जे या वर्षा हो, तो आषाढ़ और सावनमास सूखे जायेंगे और भादों में वर्षा होगी।

1. इस शोधपत्र के तृतीय एवं अंतिम चरण में त्योहारों पर नक्षत्रों की दशा का वर्षा पर प्रभाव बताने वाली कहावतों की विवेचना निम्नांकित है :

आखा रोहन पायरी, राखी सरवन न होय।
पोही मूल न होय तो, म्ही ठूलती जोय।।

अर्थात आखातीज (अक्षय तृतीया) पर रोहिणी नक्षत्र न हो, रक्षा बन्धन पर श्रवण नक्षत्र नहीं हो और पौष की पूर्णिमा पर मूल नक्षत्र न हों, तो संसार में विपत्ति आएगी।

स्वाते दीपक प्रजले, बिसाखा पूजे गाय।
लाख गयन्दा धड़ पड़े, या साख निरपफल जाय।

अर्थात यदि दिवाली स्वाति नक्षत्र में हो, और दूसरे दिन प्रातःकाल गौ पूजन के समय विशाखा नक्षत्र हो, तो खूब लड़ाई होगी (जिसमें लाखों हाथियों के शिर कटें या फसल अकार्थ जाय)

उपरोक्त अध्ययन से हमें ज्ञात होता है कि किस प्रकार राजस्थानी किसान हवा और अन्य प्राकृतिक लक्षणों से अपने भविष्य का पूर्वानुमान लगाने का प्रयत्न करने लगते हैं। इन्होंने अपने बहुत वर्षों के अनुभव से अपना ही के एक मौसम-विज्ञान (मिटूयोरोलोजीकल साइन्स) भी बना लिया है जो कई कहावतों और तुकबन्दियों में बहुत से ग्रामीण के लोगों के मुंह से सुनने को मिलता हैं।

राजस्थान की अर्थव्यवस्था एक कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था है राज्य का प्रमुख व्यवसाय कृषि है राजस्थान की लगभग 70% जनसंख्या कृषि एवं

पशुपालन से ही अपना जीविकोपार्जन करती है कृषि ना केवल ग्रामीण जनसंख्या की व्यवसाय एवं आय का आधार है बल्कि औद्योगिक कच्चे माल का स्रोत और राज्य की अर्थव्यवस्था की आधारशिला भी है राजस्थान में भारत के कुल कृषि क्षेत्रफल का लगभग 11% कृषि क्षेत्र पाया जाता है परंतु दूसरी और राजस्थान में देश के कुल जल का 1.16 प्रतिशत जल ही उपलब्ध है राजस्थान का 60% भूभाग मरुस्थलीय है अतः सिंचाई हेतु जल स्रोतों का अभाव है किसान सिंचाई हेतु मानसून पर ही निर्भर है यदि वर्षा अच्छी होती है तो फसल का उत्पादन भी अच्छा होगा परंतु यदि वर्षा नहीं होती तो अकाल की स्थिति उत्पन्न हो जाती है इसीलिए राजस्थान की कृषि मानसून का जुआ कहलाती है।

राजस्थान में वर्षा के दिनों की औसत संख्या वर्ष भर में 29 दिन ही है इस वर्षा काल में ही बंगाल की खाड़ी और अरब सागर के मानसून से ही राज्य में संपूर्ण वर्षा की मात्रा का 90% के लगभग प्राप्त हो जाता है राजस्थान में सामान्य वर्षा 57.51 सेंटीमीटर है यदि इतनी वर्षा सामान्य रूप से सभी जिलों में हो जाए तो वह कृषि उत्पादन के लिए पर्याप्त है परंतु व्यवहारिक रूप में ऐसा दृष्टिगत नहीं होता। इस स्थिति में इन कहावतों का महत्व बहुत अधिक प्रतीत होता है इन कहावतों के पूर्वानुमान 100% सत्य तो नहीं होंगे परंतु किसान को भविष्य में होने वाली संभावनाओं का पूर्वाभास जरूर देते रहेंगे। यह राजस्थानी कहावतें सदैव ही किसानों का मार्गदर्शन करती रहेंगी उनके जीवन का अभिन्न हिस्सा रहेंगी। राजस्थानी साहित्य के लिए यह कहावतें जनमानस द्वारा दिया गया अनमोल उपहार है।

डॉ. विष्णु प्रिया टेमानी
कानोड़िया महिला महाविद्यालय, जयपुर

❑❑❑

राजस्थान की विलुप्त होती वाचिक लोक परम्पराएं : ऐतिहासिक विवेचन

• डॉ. सुरेश सिंह राठौड़

हजारों वर्षों की साधना के उपरांत लोक की किसी स्वस्थ विधा यथा—किसी परम्परा, किसी लोकोक्ति, किसी लोकगीत या लोक कथा का सर्जन होता है। परन्तु निष्ठुर काल के प्रवाह को भी मात देकर सदियों-सदियों से लोकजन के कंठहार बने लोक साहित्य को अपनों द्वारा ही आधुनिकता के फेर में पड़कर, भविष्य से अनजान बनकर, पाश्चात्य संस्कृति का चोला पहनकर उसे काल कवलित कर देना हृदय में हूक पैदा करता है।

आधुनिकता के परिणामस्वरूप आज लोक साहित्य हाशिए के साहित्य में परिवर्तित हो गया है। आधुनिकता की चकाचौंध में फंसा आज का युवा लोक और लोक-साहित्य से कट-सा गया है। प्रस्तुत शोधालेख में लोक की विलुप्त होती वाचिक परम्पराएं यथा—लोक कथा, लोक गाथा, लोक गीत, लोक नाट्य, लोक गायिकी की चारबैत शैली, लोक ख्याल एवं लोकोक्तियों में निहित ज्ञान सम्पदा को अभिव्यक्त करते हुए यह बताने का प्रयास किया है कि हमारे पूर्वजों के जीवनानुभव, उनके जीवन संघर्ष की अनुभूतियाँ इस लोक साहित्य में समाहित हैं। ये अनुभवजन्य लोक साहित्य अनेक समस्याओं और जटिल प्रश्नों का समाधान प्रस्तुत करता है। विरासत में मिली इस प्राचीन लोक ज्ञान सम्पदा को संकलित, संरक्षित एवं सुरक्षित रखने के लिए सचेत और संकल्पित होना चाहिए।

आज की उपभोक्तावादी संस्कृति में लोक संस्कृति का ह्रास तीव्र गति से हो रहा है। उसे अपनी जड़ों से उखाड़ा जा रहा है। ऐसी स्थिति में लोक शैली की अस्मिता को कैसे और कब तक बचा पायेंगे, इस पर विचार होना चाहिए। उत्तर आधुनिकता, औद्योगीकरण, बाज़ारवाद, वैश्वीकरण तथा समूह संचार माध्यमों ने लोक साहित्य के स्वरूप और कथ्य में परिवर्तन किया है। पूंजीवाद की गिरफ़्त में आकर अब लोक साहित्य बाज़ार की वस्तु हो गई है।

लोक साहित्य अतीत से लेकर भविष्य तक सर्वत्र और सर्वदा व्याप्त विधा है। लोक साहित्य में लोक मानस की अभिव्यक्ति होती है। लोक मानस में नैतिक मूल्यों, रीति-रिवाजों, विश्वासों और धारणाओं के साथ-साथ साहित्यिक रूपों को भी अभिव्यक्ति मिलती है। इस प्रकार लोक साहित्य लोक जीवन की अभिव्यक्ति है। लोक साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह व्यवसाय प्रधान नहीं होता, परम्परागत मौखिक रूप से उपलब्ध होता है जिसे लोक मानस अपनी ही कृति स्वीकार करता है। लोक साहित्य या लोक संस्कृति व्यक्ति रचित न होकर लोक रचित होती है। यह अतीत का दस्तावेज़ भी है और भविष्य का दिशावाहक भी। लोक साहित्य लोक संस्कृति का निर्माण करता है। अत: लोक साहित्य में लोक संस्कृति का ज्ञान संचित रहता है। लोक साहित्य न समाप्त होने वाली अगाध यात्रा है क्योंकि यह पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरित होती रहती है।

लोक साहित्य की परम्पराओं के अध्ययन से एक ओर अतीत को समझने की दृष्टि मिलती है, तो दूसरी ओर वर्तमान परिदृश्य में उसकी आवश्यकता, अनुकूलता ही नहीं अपरिहार्यता का भी अनुभव होता है। यह लोक साहित्य आज के खंड-खंड होते जा रहे सामाजिक जीवन को लगाव-जुड़ाव की ओर ले जाने की पुनः ललक दे सकता है।

यह सर्व विदित है कि परम्परा और आधुनिकता दोनों एक दूसरे के विलोम और विपरीतार्थक शब्द हैं। आधुनिकता की ओट में आज का युवा अपने परंपरागत साहित्य एवं संस्कृति से विलग होता जा रहा है या यूँ कहा जा सकता है कि वह अपने लोक से कटता जा रहा है। जिसका सीधा अर्थ यह है कि वह अपनी परम्पराओं और जड़ों से कटता जा रहा है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि लोक साहित्य का लिखित रूप प्राप्त नहीं होता है। यह पीढ़ी दर पीढ़ी वाचिक परम्परा द्वारा ही जन तक पहुंचता है। लोक साहित्य अलिखित एवं तर्क से परे होता है। वाचिक शब्द का अर्थ है—वाणी सम्बन्धी, वाणी से किया हुआ, संकेत में कहा हुआ। अर्थात् मौखिक रूप से अभिव्यक्त हुई वाणी या बातचीत। वैसे तो लोक का मूल स्वरूप ही वाचिक परम्परा पर टिका हुआ है या यूँ कहा जा सकता है कि लोक की प्रमुख विशेषता ही उसका वाचिक होना ही है लोक की वाचिक परम्परा की एक ओर महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमें केवल भाषा ही नहीं होती, वक्ता का सम्पूर्ण व्यक्तित्व और उसके सामाजिक संसार के सारे हाव-भाव और संकेत भी इसमें समाहित होते हैं।

मौखिकी की परम्परा अनादि, अनंत और सतत चलने वाली प्रक्रिया है। अत: लोक साहित्य न समाप्त होने वाली अगाध यात्रा है। सम्पूर्ण लोक

साहित्य यथा—लोरियां, लोकगीत, दादी-नानी द्वारा कही जाने वाली कथाएँ, लोक कथाएँ, लोक नाट्यों के संवाद, कहावतें लोकोक्तियाँ आदि सभी का मूलाधार वाचिक परम्परा ही है।

यदि देश के परिदृश्य में राजस्थान के लोक की बात करें तो यहाँ का सांस्कृतिक वैभव बेजोड़ है। यहाँ के लोक साहित्य का क्षेत्र बहुत ही व्यापक और विस्तृत है। त्यागमयी ललनाओं, साहसी वीरो और गरिमामयी संस्कृति के इस प्रदेश का लौकिक साहित्य अनूठा है। इस मरु प्रदेश की लोक गाथाएँ, लोकगीत, लोकसंगीत, लोकनाट्य, लोक कला और जीवन शैली निराली और जीवंत है। राजस्थान के लोक साहित्य पर विचार करें तो ज्ञात होता है कि अनेक वाचिक परम्पराएँ विलुप्त होने के कगार पर हैं।

राजस्थान की प्रमुख वाचिक परम्परा में यहाँ के लोकगीतों का स्थान प्रमुख है। लोकमानस की सुखात्मक-दुखात्मक अनुभूतियों का नाम ही लोकगीत है। प्राचीन समय में मनुष्य के जन्म से मरण तक अर्थात् सोलह संस्कारों पर लोकगीत गाये जाते थे। संस्कार गीत, बन्ने, बन्नी एवं हरजस गाने वाली बूढी नानी-दादी, काकियां कहाँ बची हैं? ये भी इन वाचिक परम्पराओं के समान ही लुप्तप्राय हो गई हैं। प्राचीन काल में समधी जी को गालियाँ गायी जाती थीं, जिनमें प्रेम पूर्वक भोजन करने के निमंत्रण के साथ-साथ समधी और समधन से हास-परिहास होता था तो साथ ही समधी जी के सारे परिवार को आधार बनाकर उन्हें उलाहने भी दिए जाते थे परन्तु आज ये समधी गाने वाली नानी-दादियाँ लोक में कहीं भी नज़र नहीं आती हैं।

राजस्थानी लोक में त्योहारों का विशेष महत्त्व है। यहाँ ख़ुशी एवं त्योहार के अवसर पर पहले घर-घर में महिलाओं और ललनाओं द्वारा गोखे पर बैठकर कर्ण प्रिय लोक गीत गाये जाते थे और सुनते-सुनाते कंठगत हो जाते थे। सोलह संस्कारों पर हर घर में लोकगीत गाये जाते थे। प्राचीन समय में अवसरों पर गीतों का न गाया जाना अशुभ माना जाता था परंतु आज की भाग-दौड़ भरी जिंदगी में न तो त्योहारों का महत्त्व ही शेष रहा है और न ही प्रदूषित होते संस्कारों के कारण न तो ललनाएं ही घर से बाहर निकलती हैं और न ही उन्हें त्योहारों के गीत ही आते हैं। किसी भी मौखिक साहित्य का मूल तत्त्व शब्द, उसकी बनावट, उसकी संरचना तथा उसके अर्थ में होता है।

जैसे— उड़-उड़ रे म्हारा काला र कागला,
कद म्हारा पिव जी घर आवै
सोने की चोंच मंडाऊँ .....

यहाँ बताना चाहता हूँ कि बाज़ारवाद के बढ़ते प्रभाव के कारण लोकगीत पुनः जीवित तो हो रहा है परन्तु उसके प्राण तत्व खो गए हैं, अर्थ का अनर्थ होता जा रहा है। जैसे उक्त गाने में परन्तु काला और काळ। के दो अर्थ हैं -काला-काला रंग, नालायक, अव्यवाहारिक, बेईमान । परन्तु मूल लोकगीत में नायिका कवै के रंग के कारण उसे काला कहती हैं एवं लालच स्वरूप उसकी चोंच सोने से मंडवाने की बात करती है। अप्रत्यक्ष रूप से उसे उपहार देना चाहती है।

लोक साहित्य में प्रतिमान एवं बिम्ब भी लोक से ही ग्रहण किए जाते हैं। यहाँ नायिका कवै को शगुन कारक मानकर अपने दुःख का साथी बनाती है।

इसी प्रकार एक और उदाहरण देखिए—

सूती छी रंगमहल में, सूती ने आयो र जनजाळ,
सपना रे बैरी भंवर मिला दीज्यो।

साधारण-सा यह लोकगीत परन्तु शब्द गाम्भीर्य और अर्थ गाम्भीर्य इसमें विशिष्ट है।

प्रथमतः नायिका सामान्य नहीं है। वह विरह दग्द है। पल-पल अपने पति की बाट जोहती है, परन्तु प्रियतम विदेश में है, मिले तो कैसे? वह रनिवास में नहीं अपितु रंगमहल में सोई हुई है। रंगमहल से तात्पर्य आमोद प्रमोद की स्थली अर्थात् आंग्ल भाषा का बेड रूम। नायिका जंजाल (स्वप्न) देखती है, जंजाल से तात्पर्य अस्पष्ट दिखाई देना, विचित्र सी घटनाएँ, हो सकता है वहां नायिका को नायक भी विरह में दग्द दिखाई दे, प्रिय मिलन की उत्कंठा उधर भी हो? (नदी किनारे धुंवा उठत, मैं जानू कछु होय, जिसकी याद में मैं जलु, वो न जलता होय)

वह विरह दग्द नायिका जंजाल देखकर सपने को बैरी कहती है। सपन क्यों बैरी है ? क्योंकि नायिका को प्रिय वियोग के कारण नींद नहीं आती और जब नींद नहीं आती तो सपना कैसे आये और बिना सपने के प्रियतम दर्शन संभव नहीं। अतः नायिका सपने से कहती है कि मेरा प्रियतम तो विदेश में है प्रत्यक्ष रूप से तो आकर नहीं मिल सकते कम से कम सपने में तो उसके दर्शन हो जाए।

अतः कहा जा सकता है कि लोक साहित्य अपने अर्थगत स्वरूप को लेकर विशिष्ट होता है।

राजस्थान की वाचिक परम्परा में यहाँ की लोक कथाएँ भी अन्यत्तम स्थान की अधिकारी हैं। पहले गाँवों में चौपाल लगता था, लोग बैठते थे, कथाएँ सुनते-सुनाते थे। जो न केवल मनोरंजन करती थी अपितु बातों ही बातों में

उपदेश भी दिया करती थी साथ ही सामूहिकता की भावना का विकास भी करती थी। परंतु आज के इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के कारण न तो कथाएँ कही जाती है और न ही इन्हें सुनाने वाले बचे हैं।

राजस्थान की प्रमुख वाचिक परम्परा यहाँ की लोक गाथाएँ भी हैं, जो लोक का कंठाहार बनी हुई थी। बगड़ावत गाथा, निहालदे-सुलतान, पृथ्वीराज-सुरजां, जीणमाता, सत्यवादी राजा हरिश्चंद्र, राजा भरथरी, सत्यवान-सावित्री, राजा मोरध्वज, अमर सिंह राठौड़, वीर तीजाजी, रामदेव जी आदि के वीरता पूर्ण चरित द्वारा लोक का स्वस्थ मनोरंजन होता था। परन्तु लोक की यह वाचिक परम्परा आज लुप्त प्राय हो गई है। चिराग लेकर ढूँढने पर भी लोक गाथाओं के उस्ताद नहीं मिलते हैं।

चारबैत—चारबैत उर्दू की वह शायरी है जो समूह में गायी जाती है और जिसके हर बंद में चार मिसरे होते हैं। अर्थात् जिस प्रकार ग़ज़ल के प्रत्येक शे'र में दो मिसरे होते हैं उसी प्रकार चारबैत के हर बंद में चार मिसरे होते हैं। चारबैत शायरी क़व्वाली की तरह एक ख़ास अंदाज में गायी जाती है। उत्साह एवं जोशो ख़रोश इसकी गायकी की विशिष्टता है। शे'र के आधे हिस्से को पंक्ति या मिसरा कहा जाता तथा दो मिसरे मिलकर एक शे'र बनता है।

चारबैत शब्द के अर्थ को देखें तो ज्ञात होता है कि फ़ारसी भाषा में 'बैत' शब्द का अर्थ 'पंक्ति' होता है। इस प्रकार चारबैत का अर्थ है, चार पंक्तियों वाली कविता क्योंकि इसके हर बंद में चार मिसरे होते हैं और ये एक विशेष 'बहर' अर्थात एक धुन में लिखी जाती है। इसलिए इसे चारबैत के नाम से जाना जाता है। कुछ आलोचक इसे अफ़गानी लोक गीत भी मानते हैं। यह भी माना जाता है कि इस शैली का उद्भव अफगानिस्तान में हुआ था। चार बैत मूलतः पठान संस्कृति से जुड़ी गायन परंपरा है। फ़ारसी भाषा में चार पंक्ति के विशेष तुक युक्त छंद को बैत कहा जाता है। चार बैत के समुच्चय को चारबैत नाम से जाना जाता है।[1] पुरानी मान्यताओं के अनुसार यह गायन शैली करीब 1,500 साल पहले पश्तो और फारसी के माध्यम से अफगानिस्तान में शुरू हुई जहां युद्ध के दौरान एवं आराम के समय ये लोक गीत गाए जाते थे।

कुछ आलोचक चारबैत का अर्थ चार व्यक्तियों की परस्पर तकरार से भी लेते हैं क्योंकि चारबैत मुख्यतः चार व्यक्तियों की तकरार से ही आरंभ होती है। अर्थात गायक दो दल बनाकर सवाल-जबाब करते थे। चारबैत में जो शायरी गायी जाती है उसमें कविता को सवाई, दो बंदी, चौबंदी, पांच बंदी और छह

बंदी आदि कहते हैं। परंतु अधिकांश चारबैंतों में चौबंदी लिखी गयी है। सवाई चारबैंत में एक पूरी पंक्ति और दूसरी पंक्ति प्रथम की एक चौथाई होती है। दो बंदी में दो पंक्तियाँ तथा चौबंदी में चार पूरी-पूरी पंक्तियाँ होती हैं। पांच बंदी में पांचो पंक्तियाँ तथा छह बंदी में छहों पंक्तियाँ बराबर होती हैं।

कुछ आलोचकों का मानना है कि चारबैत सेना में जोश भरने का काम भी करती थी। इस कारण इसे फ़ौजी राग़ के नाम से भी जाना जाता है।[2]

राजस्थान के एक लोकनाट्य के रूप में भी इसे मान्यता प्राप्त है। राजस्थान का तुर्रा-कलंगी लोक नाट्य इससे बहुत कुछ साम्यता रखता है। उसमें भी दो दल एक, तुर्रा एवं दूसरा कलंगी शिव और शक्ति के प्रतीक के रूप में सवाल जवाब करते हैं।

चारबैत एक लोकनाट्य—भारत में चारबैत को विभिन्न नामों से जाना जाता है यथा पठानी लोक गीत, पठानी राग़, कबाइली राग, अखाड़ा, पार्टियाँ, पठानों का लोक गीत आदि। राजस्थान में चारबैत से मिलता-जुलता लोकनाट्य है—तुर्रा-कलंगी एवं हेला ख्याल। इन दोनों लोकनाट्यों में भी सवाल-जवाबी एवं हाज़िर जवाबी अनिवार्य शर्त है। तुर्रा-कलंगी तो हूबहू चारबैत से मिलता है।

वाद्ययंत्र—चारबैत में गायक एक विशेष प्रकार के वाद्य यंत्र का प्रयोग करते हैं जिसे ढप कहते हैं। ये ढप लकड़ी के फ्रेम के बने होते हैं तथा बकरे या हरिन की खाल से मढ़े होते हैं। अर्थात एक ओर इन पर ख़ाल चढ़ाई जाती है तो दूसरी ओर यह पूरा खाली होता है जिससे थाप ख़ाल पर पड़ने के कारण जोर की आवाज आती है।

मंच—चारबैत एक प्रकार से अखाड़ों में आयोजित की जाती है क्योंकि इसमें दो दल परस्पर सवाल-जवाब शैली में प्रतिस्पर्धा करते हैं इसलिए चारबैत का कार्यक्रम प्राय: बड़े मैदानों में आयोजित किया जाता है।

चारबैत के वर्ण्य विषय—चारबैत में हर प्रकार की शायरी गायी जाती है। जैसे नात, बारहमासा वर्णन, त्योहार, चौमासे, बारह मासे, आशिकाना, इश्क, जुदाई आदि। इस प्रकार चारबैत में ऋतु वर्णन होता है, बारह महीनों के तीज त्योहारों, ऋतु प्रकृति वर्णन, चौमासे के समय बारिश की फुहारों में भीगते तन-मन एवं आशिकों की दशा का वर्णन इसमें विशेष प्रकार से किया जाता है। साथ ही आशिकी की जुदाई और विरह को भी विशेष तरजीह दी जाती है। चारबैत की एक प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें सबसे पहले हम्द अर्थात् अल्लाह की शान में ख़ुदा की इबादत के लिए नात-ए-पाक का गायन किया जाता है जिसमें

खुदा के आशीर्वाद की कामना के साथ साथ सर्वे भवंतु सुखिनः की भावना निहित होती है और सबके मंगल की कामना की जाती है।[3] इसी प्रकार मुहम्मद, उमर मियां, टोंक ने श्रृंगार पर लिखा है।[4]

प्रेम और विरह मनुष्य के जीवन के अहम पहलू हैं। जो मिलता है वह बिछुड़ता भी है चाहे वह प्रेमी हो, प्रियतम हो या फिर पत्नी। टोंक के चार बैत शायर मुहम्मद उमर मियां ने बताया कि उनका प्रेम विवाह हुआ था और वे अपनी पत्नी को 'रफ्फो' कहकर बुलाते थे। पत्नी के निधन पर परिवार के सब लोग मातम मना रहे थे, उसी वक्त मुहम्मद उमर मियां उनकी जुदाई में चारबैत गा रहे थे[5]

साहित्य का मुख्य विषय मानव अध्ययन माना गया है परन्तु प्रकृति के साहचर्य बिना मनुष्य की चेष्टाओं और मनोदशाओं का वर्णन करना असंभव है। प्रकृति और मनुष्य का सम्बन्ध स्थायी होने के कारण मन की किसी भी दशा में प्रकृति उसे प्रभावित करती है। प्राकृतिक दृश्य संयोग-वियोग में आश्रय के हृदय में जगे हुए भावों को तीव्रतर कर देते हैं। यही कारण है कि काव्य में प्रकृति चित्रण हर काल में मिलता है। संस्कृत काव्य से लेकर आधुनिक काव्य तक में प्रकृति के दर्शन होते हैं। अतः प्रकृति के अभाव में किसी सुंदर काव्य की कल्पना कुछ अधूरी-सी ही प्रतीत होती है। चारबैत में बारहमासा का वर्णन परिलक्षित होता है। वर्षा ऋतु में जैसे ही पपीहा या मेढक बोलता है तो विरहणी हृदय में हुक-सी उठ जाती है[6]

वियोग की दशा में प्रकृति के समस्त उपकरण वियोग मग्न हृदय के ताप को बढ़ाने वाले होते हैं। नायिका का दिन रात -रो रोकर बुरा हाल है, वह अपने प्रिय से यही फ़रियाद करती है कि अब तो तुम आ जाओ तुम्हारे बिना ये बेरन रैन काटे नहीं कटती है[7]

लोकोक्ति :—लोक में प्रचलित उक्ति को लोकोक्ति कहा जाता है। लोक के अनुभवजन्य ज्ञान को लोकोक्ति अभिव्यक्त करती है। इसे इस प्रकार भी कहा जाता है कि लोकोक्ति लोक का अलिखित संविधान है। लोक जीवन की ज्ञान संपदा अगाध है। जीवन का कोई भी ऐसा क्षेत्र नहीं है, जहाँ व्यक्ति की दृष्टि न पहुंची हो। प्रकृति, पशु-पक्षी, धरती-आसमान आदि से सदैव निकटता रही है। लोकोक्तियाँ भी किसी एक क्षेत्र से सम्बंधित नहीं है मानव का सम्पूर्ण क्षेत्र इसमें समाहित है।

वस्तुतः कहावतों की विविध दृष्टियाँ होती हैं यथा —

प्रथम अर्थ पोषण की दृष्टि से—गाय न बाछी नींद आवे आच्छी। अर्थात् इस प्रकार की कहावतों में अर्थ को प्रधानता दी जाती है।

द्वितीय शिक्षण की दृष्टि—ऐसी कहावतों में कोई न कोई शिक्षा होती है। यह शिक्षा नीति या ज्ञान विषयक होती है।

तीसरी दृष्टि आलोचना विषयक होती है जिसमें वस्तु स्थिति की गंभीर एवं कटु आलोचना निहित होती है। साथ ही अनेक मानसिक तथ्यों को भी प्रकट करती है। जैसे गधे को घी पिलाये तो सोचता है, उसकी आंख फोड़ रहे हैं।

चौथी दृष्टि सूचना विषयक होती है। इनमें ऋतु, खेत, व्यवसाय, व्यवहार आदि के लिए उपयोगी बातें निहित होती हैं। जैसी बुध बावणी, बिस्पत लावणी।

इन कहावतों में जनमानस को प्रभावित करने की अद्भुत क्षमता है। यथा- स्वास्थ्य एवं भोजन से सम्बंधित, नीति एवं मानव से संबंधित, ऐतिहासिक, धन-माया से सम्बंधित, भाग्य एवं कर्मवाद से संबंधित व्यवसाय संबंधित सबका सुखद-दुखद विश्लेषण कर लोकोक्तियाँ प्रस्तुत की हैं उदाहरणार्थ।

पहलो सुख नीरोगी काया, दूजो सुख घर में माया।
तीजो सुख पतिवरता नारी, चौथो सुख पुतर आज्ञाकारी।।

लोकोक्तियों की उपयोगिता को इंगित करते हुए डॉ. सत्येन्द्र ने कहा है 'लोकोक्तियाँ मानवी ज्ञान का सार हैं। ये मर्म को स्पष्ट करती हैं और थोड़े में ही बहुत कुछ कह देने की सूत्र प्रणाली को साधारण लोक में बनाए हुए हैं। इनमें नीति तो होती ही है, ग्रामीण दर्शन भी होता है। ये गाँवों के ज्ञान कोश का भी काम करती हैं। पशुओं एवं कृषि से सम्बन्ध रखने वाली अनेकों प्रामाणिक रचनाएँ इनमें भरी पड़ी हैं। इस प्रकार कहावतों में हम लोक मानस के कितने ही पक्षों का साक्षात्कार कर सकते हैं। ये कहावतें लोक जीवन के यथार्थ पक्ष से निबद्ध होती हैं। अतएव इनकी उपयोगिता लोक व्यवहार में पद-पद पर दिखायी पड़ती है।'[8]

समीक्षकों का मानना है कि इन लोकोक्तियों में जीवन का समस्त विस्तार अंकित हुआ है। पशु-पक्षी, ग्राम-जनपदों के स्त्री-पुरुष और नगरों के राजा और मंत्री सबके लिए स्वागत का भाव है। वस्तुतः लोकोक्तियाँ सबको अपना मानकर जीवित रहती हैं। उनके लिए त्याज्य कुछ नहीं है। नगर, ग्राम, धनी और निर्धन के जो वर्ग हमने सब कल्पित कर लिये हैं और जिनके तापमान से साहित्य भी अछूता नहीं बचा है, उसके लिए लोक-साहित्य में और लोकोक्तियों में स्थान नहीं है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि लोक कथा की विषय व्यापकता अन्य साहित्यिक विधाओं से अपेक्षतया अधिक है।

लोकोक्तियाँ वस्तुतः लोक की काम चलाऊ अभिव्यक्तियाँ हैं। बहुत सीधे-सादे शब्दों में लघुत्तम रूप में अपने भावों को प्रकट करने की चेष्टा में व्यवहार दृष्टि से उपयोगी बनाने के लिए इनका जन्म हुआ होगा।

स्वास्थ्य का ध्यान रखते हुए जन सामान्य को सचेत करते हुए लोकोक्तियों में खाद्य-अखाद्य के बारे में बताया गया है कि कौनसे मौसम में कौनसी खाद्य सामग्री का सेवन करना चाहिए। चैत्र मास में गुड़, बैसाख में तेल, ज्येष्ठ मास में महुवा, आषाढ़ में बेर, सावन के महीने में हरी सब्जी, भादों में मठा, क्वार में करेला तथा कार्तिक महीने में दही नहीं खाना चाहिए।

जनसामान्य जानता है कि खाने की तासीर ठंडी और गर्म होती है परन्तु हम बिना जाने ही ठंडी तासीर की वस्तु के साथ गर्म तासीर की वस्तु का सेवन कर लेते हैं जिससे कफ़, पित्त एवं वात रोगों में वृद्धि हो जाती है। खाने में किन-किन वस्तुओं को साथ में नहीं खाना चाहिए। इस हेतु सावधानी के रूप में बताया है—

लोकोक्तियाँ एवं कहावतें देखने में छोटी लगे पर घाव करे गंभीर वाली कहावत को चरितार्थ करती हैं। कहावतों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि जन-जन के कंठ में समाहित हैं। ये तत्काल और सटीक प्रभाव डालती हैं। लोक के मध्य ये कहावतें लुप्त होती जा रही हैं। प्राचीन समय में बात-बात में कहावतें बोलकर एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति पर प्रभाव जमा लेता था। अब ऐसा नहीं है आज ये कहावतें किसी बुजर्ग व्यक्ति के कंठ का ही हार हो सकती है, युवा की नहीं।

राजस्थानी लोकोक्तियों में न केवल आयुर्वेद ही समाहित है अपितु समुद्र शास्त्र भी इसमें समाया हुआ है। प्राचीन समय में मौसम विज्ञान के अभाव में भी लोक जीव-जंतुओं एवं प्रकृति के आधार पर मौसम का सही आकलन कर लेते थे। यदि मटके में पानी गरम रहने लग जाए, चिड़िया मिट्टी में नहाने लग जाए, चींटियाँ अंडे लेकर बिल से निकलने लगे तो समझना चाहिए कि बरसात होने ही वाली है—

मटके में पाणी गरम, चिड़िया नहावै
चींटी लै अंडा चले, तौ वर्षा नहिं दूर

यह लोक ज्ञान की ही विशेषता थी कि तिथियों के आधार पर भी मौसम, प्रकृति के मिज़ाज एवं फ़सल की समृद्धता का पता लगा लिया करते थे।

चौदस पून्यू जेठ की बरखा बरसे जोय
चौमासो बरसे नहीं, नदियां में नीर न होय

ज्योतिषीय ज्ञान के आधार पर यदि चित्रा नक्षत्र में वर्षा होती है तो कोदो, तिली और कपास की फ़सल की उपज नहीं होती है और गेहूं, गन्ना और घास की उपज बहुत अच्छी होती है।

चित्रा बरसे तीन गए कोदो, तिली, कपास
चित्रा बरसे तीन भए गेहूं, शक्कर, घास

कार्तिक शुक्ल पक्ष की पंचमी तिथि को यदि बुधवार हो तो उस दिन बीस अंगुल वर्षा होती है।

पंचम कार्तिक शुक्ल की, जो बुधवार की होय
बीस बिसे वृष्टि परै बरसा झमाझम होय

इसी प्रकार—

चैत चमके बीजली बरखा सुदी बैसाख
जेठे सूरज जो तपै, निश्चै बरसा भाख
रोहणी बरसे भृगु तपै, कुछ-कुछ बरसा जाय
बहु कहे सब जनन से स्वान भात खाय

माघ मास में हिम पड़े, बिजली चमके जोय
जगत सुखी निश्चय रहे, वृष्टि घनेरी होय
कृष्ण अषाढ़ी प्रतिपदा, को अम्बर गरजंत
छतरी-छतरी जुझिया, निहचे काळ पड़न्त

लोक का पशु ज्ञान भी बहुत समृद्ध है। किसी भी पशु के लक्षण, उसकी कद-काठी एवं शरीर को देखकर उसके बारे में जान सकते हैं कि वह पशु शुभ या अशुभ, मेहनती है अथवा नहीं। जिस बैल की पूंछ लम्बी हो और कान छोटे हो तो समझना चाहिए वह बैल मेहनती है। यदि किसी बैल के सींग मुड़े हुए हों, सर उठा हुआ हो, मुंह गोल हो, रोम नरम हो, कान चंचल हो तो समझना चाहिए कि ऐसा बैल अनमोल है।

प्राचीन समय में घोड़ा सवारी एवं युद्ध में बहुतायत से प्रयुक्त होता था। युद्ध में भी उसी घोड़े को प्रयोग में लिया जाता था जो शुभ हो, और शुभ के लक्षण लोक ने अपने आधार पर निर्मित किए हैं–

मेंढा सिंगी कंठ मन जिस घोड़े के होय
अरजुन के रथ में जुटे, रोक सके न कोय
तीन पाँव एक रंग हो, एक पाँव एक रंग
घर आये सम्पति घटे, पिया पड़े परदेस

लोक साहित्य के समक्ष बहुत चुनौतियां हैं। जिन गाँवों ने इस अगाध परम्परा को जीवित रखा आज वहीं इस लोक का रस सूखने लगा है। व्यावसायिकता की प्रदूषित हवा ने लोक जीवन के सहज सौन्दर्य बोध को मुरझाने के लिए विवश कर दिया है। लोक गीतों पर फ़िल्मी राग-रंग चढ़ने लगा है। उत्तर आधुनिकता, औद्योगिकीकरण, वैश्वीकरण तथा समूह संचार माध्यमों ने लोक साहित्य का रूप भी बदला है और कथ्य पर भी प्रभाव छोड़ा है। पूंजीवाद की गिरफ़्त में आकर अब लोक साहित्य बाज़ार की वस्तु हो रहा है। उत्सव धर्मिता बढ़ तो रही है परन्तु व्यवसाय के रोप में। वर्जनाएं तो स्वीकार हो रही हैं, आस्था खंडित हो रही है। परम्परा जिस रूप में अपनी विरासत और धरोहर को आगे बढ़ा रही थी उसमें न केवल अवरोध आया है बल्कि उसे विकृत करके उसे बाज़ार का रूप देकर प्रस्तुत करने की साजिश भी रची जा रही है। क्योंकि किसी भी देश की पहचान उसकी संस्कृति होती है, उसकी परम्परा होती है। आज भारतीय समाज के सामने ऐसे बाज़ार हैं, जहाँ ख़रीदे गए चश्में से भारतीय परम्परा को जो देखते-दिखाते हैं, वह सहज रूप नहीं है। आज भी उस परम्परा का सहज रूप अत्यंत सरल, सरस, मधुर और अपनेपन की सुगंध से भरा है।

वाचिक परम्परा के लिए आज के युग की मांग है कि उसे लिखित और दृश्य-श्रव्य रूप भी प्रदान किया जाए। आज केवल संकलन, संग्रहण की ही नहीं, सुचारू क्रमबद्ध -अनुशीलन और इनके मर्म की आत्मीय व्याख्या और मूल्याङ्कन की भी आवश्यकता है।

कहने का तात्पर्य है कि हमारी जीवन संस्कृति से जुड़ी यह विविध वर्णी, बहुरंगी अनुभूत ज्ञान सम्पदा जीवन का अक्षय कोष है। अधिकांश सम्पदा ऐसी है जो शाश्वत और अक्षुण्ण है। आज की अंग्रेजी और विज्ञान शिक्षा से सम्पन्न नयी पीढ़ी अहंकारवश इसकी उपेक्षा करके अपना ही अनर्थ करके महत्वपूर्ण ज्ञान सम्पदा से दूर हो रही है, जो घातक है। विरासत में मिली इस पुरा लोक ज्ञान सम्पदा को संकलित, संरक्षित, सुरक्षित रखने के लिए सचेत और संकल्पित होना चाहिए।

लोक में व्यक्तित्व का विलय हो जाना ही लोक साहित्य की पहली शर्त है। आज लोक साहित्य को मुख्य धारा से विलग करके देखा जा रहा है। इसका मूल कारण यह है कि उसे वस्तु के रूप में देखने की हमारी दृष्टि प्रबल हो रही है। लोक को बाज़ार की वस्तु बनाने की कोशिश हो रही है, उसे उपभोक्ता संस्कृति का शिकार होने से बचाया जाना चाहिए। लोक साहित्य का मुख्य ध्येय लोक मंगल की भावना, परोपकार, त्याग, करुणा आदि है तो यह आवश्यक हो उठा है कि उसे मुख्य धारा में बनाए रखने की पहल की जाए। यदि लोक साहित्य बाज़ार की वस्तु बन जायेगी तो उसमें समाहित लोक मंगल भाव, आत्मीयता का भाव समाप्त हो जाएगा तो हम जमीन से उखड़ जायेंगे क्योंकि लोक साहित्य में हमारी परम्पराएं निवास करती हैं। एक प्रकार से लोक हमारा मौखिक संविधान है। यह आवश्यक हो उठा है कि उसे मुख्य धारा में बनाए रखने की पहल की जाए।

अत: निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि हमारी परम्परा लोक और शास्त्र दोनों में मौजूद है। लोक जितना शास्त्र से संचालित नहीं होता उससे कई गुना ज्यादा परंपरा से संचालित होता है, गतिशील होता है। जिसका मूल कारण लोक का परस्पर संवाद है। लोक के अनुभव में आयी हुई चीज आख्यान बन जाती है।

पाद टिप्पणी

1. डॉ. महेंद्र भानावत, भारतीय लोक नाट्य, वाणी प्रकाशन 1930, दिल्ली

2. मुहम्मद, उमर मियां का हस्तलिखित अप्रकाशित चारबैत संग्रह, टोंक
   हम वो जंगी हैं जिन्हें देखकर थर्राते थे।
   नाम सुनते ही उदु दिल में लरज जाते थे।
   एक इशारे पे खुदा की कसम लड़ जाते थे।
   रुकने वाले थे कहीं मीर खां तलवारों में।
   (कलाम–मुहम्मद, उमर मियां टोंक)

3. आओ आओ मेरे महबूबे ख़ुदा बिस्मिल्लाह।
   आफ़ताबे अरबीमाहे लकब बिस्मिल्लाह।
   ये इरादा है कि अब हम्द इलाही लिखूं।
   बाते सरदारे रसूल सुबहा मसाहिल लिखूं।

बाहर पर्दानशी बैठी है करके सिंगार।
हर घड़ी चिलमन उठाकर देखती है बार-बार।
आशिके नाशाद का करती है सीना फ़िगार।
(कलाम–मुहम्मद, उमर मियां, टोंक)

4. हेफ़ यह सद हेफ़ किस बेरहम पे दिल आया है।
(कलाम–मुहम्मद, उमर मियां, टोंक)

5. क्या कहू इस दिल की हालत में दिखा सकता नहीं।
गम जुदाई का तो रफ्फो अब सहा जाता नहीं।
बिन तेरे मुझ से तो रफ्फो अब रहा जाता नहीं।
मैंने तेरी याद में दुनियां से निसबत तोड़ दी।
(कलाम–मुहम्मद, उमर मियां, टोंक)

6. प्यारी प्यारी ये पपीहे की सदा कोयल की कूक।
सुनके दादर की सदा उठती है मेरे दिल में हूक।
उसपे तेरी याद करती है ज़िगर के टूक-टूक।
दिल को तड़पाती है मेरे घर अदा बरसात की।
(कलाम–मुहम्मद, उमर मियां, टोंक)

7. सेज पे तड़पूं अकेली मैं पीया की याद में।
तुम वहाँ पर शाद रहो और यहाँ नाशाद मैं।
रातों दिन रो-रो के करती हूँ यही फ़रियाद मैं।
रात अँधेरी कैसे काटूँ पी बिना बरसात की।
(कलाम–मुहम्मद, उमर मियां, टोंक)

8. डॉ. सत्येन्द्र, *लोक साहित्य विज्ञान*, राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर, द्वितीय संशोधित संस्करण 2007, पृष्ठ सं. 369

डॉ. सुरेश सिंह राठौड़
सहायक आचार्य, हिन्दी विभाग
राजस्थान केन्द्रीय विश्वविद्यालय
किशनगढ़ (अजमेर)

❑❑❑

प्राकृतिक संसाधनों का औपनिवेशीकरण और पर्यावरणीय इतिहास लेखन

• सोनू कुमार गुप्ता

भारत में राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक औपनिवेशीकरण के साथ-साथ प्राकृतिक संसाधनों का भी औपनिवेशीकरण हुआ। बीसवीं सदी के अंतिम दो दशक से भारत में प्राकृतिक संसाधनों के औपनिवेशीकरण को लेकर पर्यावरणीय इतिहासकारों द्वारा लेखन कार्य शुरू किया गया। आरम्भिक पर्यावरणीय इतिहासलेखन के अंतर्गत कुछ मुख्य बिन्दुओं पर ध्यान दिया गया। इनमें प्रमुख है—औपनिवेशिक काल के दौरान प्राकृतिक संसाधनों के औपनिवेशीकरण के लिए प्रयोग किए गए तरीके और रूपात्मकता क्या थी? प्राकृतिक संसाधनों के शोषण के लिए औपनिवेशिक शासन द्वारा अपनाए गये तरीके औपनिवेशिक-पूर्व शासनों से अलग कैसे थे? क्या ब्रिटिश साम्राज्यवाद की विजय औपनिवेशिक भारत के पर्यावरणीय तथा प्राकृतिक संसाधनों के शोषण के लिए एक नये दौर की शुरूआत थी या औपनिवेशिक-पूर्व शासनों के द्वारा किए जा रहे प्राकृतिक और पर्यावरणीय संसाधनों के शोषण की ही निरंतरता थी? पर्यावरणीय इतिहासकारों द्वारा इन प्रश्नों को वन नीति, नहर-सिंचाई, बांधों के प्रोजेक्ट, वन्य जीवों (मांसाहारी पशुओं के नियंत्रण और वन्य जीवों के संरक्षण) से संबंधित औपनिवेशिक नीतियों और प्राकृतिक संसाधनों को गैर-सार्वजनीकरण करने आदि विषयों के संदर्भ में उठाया गया है। यह लेख इन विभिन्न मुद्दों से संबंधित कार्यों की समीक्षा करता है।

औपनिवेशीकरण से तात्पर्य मूलत: कुछ लोगों द्वारा अन्य लोगों की भूमि तथा उनकी वस्तुओं अर्थात् संसाधनों को विजित कर अपने नियंत्रण में करना है।[1] 1757 के प्लासी युद्ध एवं 1764 के बक्सर युद्ध के बाद बंगाल ब्रिटिश कंपनी के संरक्षण में एक उपनिवेश बन गया था जिससे बंगाल में साम्राज्यवादी शासन आरम्भ हुआ। औपनिवेशीकरण में साम्राज्यवादी देशों द्वारा स्वयं के

पूंजीवादी हितों को साधने के लिए औपनिवेशिक देशों के प्राकृतिक संसाधनों का शोषण किया जाता है। इस शोषण के लिए पूंजीवादी व्यवस्था द्वारा पारम्परिक व्यवस्थाओं, संस्थाओं, अधिकारों, संस्कृतियों, मान्यताओं पर प्रहार कर पूंजीवादी हितों के अनुकूल नई व्यवस्थाओं, संस्थाओं एवं संस्कृतियों आदि को जन्म दिया गया। पूंजीवादी व्यवस्था की इस प्रवृति ने पहले स्वयं यूरोपीय साम्राज्यवादी देशों में जन्म लिया तथा बाद में यह उपनिवेशीय देशों में स्थानान्तरित हुआ। पूंजीवाद की इस प्रवृति का साम्राज्यवादी देशों के हाशिये के लोगों को भी नुकसान उठाना पड़ा[2], परन्तु उपनिवेशों में इसका प्रभाव अत्याधिक विध्वंशक एवं विनाशकारी हुआ। इसका मूल कारण यह था कि पूंजीवादी व्यवस्था के सभी हानिकारक प्रभाव उपनिवेश ने झेले, जबकि इसके लाभदायक परिणामों में उपनिवेशों की हिस्सेदारी नगण्य रही। सुमित सरकार के अनुसार ब्रिटिश लोगों या मजदूरों ने भी आधुनिकरण या मशीनीकरण की कीमत चुकाई परन्तु ब्रिटिश लोगों को इसकी क्षतिपूर्ति शीघ्र ही बड़ी सीमा तक उद्योगों और मशीनीकरण से उत्पन्न रोजगारों से हो गई थी। परन्तु भारत के कारीगरों को तो ऐसी औद्योगिक प्रगति की कीमत चुकानी पड़ रही थी जो भारत से छः हजार मील की दूरी पर हो रही थी।[3]

अल्फ्रेड क्रॉस्बी ने *'इकोलॉजिकल इम्पीरियलिज्म'* में उपनिवेशों पर पारिस्थितिकी साम्राज्यवाद के पड़ने वाले प्रभावों को बेहतरीन ढंग से प्रस्तुत किया है। क्रॉस्बी के अनुसार यूरोपीयन सेना की शक्ति के साथ आए बीजों, पशुओं और बीमारियों ने नयी दुनिया के पेड़-पौधों और मानव समाजों को बर्बाद कर दिया।[4] औपनिवेशिक वन नीतियों से संबंधित पर्यावरणीय इतिहासकारों ने औपनिवेशिक वन संरक्षण की नीतियों का दक्षिणी एशिया के वनों के नकारात्मक प्रभाव को पर्यावरणीय प्रणालियों के विध्वंश, स्थानीय समाजों के विस्थापन और राज्य द्वारा देशज लोगों के स्थानीय अधिकारों के किए गए विनियोजन और प्राकृतिक संसाधनों के दोहन किए जाने के रूप में दिखाया है।[5] वहीं विपुल सिंह ने गंगा जैसी बृहद नदी के दोहन को गैर-सार्वजनीकरण अथवा 'डिकॉमनाइजेशन' की प्रक्रिया के रूप में दर्शाया है।[6] माधव गाडगिल और रामचन्द्र गुहा ने अपनी पुस्तक *'दरकती जमीन'* में प्राचीन काल से आजादी के बाद के काल तक का पारिस्थितिकी इतिहास लिखा है। गाडगिल और गुहा के अनुसार औद्योगिक क्रांति से सम्पन्न यूरोपीय साम्राज्यवाद ने भारतीय इतिहास में सबसे अधिक प्राकृतिक संसाधनों का दोहन किया और प्राकृतिक संसाधनों के उपयोग और पुनरुत्पादन के प्राकृतिक चक्र को नष्ट कर दिया। गाडगिल और गुहा ने औपनिवेशिक काल की तुलना में

औपनिवेशिक-पूर्व काल को पारिस्थितिकी-सामंजस्य के लिए *'स्वर्णिम युग'* माना है।[7] हालांकि कुछ इतिहासकारों ने गाडगिल और गुहा की औपनिवेशिक-काल की *'पारिस्थितिकी सामंजस्य के स्वर्णिम युग'* की धारणा को खारिज कर दिया है। रिचार्ड ग्रोव ने *'पारिस्थितिकी सामंजस्य के स्वर्णिम युग'* की धारणा को मुख्य रूप से चुनौती देते हुए कहा है कि इन दोनों लेखकों ने भारत में अंग्रेजों की प्रांरभिक औपनिवेशिक वन नीतियों की अभिनव और जटिलताओं की अनदेखी की है। ग्रोव का मानना है कि आरम्भिक औपनिवेशिक काल की वन नीति को सिर्फ वनोन्मूलन के रूप में देखना उचित नहीं है। उन्होंने उत्तरवर्ती-मुगल राज्य व्यवस्थाओं एवं कम्पनी की वन नीतियों का परीक्षण करते हुए आरम्भिक औपनिवेशिक काल (उन्नीसवीं सदी के मध्य से पूर्व) की वन नीतियों को निरंतरता के रूप में देखने का प्रयास किया है।[8] ग्रोव कहते हैं कि कम्पनी शासन काल में वन नीति के तहत बोटानिकल गार्डन की स्थापना का आधार पश्चिमी या बाइबिल्कल (इडेन) के साथ-साथ उपनिवेशों के स्वदेशी और पूर्व-संरक्षित प्रथाएं जैसे भारतीय रजवाड़ों में स्थापित जंगल और वन्य जीवों के आरक्षित तरीके या शिकारगाह भी था। यदि हम तुलनात्मक अध्ययन करें तो कम्पनी शासन काल की पर्यावरणीय नीतियों के लिए बाहर से आयातित विचार की तुलना में स्वदेशी ज्ञान, प्रबंधन और वनसंवर्धन के तरीके अधिक महत्वपूर्ण थे। हालांकि कम्पनी का शासन खत्म होने के बाद इस समीकरण में बदलाव आया और बाहरी ज्ञान, खासतौर से जर्मनी वनसंवर्धन प्रबंधन का वर्चस्व औपनिवेशिक वन नीति पर हावी होने लगा।[9]

अनेक पर्यावरणीय इतिहासकारों द्वारा रिचर्ड ग्रोव के औपनिवेशिक पूर्व कालों में वनों के विनाश संबंधित सिद्धांत पर प्रश्न उठाया गया है। हालांकि ये पर्यावरणीय इतिहासकार भी पूर्व औपनिवेशिक काल को *'पारिस्थितिकी सामंजस्य का स्वर्णिम युग'* मानने के पक्ष में नहीं हैं। महेश रंगराजन कहते हैं कि पूर्व औपनिवेशिक काल में भी अनेक साक्ष्य मौजूद हैं कि शासकों ने प्राकृतिक पर्यावरण में हस्तक्षेप किया था, किन्तु मुगल और उत्तर मुगल काल में पर्यावास या आवास (habitate) के साथ सबंध-विच्छेद औपनिवेशिक काल के समान सुस्पष्ट नहीं था।[10] उनके अनुसार औपनिवेशिक दखल से पहले किसी शासक ने कम से कम मध्य प्रान्त के वन क्षेत्रों के दोहन की सतत नीति नहीं अपनाई थी। परन्तु नयी प्रकार की यातायात व्यवस्था, खासतौर से रेलवे और एक ऐसे नौकरशाही व्यवस्था के निर्माण के फलस्वरूप राज्य का वनों पर नियंत्रण हो गया था। इसलिए औपनिवेशिक काल इतिहास के एक विशेष चरण का प्रतिनिधित्व करता है।[11] वे कहते हैं कि नये औपनिवेशिक शासकों पर ब्रिटिश

कृषि-क्रांति का गहरा प्रभाव पड़ा था, और उनके पास संसाधनों के उपयोगकर्ता के अधिकारों की पदानुक्रम की देशीय या स्वदेशीय धारणा से अलग सम्पत्ति की धारणा थी। इसके कारण औपनिवेशिक शासन काल के दौरान भारत में समावेशी और समायोजित शासन प्रणाली से अलग एक नयी राजनीति-संरचना देखने को मिलती है। रंगराजन के अनुसार पूर्व औपनिवेशिक काल में आदिवासी और बंजारे सत्ता-संरचनाओं में बाहरी नहीं थे और उनकी स्वायत्तताओं को राज्य व्यवस्था के अंतर्गत विभिन्न प्रकृतियों में बनाये रखा गया था। परन्तु औपनिवेशिक शासन की परिवर्तित नई राजनीतिक प्रकृति ने ऐसे समूहों को सत्ता के हाशिये पर ढकेल दिया था। इसके अतिरिक्त इन्हें अपने ही मूल क्षेत्रों से विस्थापित होना पड़ा था।[12]

हाल के वर्षों में पर्यावरणीय इतिहासकारों ने प्रकृति के एक अन्य महत्वपूर्ण संसाधन, जल, के ऊपर सत्ता के द्वारा गहराते नियंत्रण का ध्यान आकर्षित किया है। इस संदर्भ में कई इतिहासकार औपनिवेशिक काल को एक नए मोड़ की तरह देखते हैं, जब आधुनिक नहर-सिंचाई व्यवस्था एवं नदी-क्षेत्रों में निजी सम्पत्ति के निर्माण जैसे बदलाव लाए गए। इसी संदर्भ में कुछ इतिहासकारों ने *'गैर-सार्वजनीकरण'* और निजी सम्पत्ति के निर्माण पर लेखन कार्य किया है। *'गैर-सार्वजनीकरण'* यानि *'डिकॉमनाइज्ड'* शब्द की उत्पत्ति *'कॉमनाइज्ड'* से हुई है जो एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके माध्यम से संसाधन संयुक्त रूप से प्रयोग किए जाने के लिए एक कॉमन संस्थान के अंतर्गत परिवर्तित हो जाते हैं। वहीं *डिकॉमनाइजेशन* एक ऐसी प्रक्रिया को संदर्भित करता है जिसके माध्यम से संसाधन संयुक्त रूप से कॉमन संस्थान के अंतर्गत उपयोग होने वाली अपनी आवश्यक विशेषताओं को खो देता है।[13] हालांकि नायक एवं बर्क्स इसे *'चिल्का लेक'* के आधुनिक संदर्भ में देखते हैं, परन्तु विपुल सिंह ने *स्पीकिंग रिवर* में उनकी इन शब्दावलियों को औपनिवेशिक शासन के दौरान लाए गए अधिनियम एवं कानून के परिपेक्ष्य में भी देखने की वकालत की हैं, जब प्राकृतिक संसाधनों के उपयोग करने के देशीय लोगों के परम्परागत अधिकारों में कमी आई और प्राकृतिक संसाधनों का एक तरह से गैर-सार्वजनीकरण किया गया।[14]

विपुल सिंह ने *स्पीकिंग रिवर* में औपनिवेशिक शासन द्वारा निर्मित सिंचाई-नहर और आधुनिक बांधों के निर्माण को नदियों के गैर-सार्वजनीकरण के रूप में देखा है। विपुल सिंह के अनुसार बांधों और नहरों का निर्माण औपनिवेशिक-पूर्व काल में भी था, परन्तु उनकी निर्माण प्रणाली मध्य-गंगा की

पारिस्थितिकी के अनुकूल थी। परम्परागत बांधों और नहरों के निर्माण नदियों के बहाव और जल-निकासी में अवरोधक नहीं होते थे। उल्टे वह बाढ़ के पानी और उसकी उर्वरक मिट्टी को खेतों में पहुंचाने का कार्य करते थे, जो खेतिहरों के लिए समृद्धि लेकर आती थी। इसके अलावा आम लोगों के दैनिक जीवन की पूर्ति और खेतों की सिंचाई भी आसानी से परम्परागत बांधों और नहरों के द्वारा हो जाती थी। इसके विपरीत, औपनिवेशिक शासन काल में औपनिवेशिक अधिकारियों द्वारा बाढ़ को एक समस्या एवं राजस्व के नुकसान पहुंचाने वाले कारक के रूप में देखा जाने लगा, इन समस्या के उपचार के लिए ऊंचे और पक्के आधुनिक बांधें और सिंचाई-नहरों के निर्माण पर बल दिया जाने लगा। परन्तु आधुनिक काल में बांधों के निर्माण में आए परिवर्तन, खासतौर से मजबूत और उच्चे बांधों के निर्माण से परम्परागत ज्ञान की क्षति हुई एवं स्थानीय लोगों के बीच में मानसिक और शारीरिक असुरक्षा बढ़ी। चूंकि आधुनिक बांधों, सिंचाई-नहरों और आधुनिक अधिनियमों के द्वारा नदियों के जल के प्रबंधन और उपयोग करने के अधिकार पर पूर्णरूप से औपनिवेशिक सरकार का नियंत्रण हो गया, परिणामस्वरूप आम लोगों द्वारा नदियों के जल के उपयोग के परम्परागत अधिकारों में कमी आयी।

डेबजॉनी भट्टाचार्या ने *'इम्पायर एण्ड इकोलॉजी इन द बंगाल डेल्टा'* में औपनिवेशिक काल में नदियों और उसके उत्पादों को देखने के नजरिये में आए बदलाव को दिखाने का प्रयास किया है।[15] उनके अनुसार पूर्व औपनिवेशिक काल में बंगाल के लोगों की कल्पना में नदियों को सार्वभौमिक रूप में देखा जाता था। अर्थात, नदियों की परिकल्पना में मछलियों, जानवरों, पेड़ों और तटवर्तीय चॉरभूमि आदि भी समाहित थी। उसके ऊपर का स्वामित्व अधिकार निजी न होकर सामाजिक और सांस्कृतिक होता था परन्तु, औपनिवेशिक काल में अधिकारियों द्वारा नदी की कल्पना में चॉरभूमि और जल को सार्वभौमिक रूप में न देख कर अलग-अलग सम्पत्ति के रूप में देखा जाने लगा था। बंगाल की औपनिवेशिक सरकार ने चॉरभूमि को निजी सम्पत्ति के रूप में विकसित कर रियल-स्टेट के व्यापार के तहत आर्थिक मुनाफा कमाने का प्रयास किया।

पूर्वी बंगाल (वर्तमान बंग्लादेश) के संदर्भ में इफ्तेखार इकबाल ने भी इस मुद्दे को उजागर किया है। उनका मानना है कि औपनिवेशिक नीतियों को सभी क्षेत्रों पर एक समान लागू किया जाना संभव नहीं था। और इस कारण औपनिवेशिक नीतियों का प्रभाव भी सभी क्षेत्रों पर एक समान नहीं पड़ा था।[16] इकबाल ने पूर्वी बंगाल के गंगा और बह्मपुत्रा नदियों के डेल्टा क्षेत्रों का अध्ययन

कर दिखाया है कि विशिष्ट कृषि-पारिस्थितिकी ने किसान का वैधानिक अधिकार और पहुंच इस डेल्टा क्षेत्र के संसाधनों पर सम्भव बनाया। परिणामस्वरूप बंगाल में विशिष्ट सामाजिक-संबंध का निर्माण हुआ। इकबाल के अनुसार स्थायी बंदोबस्त को पूर्वी बंगाल के डेल्टा क्षेत्र में उसकी गतिशील पारिस्थितिकी के कारण लागू नहीं किया जा सका था। इसलिए डेल्टा-क्षेत्र में राजस्व वसूली के लिए बिना किसी सर्वेक्षण के एक उदारवादी चलताऊ बंदोबस्त पूरे परिवारों के साथ किया गया था, जिसमें जमींदार अनुपस्थित थे। इसके साथ ही औपनिवेशिक सरकार डेल्टा की विशिष्ट पारिस्थितिकी के कारण कम किराया पर अनुबंध करने के लिए मजबूर थी। ऐसा इसलिए क्योंकि चॉर भूमि और सुंदर वन के जंगलों को कृषियोग्य भूमि तैयार करने के लिए भूमिहीनों के मन-मुताबिक अनुबंध नहीं होता था तो उनके पास अन्य जगह और अच्छा सौदा उपलब्ध होता था। इसके साथ ही कृषियोग्य जमीन तैयार करने वालों के पक्ष में फैरोजी आंदोलन ने भी इनके भूमि पर स्वामित्व अधिकार को मजबूत किया। इकबाल ने यह भी दिखाने का प्रयास किया है कि विशिष्ट कृषि-पारिस्थितिकी के साथ ही पूर्वी बंगाल की अच्छी गुणवता वाली भूमि, विभिन्न प्रकार के चावलों, जूट आदि की उत्पादन क्षमता, बाजार और नावों पर आधारित वाणिज्य, विशिष्ट जलवायु, प्रकृति के अनुकूल घरों का निर्माण, लोगों को प्राप्त उच्च मजदूरी दर, अच्छे पोषाहार एवं अच्छे स्वास्थ्य आदि ने पूर्वी बंगाल के लोगों को आर्थिक-सामाजिक समृद्धि प्रदान की। इकबाल कहते हैं कि यही वजह थी कि उन्नीसवीं सदी में पूर्वी बंगाल *'साम्राज्यिक प्रलय'* (अकालों) से अछूता रहा। वहीं आगे इकबाल इस प्रश्न को उठाते हैं कि पूर्वी बंगाल आर्थिक-सामाजिक समृद्धि के बाद भी किसान प्रतिरोध लहरों से क्यों नहीं बच पाया? इसका उत्तर भी उन्होंने पूर्वी बंगाल के कृषि-पारिस्थितिकी के परिवर्तन में खोजने का प्रयास किया है। इकबाल के अनुसार, उन्नीसवीं सदी के बाद मे पूर्वी बंगाल की विशिष्ट कृषि-पारिस्थितिकी में परिवर्तन होने के कारण ही आर्थिक-सामाजिक संबंधों में परिवर्तन हुआ। इकबाल दिखाते हैं कि बीसवीं सदी के आरम्भ तक सुंदर वन के जंगलों को समुद्र तक (नोआखली और बरीसाल) साफ किया जा चुका था। वहीं किसानों के जनसंख्या के दबाव के कारण अंत:स्थलीय क्षेत्र में भी मैमेनसिंह के जलोढ़ चॉर भूमि में खेती का विकास और लोगों की बसावट हो गई थी। भूमि के अत्याधिक उपयोग के कारण उसकी उर्वरता भी कम हो गई थी। इस परिपेक्ष्य में बीसवीं सदी के आर्थिक मंदी के बाद भद्रलोकों ने शहरों से वापस पलायन कर जब कृषि उत्पादन प्रक्रिया में प्रवेश किया तो न केवल एक जटिल सामाजिक-आर्थिक

संबंधों का निर्माण हुआ, बल्कि सामाजिक तनाव भी बढ़ा। इस प्रकार इकबाल ने कृषि आधारित सामाजिक-संबंध को बंगाल डेल्टा की विशिष्ट पारिस्थितिकी में होनेवाली बदलावों के संदर्भ में तलाशने की कोशिश की है।

औपनिवेशिक नीतियों के नकारात्मक और सकारात्मक दोनों प्रभावों का गहन आकलन नहर-सिंचाई के संदर्भ में भी देखने को मिलता है। एलिजाबेथ व्हिइटकॉम्ब ने अपने अध्ययन में नहर-सिंचाई व्यवस्था से संबंधित ब्रिटिश नीतियों के प्रभाव को नकारात्मक बताया है। व्हिइटकॉम्ब के अनुसार यद्यपि सिंचाई सुविधा के विस्तार से कपास, चीनी और गेहूं जैसे मूल्यवान व्यावसायिक फसलों के उत्पादनों में तीव्र वृद्धि हुई परन्तु ये लाभ उन सामाजिक और पारिस्थितिक विकृतियों के मूल्य पर किया गया था, जो नई सिंचाई-व्यवस्था से जन्मी थी। व्हिइटकॉम्ब के अनुसार औपनिवेशिक सरकार ने नहर व्यवस्था की सिंचाई का उपयोग व्यावसायिक फसलों के उत्पादन बढ़ाने के लिए किया, जिससे खाने के अनाजों के लिए कृषि की जमीन कम पड़ने लगी। इसके कारण जब अनावृष्टि एवं सूखे के समय में अनाज की कमी होती तो किसी भी प्रकार की खाद्य सुरक्षा नहीं होती थी। दूसरी तरफ, नहरों द्वारा सिंचाई व्यवस्था एवं जल की उपलब्धता ने गहन खेती को बढ़ावा दिया, जिसने धीरे-धीरे भूमि की उर्वरता को प्रभावित किया।[17] व्हिइटकॉम्ब ने नहर-सिंचाई का मूल्यांकन करते हुए कहा है कि नहरों के इतिहास को जल वाष्पीकरण एवं जल रिसाव से होने वाली हानि के रूप में देखना चाहिए। इसके साथ ही, इसके हानिकारक प्रभाव को निस्पदन, जल-भराव, जल-लवणता और मलेरिया आदि के रूप में भी देखा जा सकता है।[18] सुगाता बोस के अनुसार गंगा के पूर्व की ओर प्रसार की प्रवृत्ति के परिणास्वरूप पूर्वी बंगाल के ऊर्वर दोमट डेल्टा के निर्माण से एक तरफ तो जूट की फसल से कृषकों को अच्छी आमदनी हुई थी, परन्तु दूसरी तरफ गंगा के बाढ़ के मैदानी क्षेत्र में रेल की पटरियों एवं तटबंधें के निर्माण के परिणामस्वरूप पश्चिमी बंगाल में मलेरिया का प्रकोप बढ़ गया था।[19] एक अन्य इतिहासकार, इयान स्टोन, ने पश्चिमी उत्तर प्रदेश के दोआब क्षेत्रों में स्थापित नहर-सिंचाई व्यवस्था का अध्ययन किया है।[20] व्हिइटकॉम्ब के विपरीत स्टोन ने नहर-सिंचाई से होने वाले लाभ को रेखांकित करते हुए कहा है कि इससे होने वाली हानि के मुकाबले लाभ अधिक था। स्टोन के अनुसार नहर-सिंचाई व्यवस्था के कारण किसान न केवल नयी भूमि और अधिक प्रकार के फसलों को उगाने में समर्थ हुए, बल्कि मजदूरों की बचत ने परती भूमि पर कृषि करने के लिए भी प्रोत्साहित किया। कृषि के विस्तार के परिणामस्वरूप तुलनात्मक रूप से मजदूरों की मांग में बढ़ोत्तरी हुई, और साथ ही उनकी मजदूरी

में भी बढ़ोत्तरी हुई। दोहरी फसलों तथा फसलों की अधिक उपज के कारण प्रति व्यक्ति अधिक भोजन के साथ-साथ किसानों की समृद्धि भी संभव हो सकी। फसलों की उत्पादकता में बढ़ोत्तरी ने पशुपालन, चीनी मिलों के निर्माण, छोटे बाजार वाले शहरों के विस्तार और वाणिज्यीकरण को बढ़ावा दिया, जिसके परिणामस्वरूप गैर-सिंचित गांवों में भी सम्पन्नता आयी।

निष्कर्ष : इस प्रकार हम देखते हैं कि औपनिवेशिक नीति में प्राकृतिक संसाधनों का प्रबंधन नई नौकरशाही प्रणाली और सत्ता-संरचना पर आधारित था। इस नई व्यवस्था में प्राकृतिक संसाधनों का प्रबंधन यूरोपीय और देशीय ज्ञान पर आधरित था। हांलांकि जैसे-जैसे औपनिवेशिक सत्ता का विस्तार होता गया वैसे-वैसे औपनिवेशिक प्रबंधन का झुकाव यूरोपीय ज्ञान की तरफ होता गया। और अनेक मामलों में यूरोपीय प्रबंधन व्यवस्था को देशीय पारिस्थितिकी को समझे बिना ही लागू करने का प्रयास किया गया। जिसके परिणामस्वरूप देशीय लोगों के बीच अनेक नई समस्यायें उत्पन्न हुई और नई व्यवस्था ने प्राकृतिक संसाधनों में निजी सम्पत्ति का निर्माण कर जहां एक तरफ बिचौलिया वर्ग के प्रभाव को बढ़ाया, वहीं दूसरी तरफ देशीय लोगों का प्राकृतिक संसाधनों पर न केवल परम्परागत अधिकार खत्म किया बल्कि नई सत्ता संरचना में देशीय लोगों की भागीदारी भी खत्म की। हांलांकि कुछ क्षेत्रों में, जहॉ की स्थानीय पारिस्थितिकी और यूरोपीयन प्रबंधन व्यस्था में सामंजस्य था वहां सकारात्मक प्रभाव भी दिखाई दिए, जैसा कि इयान स्टोन ने अपने अध्ययन में दिखाया है।

सन्दर्भ

1. अनिया लूम्बा, *कॉलोनियलिज्म/पोस्टकॉलोनियलिज्म,* (लंदन: रूटलेज, 1988, 2000), पृष्ठ-2।
2. ई. पी. थॉम्पसन, *व्हींग्स एण्ड हंटर्स : द ऑरिजिन ऑफ द ब्लैक एक्ट,* (ब्रिस्टोल, ग्रेट ब्रिटेन: वेस्टर्न प्रटग प्रेस सर्विस लिमिटेड, 1975)।
3. सुमित सरकार, *आधुनिक भारत,* (दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, 2009), पृष्ठ-46।
4. अल्फ्रेड क्रॉस्बी, *इकोलॉजिकल इम्पीरियलिज्म: द बायलॉजिकल एक्सपेंसन ऑफ यूरोप, 900-1900,* (न्यूयॉर्क: कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, 1986)।
5. माधव गाडगिल और रामचन्द्र गुहा, *यह दरकती जमीन : भारत का पारिस्थितिकी इतिहास,* (दिल्ली: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2018);

विनिता दामोदरन, 'फेमिन इन अ फॉरेस्ट ट्रैक: इकोलॉजिकल चेंज एण्ड द कॉज ऑफ द 1897 फेमिन इन छोटा नागपुर, नादर्न इंडिया,' इन रिचर्ड ग्रोव, विनिता दामोदरन और सतपाल सांगवान (संपा.), नेचर एण्ड द ऑरियंट, (दिल्ली: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1998), पृष्ठ-853-890; महेश रंगराजन, फेसग द फॉरेस्ट: कन्जर्वेशन एण्ड इकोलॉजी चेंज इन इंडियाज सेंट्रल प्रोवसेज, 1860-1914, (दिल्ली: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1996)।

6. विपुल सिंह, *स्पीकिंग रिवर: एन्वायर्नमेंटल हिस्ट्री ऑफ मिड गंगा फ्लड कन्ट्री*, 1540-1585, (दिल्ली: प्राइमस, 2018); विपुल सिंह, गव नग फ्लूवियल कॉमन्स इन कॉलोनियल बिहार: अलुवियल एण्ड डिलुवियन रेग्यूलेशन एण्ड डिकॉमनाइजेशन, इन प्रदीप कुमार नायक, मेकग कॉमन डायनेमिक: अंडरस्टैंडग चेंज थ्रू कॉमनाइजेशन एण्ड डिकॉमनाइजेशन, (दिल्ली: रूटलेजड, फोर्थकमग, 2021).

7. माधव गाडगिल और रामचन्द्र गुहा, *यह दरकती जमीन*, पृष्ठ-105-108.

8. वंदना स्वामी, 'एन्वायर्नमेंटल हिस्ट्री एण्ड ब्रिटिश कॉलोनियलिज्म इन इंडिया: अ प्राइम पॉलिटिकल अजेंडा,' द न्यु सैंटैनीएल रिव्यु, 3(3),2003, पृष्ठ-116-117.

9. रिचर्ड ग्रोव, ग्रीन *इम्पेरिलिज्म: कॉलोनियल एक्सपेंसन, ट्रॉपिकल आइलैण्ड इडेंस, एण्ड द एरोजिन ऑफ एन्वायर्नमेंटलिज्म*, 1600-1800, (कैम्ब्रिज: कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस), 1995; रिचर्ड ग्रोव, 'इन्डिजनस नॉलेज्ड एण्ड द सिग्निफिकेंस ऑफ साउथ-वेस्ट इंडिया फॉर पोर्तुगिज एण्ड डच कन्स्ट्रक्शन ऑफ ट्रॉपिकल नेचर' इन रिचर्ड ग्रोव, विनिता दामोदरन और सतपाल सांगवान (संपा.), *नेचर एण्ड द ऑरियंट*, पृष्ठ-187-209.

10. महेश रंगराजन, 'एन्वायर्नमेंटल हिस्ट्रीज ऑफ साउथ एशिया: ए रिव्यु एस्सेज,' *एन्वायर्नमेंट एण्ड हिस्ट्री*, 2, 1996, पृष्ठ-131.

11. महेश रंगराजन, 'प्रोडक्शन, डेसिकेशन एण्ड फॉरेस्ट मैनेजमेंट इन द सेन्ट्रल प्रोविसेज 1850-1930' इन रिचर्ड ग्रोव, विनिता दामोदरन और सतपाल सांगवान (संपा.), *नेचर एण्ड द ऑरियंट*, पृष्ठ-588-589.

12. महेश रंगराजन, 'एन्वायर्नमेंटल हिस्ट्रीज ऑफ साउथ एशिया', पृष्ठ-131.

13. पी. के. नायक और एपफ. बेंकेस, 'कॉमनाइजेशन एण्ड डिकॉमनाइजेशन: अंडरस्टैंडिंग द प्रोसेस ऑफ चेंज इन चिल्का लैगुन, इंडिया.' *कन्जर्वेशन एण्ड सोसायटी*, 9, 2011, पृष्ठ-131-45.

14. विपुल सिंह, *स्पीकिंग रिवर.*, पृष्ठ-122-158.

15. डेबजॉनी भट्टाचार्या, *इम्पायर एण्ड इकोलॉजी इन कॉलोनियल बंगाल डेल्टा :*

द *मेकिंग ऑफ कलकत्ता,* (कैम्ब्रिज: कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस,2018), पृष्ठ-118-126.

16. इफ्तेखार इकबाल, द *बंगाल डेल्टा: इकोलॉजी, स्टेट एण्ड सोशल* चेंज, 1840-1943, (हम्पशीरे: पालग्राव मैकमिलन, 2010).

17. एलिजाबेथ व्हिइटकॉम्ब, *एग्रेरियन कंडीशंस इन नार्दर्न इंडिया: द यूनाइटेड प्रोवसेज अंडर ब्रिटिश रूल,* 1860-1900, (बर्कले: यूनिवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया, 1972).

18. एलिजाबेथ व्हिइटकॉम्ब, 'द एन्वायर्नमेंट कॉस्ट ऑफ इरिगेशन इन ब्रिटिश इंडिया: वॉटरलॉग्गिंग, सलिनटी एण्ड मलेरिया,' इन अर्नाल्ड डेविड और रामचन्द्र गुहा (संपा.), *नेचर, कल्चर, इम्पीरियलिज्म: ऐसे ऑन द एन्वायर्नमेंटल हिस्ट्री ऑफ साउथ एशिया,* (नई दिल्ली: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1995), पृष्ठ-237-259.

19. सुगाता बोस, *पेजेंट लेबर एण्ड कॉलोनियल कैपिटल: रूरल बंगाल सिन्स* 1770, (कैम्ब्रिज: कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, 1993)

20. इयान स्टोन, *कैनाल इरिगेशन इन ब्रिटिश इंडिया: पर्सपेक्टिव ऑन टेक्नॉलॉजिकल चेंज इन अ पिजेंट इकॉनोमी,* (कैम्ब्रिज: कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, 1985).

सोनू कुमार गुप्ता
शोध छात्र (पीएच.डी.)
इतिहास विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

❑❑❑

भाषा, संस्कृति एवं समाज का पैरोकार : हिन्दी सिनेमा

• डॉ. मीता शर्मा

भारत एक ऐसा अद्‌भुत बहुभाषिक, बहुजातीय एवं बहुधर्मी राष्ट्र है, जहाँ मिली-जुली 'सामासिक संस्कृति' ही भारत की आंतरिक शक्ति है और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की धारणा उसे विश्व में शिखर तक ले जाती है। अन्य कला माध्यमों की तरह सिनेमा भी भाषा, संस्कृति व समाज की अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम होता है। हिन्दी सिनेमा ने अपनी लंबी यात्रा में स्वतंत्रता संग्राम को देखा, देश के विभाजन से जुड़ी देश की आजादी देखी, नेहरू युग देखा, मोहभंग की स्थिति देखी, पड़ोसी देशों के साथ हुई तीन लड़ाइयाँ देखी, मण्डल कमीशन, युवा आक्रोश और वर्तमान में वैश्वीकरण का प्रभाव देखते हुए उत्तरआधुनिक समय को जी रहा है। भारतीय इतिहास की क्रमशः इन महत्त्वपूर्ण घटनाओं के साथ ही हिन्दी सिनेमा भारतीय समाज के विखण्डित, परिवर्तित और संक्रमित मूल्यों का भी प्रत्यक्षदर्शी रहा है। हिन्दी फिल्मों का आज तक का समय अपने आगोश में अनेक खट्टे-मीठे दृश्यों तथा व्यापक अनुभवों को समेटे हुए हैं।

हिन्दी फिल्मी जगत में समाज, उसकी संस्कृति और भाषा की प्रतिध्वनि होना स्वाभाविक है क्योंकि (रचना) फिल्म, फिल्मकार और दर्शक तीनों समाज में अवस्थित होते हैं। हिन्दी सिनेमा आरम्भ से ही एक सीमा तक भारतीय समाज का प्रतिबिम्ब रहा है, उससे भी आगे बढ़कर समाज की समीक्षा और उससे भी एक कदम आगे बढ़कर समाज के प्रति विद्रोह एवं प्रतिरोध के रूप में हमारे सामने आ रहा है।

यह सर्वविदित है कि संस्कृति सामाजिक होती है, व्यक्तिगत नहीं। आधुनिक गुण-धर्म, प्रथा, परम्परा, रीति रिवाज, कानून, साहित्य व भाषा इत्यादि से मिलकर संस्कृति बनती है। यह सीखा हुआ व्यवहार है जो अनेक पीढ़ियों तक हस्तान्तरित होता रहता है। संस्कृति निरन्तर संस्कारित होने में निहित है। यह एक ऐसा पर्यावरण है जिसमें रहकर व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी

बनता है तथा प्राकृतिक पर्यावरण को अपने अनुकूल बनाने की क्षमता अर्जित करता है। संस्कृति एक व्यवस्था है, जिसमें हम जीवन के प्रतिमानों, व्यवहार के तरीकों, परम्पराओं, विचारों, सामाजिक मूल्यों इत्यादि मानवीय क्रियाओं को शामिल करते हैं। संस्कृति का धर्म से भी घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। संस्कार संपन्न जीवन शैली संस्कृति होती है। ''धर्म कहता है, संध्या पूजन करना चाहिए, किंतु संध्या पूजन आदि कैसे किया जाना चाहिए, यह संस्कृति का अंग माना जाता है। संस्कृति का संबंध केवल संगीत से नहीं अपितु संपूर्ण ललित कला पंचमी से होता है। संगीत, चित्रकला (सूक्ष्म ललित कलाएं) तथा मूर्तिकला, स्थापत्य कला (स्थूल ललित कलाएं) से भी होता है। समस्त ऐतिहासिक दर्शनीय स्थल, मंदिरों में प्रतिष्ठापित मूर्तियां, अजंता, एलोरा एवं कोणार्क के आँचल में निर्मित अद्वितीय कलाकृतियाँ भी भारतीय संस्कृति की अभिन्न कीर्तिपताकाएं हैं।''[1] सिनेमा जगत में इस संस्कृति को संपूर्ण वैभव के साथ फिल्मों के माध्यम से देखा जा सकता है। फिल्मों में विद्यमान भजन, आरतियां, भारतीय रीति-रिवाज और रस्म अदायगी के विविध दृश्य, ईश्वर के प्रति आस्था, धार्मिक एवं ऐतिहासिक स्थलों के बिम्बों में भारतीय संस्कृति प्रतिध्वनित होती है। फिल्म 'कभी खुशी, कभी गम' में विदेश में रह रहा परिवार जब सुबह शाम तुलसी पूजा करता है और 'ओम् जय जगदीश' की आरती करता है तो दर्शकों का मंत्रमुग्ध होना स्वाभाविक है, यह हमारी संस्कृति की पहचान है।

प्रारम्भ में सिनेमा जगत मूक फिल्मों से संचालित रहा जिनका आधार धार्मिक कथाएं ही थी। आर्देशिर इरानी के निर्देशन में 14 मार्च 1931 को प्रदर्शित 'आलमआरा' भारत की पहली बोलती फिल्म थी। कुमारपुर के राजा की दो पत्नियाँ-नौबहार और दिलबहार पर आधारित है यह फिल्म दिलबहार के सौतिया डाह और बेवफाई को चित्रित करती है। यह फिल्म प्रेम के आगे कर्त्तव्य को महत्व देने का संदेश देती है।

सिने जगत में दादासाहब फाल्के और आर्देशिर इरानी जैसे ख्यातनाम पुरुषों ने जो रास्ता दिखाया उसका अनुसरण कई प्रतिभावान समर्पित निर्माता-निर्देशकों ने किया। महबूब खान, कृष्ण चोपड़ा, गुरुदत्त, विमल राय, राज कपूर, चेतन आनंद, कमाल अमरोही, ख्वाजा अहमद अब्बास, कृष्ण चौपड़ा, बी.आर. चौपड़ा, यश चौपड़ा, ऋषिकेश मुखर्जी एवं बासु भट्टाचार्य, गोविन्द निहलानी, केतन मेहता, प्रकाश मेहरा, अपर्णा सेन, कल्पना लाजिमी, प्रकाश झा, श्याम बेनेगल, मीरा नायर, तपन सिन्हा, सुधीर मिश्रा एवं राजकुमार हीरानी इत्यादि नाम उल्लेखनीय है। हिंदी सिनेमा के महान शो मैन राजकपूर विदेशों में

विशेष रूप से रूस में बेहद लोकप्रिय हुए। संजीव श्रीवास्तव का कथन है कि, ''राज कपूर की खासियत थी—विषय वस्तु की नवीनता, मधुर गीत-संगीत की प्रधानता, आम बोलचाल की संवाद-अदायगी और यथार्थ के साथ-साथ शारीरिक मांसलता की रूमानियत।[2]'' राज कपूर की सभी फिल्मों में यह सारे तत्व देखे जा सकते हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है, कि राज कपूर की फिल्मों—'आग', 'मेरा नाम जोकर', 'सत्यम शिवम सुंदरम्' के लिए विशेष बौद्धिक वर्ग के दर्शक की आवश्यकता थी। बहुसंख्यक पारंपरिक प्रेम कहानियाँ व गीत संगीत प्रेमी दर्शकों ने इस फिल्म को व्यापक तौर पर पसंद करने से इंकार कर दिया था। यहाँ यह भी विचारणीय है कि व्यावसायिक और कला फिल्मों के दर्शक भिन्न होते हैं यह स्वीकारना होगा कि ''फिल्म का विकास समाज की भौतिक जरूरतों से भले ही हुआ हो, लेकिन इन भौतिक जरूरतों का सांस्कृतिक आयाम भी होता है। संस्कृति का संबंध समाज से है। इस कारण फिल्म को सामाजिक उत्पाद कह सकते हैं इसके निर्माण, पुनर्निमाण, वितरण, रखरखाव में इस्तेमाल होने वाले कच्चे माल, तरह-तरह के उपकरण, कुशल तकनीशियन कलाकार आदि के संयोजन में अपार धन की जरूरत पड़ती है। जब यह सामाजिक उत्पाद तैयार हो जाता है, तब उसको दर्शकों तक पहुंचाने के लिए बाजार के विशाल तंत्र की जरूरत होती है।[3]''

इस प्रकार स्पष्ट है कि कोई भी फिल्म व्यावसायिकता की उपेक्षा कर नहीं बनाई जा सकती। लोकप्रिय या व्यावसायिक फिल्में और कला या समानान्तर फिल्मों में यही मूल अन्तर है। कला फिल्मों का स्वरूप व्यावसायिक मूल्यों से भिन्न मूल्यों पर आधारित होता है। मृणाल सेन और अरूण कौल ने फिल्म निर्माण में सामाजिक व मानवीय समस्याओं की उपेक्षा, कलात्मक सौंदर्य दृष्टि का अभाव, एवं फिल्म निर्माताओं की धन केन्द्रित दृष्टि की आलोचना करते हुए एक घोषणा पत्र प्रकाशित किया था। जिसका महत्वपूर्ण अंश है—'व्यावसायिक सिनेमा की कुत्सित रुचि के विरुद्ध नया सिनेमा एक बेहतर सिनेमा के लिए अनवरत और चेतनामुक्त आन्दोलन है। अनेक देशों में इसी तरह के आन्दोलन सामने आए हैं। हमारा विश्वास है कि इस आन्दोलन को पनपने के लिए सही जलवायु यहां मौजूद है।''[4] इस प्रकार स्पष्ट है कि समय और परिस्थिति की मांग के अनुरूप कला अपना स्वरूप व विषय बदलती हैं यह बात फिल्म कला पर भी अक्षरशः सिद्ध होती है। हिन्दी फिल्मों के इतिहास में समाज में होते हुए सांस्कृतिक परिवर्तनों को पकड़ा जा सकता है।

समाज के भीतर भाषा और संस्कृति दोनों परस्पर पुष्पित-पल्लवित रहती है। हमारे सम्पूर्ण बुद्धि-वैभव, कला, साहित्य, राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और

सांस्कृतिक सरोकार भाषा से ही निर्मित और लिपिबद्ध हुए हैं। कवि त्रिलोचन जब यह लिखते हैं कि 'भाषा की लहरों में/जीवन की हलचल है/ध्वनि में क्रिया भरी है और क्रिया में बल है/' तो इसका सीध सा अर्थ यह है कि भाषा सम्प्रेषण का निष्क्रिय साधन मात्र नहीं है बल्कि सक्रिय बोध है, मानवीय मूल्यों का, सामाजिक-यथार्थता का। इस रूप में भाषा संस्कृति की वाहिका है।

इस देश में लगभग 1692 मातृभाषाएं, 200 वर्गीकृत छोटी-बड़ी बोलियाँ और संविधान की अनुसूची में मान्यता प्राप्त 22 भाषाएं विद्यमान हैं। इनमें हिन्दी एक ऐसी राष्ट्र भाषा व सम्पर्क भाषा रही है जो समूचे राष्ट्र को एक सूत्र में आबद्ध करने की क्षमता रखती है। भारत की समस्त प्रादेशिक, भाषाएं यदि सुन्दर मनके हैं तो हिन्दी उन्हें एक माला में पिरोने वाला सूत्र है और यह वैश्विक मंच पर भारतीय संस्कृति की पैराकार भी है। इसके महत्व को ध्यान में रखते हुए ही इसे जनगण के मन की भाषा के रूप में गौरवान्वित किया गया। कवि सोम ठाकुर लिखते हैं—''करते हैं तन मन से वंदन/जन गण मन की अभिलाषा का/अभिनन्दन अपनी संस्कृति का/आराधन अपनी भाषा का।।''[5]

यह ध्यान देने योग्य है कि भाषा-प्रसार का प्रश्न उसके प्रयोक्ता समूह की संस्कृति और जातीय प्रश्नों को सदैव साथ लेकर चला करता है। जब हम सिनेमा को देखते हैं तो हिन्दी भाषा की प्रतिध्वनि और उसका प्रसार, कई रूपों में जैसे साहित्यिक कृतियों का फिल्मी रूपान्तरण, सांस्कृतिक और जातीय अस्मिता को दर्शाने और हिन्दी गीतों की लोकप्रियता के रूप में हमारे सामने आता है। हिन्दी भाषा की संचारात्मकता, शैली वैज्ञानिक अध्ययन, पटकथा लेखन, संवाद लेखन, दृश्यात्मकता, दृश्यभाषा, बिम्ब-धर्मिता, प्रतीकात्मकता और भाषा-दृश्य की आनुपातिकता इत्यादि मानकों को भारतीय सिनेमा ने गढ़ा है।

सबसे पहले बात करते हैं हिन्दी साहित्यिक कृतियों के फिल्मी रूपान्तरण की। जैसा कि पूर्व में उल्लेख है कि सन् 1931 में हिन्दी की पहली बोलती फिल्म आलमआरा प्रदर्शित हुई। इसके तीन साल बाद प्रेमचन्द के 'सेवासदन' उपन्यास पर फिल्म 'बाजार-ए-हुसन' नाम से रूपान्तरित होकर प्रदर्शित हुई। प्रेमचन्द के 'गोदान', 'गबन', 'शतरंज के खिलाड़ी', कृतियों का इसी नाम से फिल्मी रूपान्तरण हुआ। उनकी प्रसिद्ध कहानी 'दो बैलों की कथा, पर—'हीरा मोती' नामक फिल्म बनी। चतुरसेन शास्त्री के उपन्यास 'धर्मपुत्र' और 'वैशाली की नगरवधु', भगवतीचरण वर्मा के प्रसिद्ध उपन्यास 'चित्रलेखा', जैनेन्द्र का उपन्यास 'त्यागपत्र', धर्मवीर भारती का 'सूरज का सातवा घोड़ा', और राजेन्द्र यादव का सारा 'आकाश' इन्ही नामों से फिल्मी रूपान्तरण हुआ। विजयदान

देथा के उपन्यास 'दुविधा' का 'दुविधा' और 'पहेली', मन्नू भण्डारी का उपन्यास 'यही सच है' को 'रजनीगंधा' के नाम से; कमलेश्वर की कृति 'काली आंधी' गुलजार द्वारा 'आंधी' के नाम निर्देशित हुई। केशवप्रसाद मिश्र के उपन्यास 'कोहबर की शर्त' पर फिल्म 'हम आपके है कौन' बनाई गई। काशीनाथ सिंह के उपन्यास 'काशी का अस्सी' पर चन्द्र प्रकाश द्विवेदी के निर्देशन पर 'मोहल्ला अस्सी' फिल्म बनी। इस प्रकार साहित्यिक कृतियों के सिनेमाई रूपान्तरण के माध्यम से निरक्षर और गैर भाषायी लोग जो देश-विदेश में बसे हैं, उन तक भी हिन्दी भाषा एवं साहित्य की पहुंच हो जाती है। उनकी रागात्मक संवेदना जागती है और वे भारतीय संस्कृति की परम्पराओं एवं मूल्यों को आत्मसात् करते हैं।

यहाँ यह भी जानना जरूरी है कि साहित्यिक कृति के रूपान्तरण में—साहित्य और सिनेमा इन दोनों कला-रूपों में टकराव व सामंजस्य चलता रहता है—क्योंकि साहित्य और फिल्म निर्माण की अपनी-अपनी प्रक्रिया है, साहित्यकार और फिल्म-निर्देशक दोनों के अपने पाठक और दर्शक के आधार पर अपनी-अपनी सीमाएं भी है। साहित्य लेखक पर समय की पाबन्दी नहीं होती, उसकी सृजनात्मकता अनंत है लेकिन फिल्म निर्देशक पर समय की पाबंदी रहती है। गुलजार का कथन है, ''जनमानस में रचने, बसने और अपनी खुशबू बिखेरने में साहित्य को बहुत वक्त लगता है। उसकी पंखुड़ियों का सौंदर्य परत-दर-परत खुलता है। हर बार वह नई बात करता हुआ लगता है। इसके विपरीत सिनेमा में गति है। जो भी कुछ कहना है, तीन घंटे के अंदर कह देना है और वह एक साथ हमारे देश के लाखों करोड़ों दर्शकों तक पहुंचकर पसंद-नापसंद का फैसला कर डालता है।''[6] फिल्मकार साहित्यिक शब्दों का दृश्यगत रूपान्तरण करता है। पाठन से दृश्य स्मृति में अधिक स्थायी होते हैं, फिल्म की इसी ताकत के कारण साहित्य की शिक्षा और हिन्दी भाषा की समझ, प्रचार-प्रसार व विकास के लिए फिल्म को साहित्य में शामिल किया जाने लगा है। सही मायने में सिनेमा एक सशक्त चलचित्रित भाषा है।

गीत आसानी से हमारी स्मृति के अंग बन जाते हैं। इसलिए भाषाई-प्रचार-प्रसार का सहज माध्यम बनते हैं। हिन्दी फिल्मी गीतों में भी यह गुण विशेष तौर पर मौजूद है। इन गीतों के माध्यम से हिन्दी भाषा के शब्द भण्डार, आंचलिक व देशज शब्दों, कहावतों–मुहावरों के साथ-साथ भारतीय संस्कृति, रीति रिवाज, परम्पराओं, संस्कारों, प्रकृति, जनमानस की आशा-निराशा, हर्ष-विच्छेद के भावों को भी भारत से बाहर विदेशी मंच पर अभिव्यिक्ति मिली है। इन गीतों के माध्यम से हिन्दी भाषा दुनिया के विभिन्न भागों तक पहुंची है। राजकपूर की फिल्म श्री 420 का गाना—मेरा जूता है जापानी/है पतलून

इंगलिशतानी/सिर पर लाल टोपी रूसी/फिर भी दिल है हिन्दुस्तानी/को आज भी रूस में सभी लोग गुनगुनाते-नाचते देखे जा सकते हैं।

आज हिन्दी सिने गीत विदेश में रहने वाले मूल भारतीय प्रवासियों के जीने का आधार भी होते हैं। उन्हें संस्कारित भी करते हैं। जैसे—'चिठ्ठी आई है, वतन से चिट्ठी आई है/ हम बेवतनों को याद वतन की मिट्टी आई है/' 'घर आ जा परदेशी/तेरा देश बुलाएं रे/' और इसी तरह का एक गीत 'ये दुनिया एक दुल्हन /है दुल्हन के माथे की बिंदिया- यह मेरा इंडिया/' इन गानों को सुनकर उनका भारतीयपन, जातीय पहचान पुनः जीवित हो उठती है। और क्यों न हो? जिस हिन्दी भाषा परिवेश में उन्होनें जीवन अनुभवों को जीया है, समझा है और जिनके साथ बड़े हुए हैं सिनेमा के माध्यम से परदेश में वही सब कुछ देखना और सुनना उन्हें अपनेपन का अहसास कराता है। महत्वपूर्ण बात यह है कि सिनेमा उनके विचारों और भावनाओं का साधारणीकरण करके उन्हे अपनी गांव की ग्राम सभ्यता व मिट्टी की गंध से जोड़ देता है। परदेश/दिलवाले दुल्हिनियाँ ले जाऐगें/कभी खुशी कभी गम/चांदनी इत्यादि ऐसी ही फिल्में है, तो कुछ फिल्में जैसे- नमस्ते लंदन/ कभी अलविदा ना कहना, बागबान, परदेश/आ अब लौट चले, भूमण्डलीकरण के इस युग में प्रवासी भारतीयों में विघटित होते मूल्यों, विवाहेतर सम्बन्धों व टकराहट को सशक्त हिन्दी भाषा के माध्यम से अभिव्यक्ति दे रहा है और ऐसे कई उदाहरण दिए जा सकते हैं।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि हिन्दी सिनेमा हमें अपनी मूल्यधर्मी विरासत से जोड़े रखता है, सिनेमा हिन्दी भाषा सीखने का मनोरंजन, धर्मी सशक्त माध्यम है।

राष्ट्रधर्म और सांस्कृतिक चेतना का विकास बोलती फिल्मों का एक महत्वपूर्ण लक्ष्य रहा। 1931 में बनी पहली फिल्म और उसके बाद की तमाम अनगिनत/फिल्में जैसे **हम पंछी एक डाल के, दो बीघा जमीन, रोटी, मदर इंडिया, नया दौर** से आते आते 2006 में बनी फिल्म *रंग दे बसन्ती* तक जैसी कई फिल्मों के सफर में भारत की जातीय चेतना जीवन मूल्य, और संस्कृति की छवियां कालखण्ड अनुरूप प्रतिध्वनित होती दिखाई देती है।

भारतीय संस्कृति के मूल तत्व एवं 'अखंडता में एकता' और 'साम्प्रदायिक सौहार्द,' की अभिव्यक्ति सिनेजगत किस प्रकार करता है? इस सम्बन्ध में दिनकर के विचार उल्लेखनीय हैं। ''भारत की धार्मिक एवं प्रजातीय एकता की समस्या ऐसी नहीं है जिसका समाधान वीरता, जोश और निर्भयता से ढूंढ़ा जा सके। यह बड़ा ही नाजुक काम है। इसमें मौन हमारी जितनी सहायता करेगा,

उतनी मुखरता नहीं। हमें कदम-कदम पर समझौते और सामंजस्य की खोज करनी है। और यह काम आनन-फानन में नहीं होगा। पीढ़ी-दर-पीढ़ी हमें अभी बहुत दिनों तक शांति बरतनी है, सद्भाव दिखाना है, अमृत घोले जाना है, जिससे हिन्दू और मुसलमान पारस्परिक भिन्नता को भूलकर एक हो जाएँ।''[7]

दिनकर जी के इस वक्तव्य के आलोक में जब हम आजादी से पूर्व के सिनेमा की ओर लौटते हैं और समझने की कोशिश करते हैं तो यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस समय की फिल्मों ने स्वयं को समाज में हो रही सामाजिक-सांस्कृतिक क्रान्ति से जोड़ा। वास्तव में सिनेमा के निर्माताओं के द्वारा चयनित पात्रों और उनकी संवाद अदायगी हिन्दू-मुस्लिम सौहार्द को बढ़ाने वाली होती थी। उदाहरण के लिए सन् 1941 में शांताराम द्वारा निर्देशित पड़ोसी फिल्म में एक हिन्दू और एक मुसलमान पड़ोसी की गहरी मित्रता की कथा है। 'पड़ोसी' फिल्म में शांताराम ने यह ध्यान भी रखा कि हिन्दू पात्रों की भूमिकाएँ मुस्लिम अभिनेता और मुस्लिम पात्रों की भूमिकाएँ हिन्दू अभिनेता करें। हिन्दू पड़ोसी की भूमिका प्रसिद्ध अभिनेता मजहर ने की थी। पड़ोसी फिल्म को देखने के बाद हम यह कह सकते है कि तत्कालीन समाज को फिल्म यह संदेश देना चाहती है कि जाति व सम्प्रदाय की भावना देश के विकास में अत्यधिक बाधक हैं। ''आजादी के साथ ही भारत-पाकिस्तान पृथक-पृथक दो देशों के रूप में भारतीय जातीय-चेतना का विभाजन किया गया था। पूरा देश सांप्रदायिकता की आग में झुलस रहा था। उस समय सिनेमा ने भी सौहार्द का माहोल फिल्मों के माध्यम से प्रसारित किया। इनमें एकता व भाईचारे का संदेश मूल में था। यही वक्त था, 'जब हम एक हैं, जैसी फिल्में बनी। 'हमराही' में टैगोर के गीत जन गण मन को पिरोया गया और 'पड़ोसी' जैसी फिल्मों से देश की सांप्रदायिक ताकतों एवं षड्यंत्रों को आड़े-हाथों लिया गया तथा यह बताने का प्रयास किया गया कि पड़ोसी सिर्फ पड़ोसी होते हैं ना कि हिंदू या मुसलमान।[8] इससे यह प्रमाणित होता है कि समाज में प्रारम्भ से ही सिनेमा मनोरंजन के साथ-साथ संदेश प्रसारण का महत्वपूर्ण जरिया रहा है।

इसी तरह फिल्म चंडीदास में एक ब्राह्मण जब चमार बनता है और पूरे मनोयोग से बनता है तो हमारे जैसे अन्य लोग कहेंगे कि यह इस फिल्म की कमजोरी है। लेकिन सत्य यह है कि फिल्म बताना चाहती है कि हृदय के भाव से बड़ी जाति या धर्म नहीं है। विवेकानंद ने इस तरह की संकीर्णता पर बहुत कुछ बहुत पहले कहा था जब यह फिल्म बनी भी नहीं थी। दिनकर जी ने इस बात का जिक्र करते हुए लिखा है कि ''धर्म को स्वामी जी व्यक्ति और समाज

दोनों के लिए उपयोगी मानते थे। धर्म के विरुद्ध संसार में जो भयानक प्रतिक्रिया उठी है उसका निदान वे यह देते थे कि दोष धर्म का नहीं, धर्म के गलत प्रयोग का है, ठीक वैसे ही जैसे विज्ञान से उठने वाली भीषणताओं का दायित्व विज्ञान पर नहीं होकर उन लोगों पर है जो विज्ञान का गलत उपयोग करते हैं। स्वामीजी का विचार था कि धर्म को समाज पर जिस ढंग से लागू किया था उस ढंग से वह लागू किया भी नहीं गया है। जो देश और काल में कहीं भी सीमित या आबद्ध नहीं होगा, जो परमात्मा के समान ही अनंत और निर्बाध होगा तथा जिसके सूर्य का प्रकाश कृष्ण और ईसा के अनुयायियों पर एवं संतों और अपराधियों पर एक समान चमकेगा। यह धर्म न तो ब्राह्मण होगा, न बौद्ध, न ईसाई होगा न मुसलमानी प्रत्युत वह इन सबके योग और सामंजस्य से उत्पन्न होगा''[9] और यही हमारी सांस्कृतिक पहचान है।

वस्तुत: हिन्दी सिनेमा के इतिहास में 1952 में सम्पन्न प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय फिल्म समारोह ने भारतीय फिल्मकारों जैसे निर्देशको को अपने-अपने ढंग से सोचने के लिए प्रेरित किया था। सत्यजीत राय, विमलराय, राजकपूर जैसे निर्देशक एवं दर्शक गण अन्तर्राष्ट्रीय फिल्म समारोह में प्रदर्शित फिल्मों के नव यर्थाथवादी दृष्टिकोण से विशेष रूप से इटली की फिल्म 'बाइसिकल थीब्स' (1948) से अधिक प्रभावित हुए। इटली के नव यथार्थवाद के सम्बन्ध में मनमोहन चड्ढ़ा के शब्दों में कह सकते हैं इटली के इस नव यथार्थवादी आंदोलन की शुरुआत इतावली फिल्म आलोचक अंबर्टो बारबरों ने की थी। उनका कहना था कि सबसे पहले हमें अब तक बनाये गए सब आसान और पके पकाये फार्मूलों से मुक्त होना है। सीधे-सीधे अच्छे और बुरे की लड़ाई दिखाकर पूरी मनुष्य जाति के आधे हिस्से को महान तथा आधे को कुरुप में बदलने की मनोवृत्ति से छुटकारा पाना है। क्योंकि यह फार्मूला समस्याओं का विश्लेषण करने तथा उन्हें मानवीय दृष्टिकोण से. प्रस्तुत कर पाने से कतराता है। विशेषतया हमें इस विचार से मुक्ति पानी है कि पूरे इटली देश के सभी नगारिक एक महान विचार के आदर्शों का अनुपालन करते हुए अपना जीवनयापन करने के लिए कृतसंकल्प हैं।''[10]

इटली की 'बाइसिकल थीब्स' फिल्म ने सिने जगत के फिल्म निर्माण में कथ्य, संवेदना और रूप को अत्यधिक प्रभावित किया था। कहानी के नए फॉर्मुले का जन्म हुआ जिसमें यथार्थ को देखना सर्वोपरि था। सन् 1957 में निर्देशित राजकपूर की एक फिल्म 'जागते रहो' इसी प्रकृति की फिल्म थी। इसके बारे में मनमोहन चड्ढ़ा कहते हैं यह फिल्म भारत के नव यथार्थवादी फिल्म

आंदोलन की एक अत्यंत महत्वपूर्ण फिल्म है। इस फिल्म में राजकपूर मुख्य भूमिका में हैं। गाँव से शहर पहुँचकर एक सीधा-सादा देहाती काम की तलाश में भटक रहा है। उसे बहुत तेज प्यास लगी है। वह अपनी प्यास बुझाने के लिए एक बहुमंजिली इमारत के बाहर बने जल-स्रोत के पास पहुँचता है कि अचानक पुलिस वाला जोर से सीटी बजाकर, चोर-चोर चिल्लाने लगता है। वह देहाती घबरा कर सामने बनी, बंबइया चोलनुमा इमारत में घुस जाता है। इमारत में बहुत से किरायेदार एक कमरा-रसोई जैसे छोटे घरों में रहते हैं। इस देहाती की भटकन के बहाने शहरी मध्यम वर्गीय चरित्र की तहों में झाँकने का प्रयत्न किया गया है। इस तरह 'जागते रहो' हिन्दी सिनेमा की एक महत्वपूर्ण अतुलनीय उपलब्धि है।''[11] यह फिल्म बताती है कि हमारे नैतिक मूल्यों का आधार कितना बनावटी है। कथनी-करनी में अन्तर है। प्रह्लाद अग्रवाल ने लिखा है कि 'इसमें सफेदपोश सभ्यता की आड़ में पनपने वाली कालिख को उजागर किया गया है बहुत खूबसूरती से। अपने भीतर आदर्शवादी दृष्टिकोण सँजो रखने के बावजूद कहीं इसकी प्रतीति नहीं होती। आदर्श और यथार्थ एक-दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी न होकर पूरक बन जाते हैं।[12] इसी तरह आज के दौर की भी फिल्में जैसे 'लगान', 'रंगदे बसन्ती', 'मंगल पाण्डे' इत्यादि कई फिल्में हमें सोचने के लिए मजबूर करती हैं कि इस भूमंडलीकरण के दौर में राष्ट्रीयता और देशभक्ति के मायने क्या हैं, क्या हो सकते हैं और क्या होने चाहिए?

निष्कर्षत : भारत की राष्ट्रीय संस्कृति, सामाजिक परिवर्तन, राजनीतिक घटनाचक्र का पैरोकार बन कर हिंदी सिनेमा भारतीय राष्ट्र की मुख्य चिन्तनधारा का उद्घाटन करता हैं। अपने इन्हीं गुणों के चलते हिंदी सिनेमा सच्चे अर्थों में भारत के राष्ट्रीय सिनेमा से अभिहित किया जाता रहा है। पटकथा, संवाद, गीत-लेखन जैसी नयी विधाएं तथा हिन्दी भाषा में नए तरह के बिम्ब, प्रतीक, मितकथनों को ईजाद करने का श्रेय हिन्दी सिनेमा को दिया जा सकता है। भाषा के भीतर संस्कृति का प्रच्छन्न प्रवाह बना रहता है। हिंदुस्तानी समाज के विभिन्न मुद्दे राष्ट्रीयता, आतंकवाद, सामाजिक ढाँचा, पारिवारिक रिश्ते, कृषि किसान, औद्योगिकरण, बाजारवाद और भूमंडलीकरण, प्रवासी जीवन आदि हिन्दी फिल्मों में उठते रहे हैं। अपने कथानक की बनावट और भाषाई अभिव्यक्तियों में हिन्दी फिल्में इन मुद्दों के प्रति हमारा ध्यान आकर्षित करती रही हैं। हिन्दी सिनेमा ने हिन्दी भाषा के प्रचार-प्रसार के साथ हिन्दी भाषी समुदाय की चुनौतियों, संघर्ष-सपनों और चाहतों को भी विश्व फलक पर पहुँचाया है।

यह सत्य है कि हम जातीय गौरव को भूलकर देश का भला नहीं कर सकते, इस बात की चिन्ता आज के फिल्मकार को भी रहती है; और पहले भी

थी। वैश्वीकरण के युग में आज देश को खतरा उपभोक्तावादी संस्कृति से जहाँ बाजार केन्द्र में है; शेष सब परिधि में। अपसंस्कृति के कारण भारतीयता और जातीय चेतना कलंकित न हो-यह चुनौती आज के सिनेमा के समक्ष है।

संदर्भ

1. 'हिन्दी भाषा : स्वरूप, शिक्षण, वैश्विकता', संपा. (कमल किशोर गोयनका, महावीर सरन जैन व अवनिजेश अवस्थी : राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत, 2015, पृ. 72
2. संजीव श्रीवास्तव : *हिन्दी सिनेमा का इतिहास,* प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली, 2006, पृ. 51
3. विपुल कुमार, *साहित्य और सिनेमा : अन्तः संबंध* और रूपान्तरण, मनीष पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 2014, पृ. 24-25
4. अनुपम ओझा *भारतीय सिने सिद्धान्त* : राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2002, पृ. 67
5. 'गगनांचल', (सोम ठाकुर की कविता का अंश) संपा. अशोक चक्रधर : वर्ष 38, अंक-4-5, जुलाई-अक्टूबर 2015, पृ. 10
6. 'मीडिया विमर्श', संपा. डॉ. श्रीकान्त : सिनेमा विशेषांक-2, मार्च 2013, पृ. 59
7. रामधारीसिंह दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय, उदयांचल पटना, 1994, पृ. 711
8. संजीव श्रीवास्तव *हिन्दी सिनेमा का इतिहास,* पृ. 38
9. रामधारीसिंह दिनकर *संस्कृति के चार अध्याय,* पृ. 598
10. मनमोहन चड्ढ़ा : *हिन्दी सिनेमा का इतिहास,* सचिन प्रकाशन, दिल्ली, 1990 पृ. 300
11. उपर्युक्त, पृ. 311
12. मनमोहन चड्ढ़ा : *बाजार के बाजीगर,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 81

डॉ. मीता शर्मा
सह आचार्य, हिन्दी विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

❑❑❑

बंगाल में मजदूर आन्दोलन एवं उपन्यास लेखन—विवेचनात्मक अध्ययन

• डॉ. विष्णुदत्त जोशी

सार

तालाबंदी उपन्यास में औद्योगिकीकरण के फलस्वरूप उत्पन्न मालिक और मजदूर समस्या पर विचार करते हुए उसका व्यावहारिक समाधान प्रस्तुत किया गया है। इस उपन्यास में मिल मालिक श्याम बाबू कम्युनिस्ट ट्रेड यूनियनों की राजनीति को समझने के लिए मार्क्सवादी सिद्धान्तों का अध्ययन कर उसे व्यवहार में लाने का प्रयास करते हैं। इस प्रक्रिया में उनके मन में मजदूरों की समस्या के प्रति गहरी सहानुभूति उत्पन्न होती है। दूसरी ओर ट्रेड-यूनियन के कम्युनिस्ट नेता शेखर दा मालिक की व्यावसायिक विवशताओं को समझते हैं और थोड़ी-सी मजदूरी बढ़ाने के लिए फैक्ट्री को बंद करने का विरोध करते हैं। इस प्रकार तालाबंदी उपन्यास मालिक और मजदूर के मध्य हितों के टकराव के उपरांत भी उनके साझा हित हेतु उत्पादन को बंद नहीं करने का समर्थन करता है। तालाबंदी उपन्यास में मालिक मजदूर समस्या का व्यावहारिक मार्क्सवाद को अपनाकर और आपसी सामंजस्य द्वारा समाधान करने पर बल दिया गया है।

संकेताक्षर

मिल मालिक, मजदूर, उत्पादन, तालाबंदी, मार्क्सवाद, शोषक, शोषित, विशिष्ट वर्ग, आत्मबोध, संगठन, मजदूर यूनियन, सामूहिक हित आन्दोलन औद्योगिकीकरण, पूंजीवाद, मुनाफा, समाधान।

प्रस्तावना

बंगाल में आठवें-नवें दशक में मजदूर आन्दोलन को लेकर प्रचुर मात्रा

में साहित्य सृजन हुआ जिसमें साहित्यकारों ने मजदूर आन्दोलन में उपस्थित विभिन्न प्रवृत्तियों को रचनात्मकता रूप से सृजित करने का प्रयास किया। आन्दोलन में व्याप्त अन्तर्विरोधों को अपने लेखन में उजागर किया। इस कड़ी में प्रभा खेतान द्वारा रचित उपन्यास तालाबंदी को लिया जा सकता है। यह उपन्यास मार्क्सवादी आन्दोलन के समानान्तर बढ़ रही पूँजीवादी व्यवस्था की गहन पड़ताल करता है। उपन्यास की रचना आठवें दशक में बंगाल के औद्योगिकृत परिवेश में की गई है। यह ऐसा परिवेश है जिसमें मिल-मालिकों और मजदूरों के आर्थिक संघर्ष के कारण फैक्ट्रियाँ बंद हो रही हैं। इस उपन्यास में श्रमिक समस्या को विस्तार से समझाकर इसके समाधान के लिए व्यावहारिक मार्क्सवाद का मार्ग प्रशस्त किया गया है। प्रसंगवश मार्क्सवादी मजदूर राजनीति के दूसरे पक्ष पर भी प्रकाश डाला गया है जिसमें यूनियन नेता मात्र अपनी स्वार्थ सिद्धि करने के लिए मालिक और मजदूरों के मध्य खाई खोदते रहते हैं।

'तालाबंदी' उपन्यास में लेखिका अपने गंभीर आर्थिक चिंतन के माध्यम से स्पष्ट करती है कि भारतीय व्यापारी का माल विदेशों में अत्यंत कम मूल्य पर बिकता है जबकि देश में यह सामान्य धारणा रहती है कि भारत के व्यापारी बहुत मुनाफा कमाते हैं। उपन्यास के नायक श्यामबाबू कहते हैं, 'नहीं! मेरी बात सुनो! मैं इस गरीब देश की दस प्रतिशत जनसंख्या में हूँ लेकिन मैं एम्बेसडर और मारुति में चढ़ता हूँ; चार कमरे के फ्लैट में रहता हूँ.... क्या मैं जर्मनी के किसी फाइव-स्टार होटल में कभी रहा हूँ या मैंने कभी फर्स्ट क्लास में यात्रा की है? ऐसा क्यों है जोहान।[1]

तालाबंदी औद्योगिकीकरण के समय में मालिक-मजदूरों के मध्य बढ़ रहे अविश्वास और उसके परिणाम स्वरूप मजदूरों की दुर्दशा के कारणों की गंभीरता से पड़ताल करता है। मालिकों द्वारा मजदूरों की निरंतर बढ़ती माँगों को मानना असंभव हो जाता है। इस स्थिति में मालिक हताश और कुंठित हो जाता है। उसका व्यावसायिक घाटा बढ़ता जाता है। निराश होकर वह कहता है, 'रुपया रुपया, रुपया। हफ्ते के हफ्ते रुपया। वह भी लाखों में। कहाँ से लाऊँ में रुपया।[2]

फलस्वरूप मालिक अपनी व्यापारिक बुद्धि का प्रयोग करते हुए चलती हुई फैक्ट्री को बंद कर देता है तथा नई फैक्ट्री, नई जगह, नये नाम से शुरू कर लेता है लेकिन इस प्रक्रिया में मजदूर अपने को ठगा सा अनुभव करता है। मजदूरों की इस दुर्दशा के लिए उत्तरदायी स्वार्थी मजदूर नेता ही होते हैं। इस

प्रकार लेखिका ने यह भी बताने का प्रयास किया है कि ट्रेड यूनियनों का प्रयोग यूनियन नेता व्यक्तिगत स्वार्थ पूर्ति के लिए भी करते हैं।

लेखिका ने सच्चे मार्क्सवादी मजदूर नेताओं को भी अपने उपन्यास में चित्रित किया है। शेखर दा ऐसे ही सहृदय श्रमिक नेता हैं जो मालिक और मजदूर दोनों के हितों को अन्योन्याश्रित मानते हैं। वे किसी भी परिस्थिति में उत्पादन को रोकने के विरोधी है। लेखिका ने शेखर दा के माध्यम से यह स्थापना की है कि मालिक मजदूरों के वैचारिक आर्थिक हित टकराते रहेंगे लेकिन सामूहिक हित फैक्ट्रियों के निरन्तर चलने में ही है। इस विचार की पृष्ठभूमि में शेखर दा का कोई व्यक्तिगत स्वार्थ भी नहीं है। वस्तुतः प्रभा खेतान ने शेखर दा के रूप में आदर्श और व्यावहारिक श्रमिक नेता के व्यक्तित्व को गढ़ा है। ऐसे श्रमिक नेता ही मजदूरों के सच्चे हित चिंतक और उनकी समस्याओं के तार्किक समाधानकर्ता होते हैं। इतनी व्यावहारिकता के उपरांत भी उनके व्यक्तित्व का उल्लेखनीय पहलू यह है कि उनमें मार्क्सवादी विचारों एवं सिद्धांतों के प्रति किंचित् भी विचलन दृष्टिगत नहीं होता है। इसलिए उपन्यास के अन्त में वे कहते हैं, 'मैं लीडर नहीं रहूंगा' तो कोई और आएगा लेकिन समुद्री लहरों की तरह क्रान्ति की लहर अपने सारे उतार-चढ़ाव के बावजूद इतिहास की एक बेदाग सच्चाई है, इसे कोई नकार सकता है?[3]

एक ओर शेखर दा जैसे कर्मठ मजदूर नेता हैं जो मजदूर हित के लिए अपने जीवन को भी न्यौछावर करने के लिए तत्पर हैं, वहीं दूसरी ओर पीनू जैसे स्वार्थी मजदूर नेता अपने साथियों के साथ ही छल करते हैं और मार्क्सवादी श्रमिक आन्दोलन को मात्र अपनी प्रगति का साधन मानते हैं। उसका कथन है, 'यार विक्रम! तेरे से क्या छिपा है? यूनियन का सेक्रेटरी हूं ना? दोनों हाथ में लड्डू। ऑफिस से सीधे रॉयटर्स बिल्डिंग की हॉट-लाईन पर रहता हूं। बोल कोई काम है?'[4]

इसके अतिरिक्त इस उपन्यास में मजदूर यूनियनों की आंतरिक प्रतिस्पर्धा का भी वास्तविक वर्णन किया गया है। इस प्रतिस्पर्धा की प्रक्रिया में यूनियनों के महत्त्वाकांक्षी साधारण मजदूर स्वयं यूनियन नेता बनने के लिए घात-प्रतिघात करते हैं। इस अविश्वास की स्थिति का लाभ मालिक को मिले न मिले लेकिन एक साधारण श्रमिक की बहुत हानि होती है। सीटू श्रमिक संगठन का एक ऐसा ही मजदूर सुप्रिय डे है जो यह कहता है, 'अरे, शेखर मुखर्जी को मैं कॉलेज के दिनों से जानता हूँ। इस फैक्ट्री में तो पहले मैं ही सीटू प्रेसीडेन्ट होकर आया था पर बीच में यह (शेखर दा) टपक पड़ा।[5]

तालाबंदी उपन्यास में प्रभा खेतान श्रमिक समस्या का हल मार्क्सवाद के आधार पर करना चाहती है लेकिन उनकी मान्यता है कि मार्क्सवाद को गहराई से समझे बिना तथा उसके लचीले स्वरूप को अपनाये बिना श्रमिक समस्या का समाधान नहीं होगा वरन् यह अधिक विकट होगी। वस्तुतः मालिक मजदूर समस्या का समाधान ढूँढ़ने की प्रक्रिया में ही तालाबंदी उपन्यास के नायक श्याम बाबू मार्क्सवादी प्रोफेसर हरिनारायण चट्टोपाध्याय यानी मास्टरजी के पास मार्क्सवाद के सैद्धांतिक अध्ययन के लिए जाते हैं।

परिणामस्वरूप श्याम बाबू के मन में एक आत्मबोध उत्पन्न होता है। उन्हें दुख होता है कि वे जिस मालिक वर्ग से हैं उस वर्ग द्वारा मजदूरों का सदैव शोषण होता रहा है। इसलिए मजदूर वर्ग उन पर विश्वास नहीं कर पा रहा है। वे कहते हैं, 'यह तो अब समझ रहा हूँ ना कि मेरे अच्छे होने से तो कुछ नहीं हो जाता? मैं तो प्रतीक हूँ शेखर दा, एक विशिष्ट वर्ग का प्रतीक। मेरी चेतना जड़ है। मैं शोषक हूँ, आदमी का खून चूसने वाला।[6]

इस आत्मबोध से श्यामबाबू की अपने मजदूरों के कष्टों के प्रति सहानुभूति और तत्वजनित सदाशयता उत्पन्न होती है। यह प्रगतिशीलता परंपरा के विपरीत है और मालिक द्वारा मजदूरों के मन में विश्वास स्थापित करने का प्रयास है। दूसरी ओर ठेठ कम्युनिस्ट शेखर दा मात्र कम्युनिस्ट राजनीति को आगे बढ़ाने के लिए संघर्ष उत्पन्न करने का विरोध करते हैं। वे कम्युनिस्ट सिद्धान्तों को मानते हुए भी मजदूरों के जीवन-यापन को अधिक महत्त्व देते हैं। परिणामस्वरूप मालिक और मजदूर के मध्य वैचारिक जड़ता समाप्त होकर संवाद की स्थिति बनती है। शेखर दा के शब्द, 'वे मेरी जान लेना चाहें तो ले सकते हैं, मगर बदले में डेढ़ सौ चूल्हों की आग जलती रहे तो मेरा जीवन कृतार्थ है। मैं तब भी एक मार्क्सिस्ट ही रहूंगा।'

इस प्रकार तालाबंदी उपन्यास में प्रभा खेतान ने न केवल मालिक-मजदूर समस्या की गहनता से पड़ताल की है वरन् उसका व्यावहारिक समाधान भी प्रस्तुत किया है। व्यावहारिक समाधान यह है कि तालाबंदी मजदूर आन्दोलन में आए भटकाव को दर्शाता है। सीटू नेता शेखर एवं फैक्टरी मालिक के मध्य गुप्त समझौते के तौर पर फैक्टरी में तालाबंदी घोषित की जाती है। इस समझौते के अन्तर्गत रुपये का लेनदेन होता है जो मार्क्सवादी समर्थित सीटू आन्दोलन में आए भटकाव को दर्शाता है। एक प्रकार से श्याम बाबू द्वारा अपनी फैक्ट्री की तालाबंदी दूसरी यूनियन के मजदूरों के लिए थी जबकि वह दूसरे नाम से नई

फैक्ट्री में उत्पादन शुरू कर देता है। इसके पश्चात् विदेशी प्रतिनिधि से माल सप्लाई का वादा करता है। एक प्रकार से यह उपन्यास तत्कालीन समय का ऐतिहासिक दस्तावेज है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. प्रभा खेतान, तालाबंदी (उपन्यास) दिल्ली 1991, पृ. सं. 102
2. वही, पृ. 70
3. वही, पृ. 116
4. वही पृ. 36
5. वही पृ. 115
6. वही पृ. 99
7. वही पृ. 116

विष्णुदत जोशी
व्याख्याता (हिन्दी)
राजकीय बालिका उच्च माध्यमिक विद्यालय
बारह गुवाड़, बीकानेर

❑❑❑

शिक्षाशास्त्र विषय में उपलब्धि परीक्षण का निर्माण एवं मानकीकरण

डॉ. सुनीता सिंह • नितेश कुमार मौर्य

सारांश–विद्यालयों में छात्रों द्वारा अर्जित किये गए ज्ञान व कौशल की सीमा का निर्धारण करने के लिए प्रयुक्त परीक्षण को उपलब्धि परीक्षण कहतें है। प्रस्तुत शोध पत्र में शोधकर्ता ने वीर बहादुर सिंह पूर्वांचल विश्वविद्यालय, जौनपुर, उत्तर प्रदेश के स्नातक स्तर (बी.ए.भाग-दो) के शिक्षाशास्त्र विषय से सम्बन्धित मानकीकृत उपलब्धि परीक्षण का निर्माण किया। उपलब्धि परीक्षण के प्रथम प्रारूप में 126 बहुविकल्पीय पदों का निर्माण किया गया, जिसे विशेषज्ञों की सलाह, पद विश्लेषण व पदों का कठिनाई स्तर के आधार पर अवांछित प्रश्नों को हटाकर कुल 61 प्रश्नों को अंतिम प्रारूप में रखा गया। परीक्षण की विश्वसनीयता ज्ञात करने के लिए 'क्रानबैक विश्वसनीयता विधि' व 'कूडर रिचर्डसन विधि' का प्रयोग किया गया। दोनों ही विधियों से परीक्षण की विश्वसनीयता मान 0.946 पाया गया। परीक्षण की वैधता 'विषयवस्तु वैधता विधि' से ज्ञात की गयी तथा विषय विशेषज्ञों की प्रतिक्रियाओं के आधार पर वैधता संतोषजनक पायी गयी। इस प्रकार शिक्षाशास्त्र विषय में निर्मित एवं मानकीकृत उपलब्धि परीक्षण का प्रयोग भविष्य में शिक्षकों द्वारा स्नातक स्तर के द्वितीय वर्ष के विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि के आकलन हेतु प्रयुक्त किया जा सकता है।

मुख्य शब्द–मानकीकरण, उपलब्धि परीक्षण, शिक्षाशास्त्र, स्नातक स्तर।

विद्यार्थी के अर्जित ज्ञान का मापन एवं मूल्यांकन उपलब्धि परीक्षण के माध्यम से किया जाता है, जिससे इस बात का पता चलता है कि, विद्यालय में शिक्षक द्वारा प्रदान की गयी शिक्षा से विद्यार्थी ने अपने विषय में कितनी क्षमता अथवा ज्ञान को धारण किया। उपलब्धि परीक्षण से विद्यार्थियों के मूल्यांकन में सहायता प्राप्त होती है एवं उनसे संबंधित समस्याओं का समाधान करने का प्रयास भी किया जाता है। एक उपलब्धि परीक्षण तभी वैज्ञानिक मापदंडो पर

खरा उतरता है, जब परीक्षण के निर्माण हेतु प्रक्रियात्मक रूप से मानको को निर्धारित किया जाता है। प्रस्तुत विषय वस्तु में शोधकर्ता द्वारा स्नातक स्तर के शिक्षाशास्त्र विषय से सम्बन्धित उपलब्धि परीक्षण का निर्माण प्रक्रियात्मक ढंग से मानकीकरण करके किया गया है।

उपलब्धि परीक्षण का निर्माण एवं मानकीकरण की प्रक्रिया व विधि–

परीक्षण निर्माण से पहले अनुसंधानकर्ता ने मानकीकृत उपलब्धि परीक्षणों की समीक्षा की एवं पाया कि इस विषय में स्नातक स्तर पर मानकीकृत उपलब्धि परीक्षणों की आवश्यकता है। प्रो. हेमलता एवं शर्मिला, (2013) ने गणित, कुमार नरेश, (2017) ने अंग्रेजी व्याकरण, मुखीजा ज्योति, (2017) ने अंग्रेजी विषय, प्रवीन एवं यादव आशा, (2018) ने हिंदी विषय, मिश्रा आशीष, (2018) ने वाणिज्य विषय पर उपलब्धि परीक्षण का निर्माण किया। परीक्षण की आवश्यकतानुसार शोधकर्ता ने वीर बहादुर सिंह पूर्वांचल विश्वविद्यालय द्वारा नवीनतम पाठ्यक्रम के आधार पर स्नातक स्तर (बी.ए.द्वितीय वर्ष) के शिक्षाशास्त्र विषय हेतु एक उपलब्धि परीक्षण का निर्माण कार्य प्रारंभ किया। इस उद्देश्य से शिक्षाशास्त्र पाठ्य पुस्तकों का अच्छी तरह से अध्ययन करके विषय की अवधारणाओं को समझा गया। तत्पश्चात् परीक्षण हेतु प्रश्नों का चयन विषय विशेषज्ञों की सलाह और प्रश्न बैंकों की सहायता से किया गया। सभी प्रश्नों का चयन बहुविकल्पीय प्रश्नों के रूप में किया गया। स्नातक स्तर पर शिक्षाशास्त्र विषय की समस्त इकाइयों का अध्ययन भी किया गया एवं इसी आधार पर परीक्षण निर्माण हेतु प्रारम्भिक प्रारूप तैयार किया गए। अतः इस उपलब्धि परीक्षण का निर्माण विभिन्न चरणों के फलस्वरूप किया गया।

1. उपलब्धि परीक्षण की योजना :

किसी भी परीक्षण के निर्माण के लिए व्यवस्थित समुचित योजना बनाना प्रथम एवं महत्वपूर्ण चरण है। इसमें परीक्षण हेतु सावधानीपूर्वक योजना बनाने की आवश्यकता होती है। शोधकर्ता द्वारा परीक्षण के तैयारी के लिए वी.बी.एस.पी.यू. के स्नातक स्तर के द्वितीय वर्ष के शिक्षाशास्त्र विषय को चुना गया तथा परीक्षण में सभी पदों / प्रश्नों को बहुविकल्पीय प्रश्न के रूप में तैयार करने का निर्णय लिया गया। इसके पश्चात् ब्लूम के वर्गीकरण (1956) के अनुसार 'सीखने के उद्देश्यों' के आधार पर परीक्षण उद्देश्यों की विषय वस्तु, क्षेत्र को तैयार करने की योजना बनायी गयी। साथ ही परीक्षण के अनुरूप ब्लू प्रिंट तैयार करने की भी समुचित योजना बनाई गयी। इस चरण के अन्तर्गत प्रमुख बिन्दुओं जैसे–किसका मापन करना है, कब मापन किया जायेगा एवं कैसे किया जायेगा आदि को ध्यान में रखते हुए

चार्ट 1. उपलब्धि परीक्षण निर्माण के चरण

1. उपलब्धि परीक्षण की योजना

परीक्षण के उद्देश्य	परीक्षण की विषयवस्तु	परीक्षण का आकार एवं पद प्रकार	ब्लू प्रिंट की योजना बनाना

2. उपलब्धि परीक्षण की तैयारी

पद लेखन	विशेषज्ञों द्वारा पदों की जाँच	पदों का सम्पादन	पद सम्पादन के पश्चात् ब्लू प्रिंट प्रारूप

3. उपलब्धि परीक्षण का प्रशासन

परीक्षण प्रयोग का प्रथम प्रयास	परीक्षण प्रयोग का अंतिम प्रयास

4. पद विशेषण

उत्तर पत्रक को अवरोही क्रम में व्यवस्थित करना	पदों की कठिनाई स्तर	पदों की विभेदन क्षमता	पद विश्लेषण का अंतिम प्रारूप

5. उपलब्धि परीक्षण का अंतिम प्रारूप

अंतिम रूप से चयनित पदों का प्रारूप	परीक्षण उद्देश्यों के आधार पर पदों का प्रारूप	परीक्षण का अंतिम ब्लू प्रिंट प्रारूप

6. उपलब्धि परीक्षण का मानकीकरण

परीक्षण की विश्वसनीयता	परीक्षण की वैधता

परीक्षण का स्वरूप तैयार किया गया। उपरोक्त तथ्यों के लिए शोधकर्ता ने योजना बनाने में निम्न निर्णयों को लिया, जैसे–परीक्षण की प्रकृति, परीक्षण का उद्देश्य, परीक्षण की विषय वस्तु, पदों / प्रश्नों की संख्या, पदों का अंकभार, समय निर्धारण और पदों के जाँच में अंकन प्रक्रिया एवं ब्लू प्रिंट तैयारी का स्वरूप।

1.1. परीक्षण के उद्देश्य

उपलब्धि परीक्षण के उद्देश्यों को वी.बी.एस.पी.यू. द्वारा निर्धारित स्नातक स्तर (बी.ए.भाग-दो) के शिक्षाशास्त्र पाठयक्रम की सभी इकाइयों से ज्ञान, समझ (बोध) एवं अनुप्रयोग पर आधारित व्यवहार शब्दों में परिभाषित किया गया। जो नीचे बने तालिका 1 में दर्शाया गया है।

तालिका 1. ब्लूम वर्गीकरण (1956) पर आधारित उपलब्धि परीक्षण के उद्देश्य, पद संख्या एवं पदों का अधिभार

परीक्षण के उद्देश्य	पदों/प्रश्नों की संख्या	अंक अधिभार (अधिकतम अंक 126)	प्रतिशत
ज्ञान	55	55	43.65
समझ (बोध)	43	43	43.13
अनुप्रयोग	28	28	22.22
योग	126	126	100

1.2 परीक्षण की विषय वस्तु–उपलब्धि परीक्षण के निर्माण की प्रक्रिया में विषय वस्तु विश्लेषण एक महत्वपूर्ण चरण है। परीक्षण हेतु वी.बी.एस.पी.यू. द्वारा निर्धारित स्नातक स्तर (बी.ए.भाग-दो) की शिक्षाशास्त्र पाठ्यक्रम के सभी (प्रथम एवं द्वितीय) प्रश्न पत्रों की सभी इकाइयों (प्रथम प्रश्न पत्र में चार इकाई एवं द्वितीय प्रश्न पत्र में चार इकाई) से विषय वस्तु को लिया गया था। जो तालिका 2 में व्यवस्थित रूप से स्पष्ट है।

1.3. परीक्षण का आकार एवं पद प्रकार—परीक्षण का आकार परीक्षण में लिए गए पदों की संख्या को व्यक्त करता है। परीक्षण के प्रथम प्रयास में अच्छी पदों का निर्माण करना कठिन होता है। इसीलिए अंतिम प्रयास की तुलना में परीक्षण के प्रथम प्रयास में सुविधानुसार अधिक से अधिक पदों को तैयार किया जाता है। अतः शोधकर्ता द्वारा प्रथम प्रयास में कुल 126 बहुविकल्पीय पदों को शामिल किया गया।

ISSN 2278-4632

तालिका 2. उपलब्धि परीक्षण की विषय वस्तु, पद संख्या एवं पदों का अधिभार

प्रश्न पत्र/इकाई	प्रश्न पत्र/इकाई का नाम	पदों की संख्या	अंक अधिभार (अधिकतम अंक 126)	प्रतिशत
प्रथम प्रश्न पत्र	**Educational Psychology**	**62**	**62**	**49.21**
इकाई-1	Concept of Educational Psychology	18	18	14.29
इकाई-2	Concept of Learning	15	15	11.90
इकाई-3	Indiv. Difference, Intelligence, Personality	13	13	10.32
इकाई-4	Mental Health Exceptional Children	16	16	12.70
द्वितीय प्रश्न पत्र	**Thought and Practices in Education**	**64**	**64**	**50.79**
इकाई-1	Philosophy and Education Concept	19	19	15.08
इकाई-2	Philosophy's schools	21	21	16.67
इकाई-3	Educational thought and Contribution	11	11	8.73
इकाई-4	Educational Practices	13	13	10.31
	योग	**126**	**126**	**100**

तालिका 3 उपलब्धि परीक्षण के प्रथम प्रारूप का ब्लू प्रिंट

परीक्षण की विषय वस्तु		परीक्षण के उद्देश्य			योग	प्रतिशत
प्रश्न पत्र/ इकाई	प्रश्न पत्र/ इकाई का नाम	ज्ञान	बोध	अनुप्रयोग		
प्रथम प्रश्न पत्र	**Educational Psychology**	**26**	**21**	**15**	**62**	**49.21**
इकाई-1	Concept of Educational & Psychology	1,2,7,112,113, 114,115,116, (8)	100,112,117,118, 119,120,121,(6)	3,37,64, 124, (4)	18	14.29
इकाई-2	Concept of Learning	8,9,38,63,65,125 126,(7)	35,36,51,87, 88,(5)	4,5, 54,(3)	15	11.90
इकाई-3	Indiv. Difference, Intelligence, Personality	6,52,53,89,90,(5)	10,11,62,91,(4)	12,61,67, 68,(4)	13	10.32
इकाई-4	Mental Health & Exceptional Children	13,59,66,92,93, 122,(6)	39,40,60,71,94, 98, (6)	41,70,96, 97, (4)	16	12.70

ISSN 2278-4632

तालिका 3 उपलब्धि परीक्षण के प्रथम प्रारूप का ब्लू प्रिंट

परीक्षण की विषय वस्तु		परीक्षण के उद्देश्य			योग	प्रतिशत
प्रश्न पत्र/ इकाई	प्रश्न पत्र/ इकाई का नाम	ज्ञान	बोध	अनुप्रयोग		
द्वितीय प्रश्न पत्र	**Thought and Practices in Education**	**29**	**22**	**13**	**64**	**50.79**
इकाई-1	Philosophy and Education Concept	34,48,49,50,69,72, 80, 95,(8)	17,30,73,74,84, 85,99,(7)	14,15,16, 75,(4)	19	15.08
इकाई-2	Philosophy's schools	28,31,32,33,55,56 56,81,82,83,104,(10)	18,29,76,77, 101,105,106,(7)	19,45,102 103,(4)	21	16.67
इकाई-3	Educational thought and Contribution	27,46,47,107,111, (5)	42,43,108,(3)	78,79, 80 (3)	11	8.73
इकाई-4	Educational Practices	23,24,25,44,109,123,(6)	20,26,57,58,110,(5)	21,22, (2)	13	10.31
योग		**55**	**43**	**28**	**126**	
प्रतिशत		**43.65**	**34.13**	**22.22**		**100**

नोट : * कोष्ठक के बाहर पदों का क्रम है; * कोष्ठक के अन्दर पदों की संख्या

1.4. ब्लू प्रिंट की योजना बनाना—ब्लू प्रिंट की योजना बनाना एवं उसे तैयार करना भी उपलब्धि परीक्षण की मुख्य चरणों में से एक है। जिसके माध्यम से परीक्षण के प्रारम्भिक प्रयास हेतु पदों की लेखन में सहायता प्राप्त होती है। शोधकर्ता ने ब्लू प्रिंट के लिए परीक्षण के सभी पदों को सीखने के संज्ञानात्मक उद्देश्यों के आधार पर तैयार किया। प्रारम्भिक ब्लू प्रिंट प्रारूप में कुल 126 बहुविकल्पीय पद शामिल किये गए, जिन्हें तालिका 3 में उल्लेखित किया गया है।

2. उपलब्धि परीक्षण की तैयारी :

उपलब्धि परीक्षण निर्माण के इस चरण में परीक्षण पदों का लेखन स्वरूप, तैयार किये गए पदों को विशेषज्ञों की सलाह या उनके जाँच के उपरान्त कुछ संशोधन या उनका सम्पादन करना आदि सम्मिलित होता है। अतः शोधकर्ता द्वारा परीक्षण की आरम्भिक तैयारी तीन चरणों में की गयी थी, जिन्हें क्रमागत रूप से नीचे प्रस्तुत किया गया है —

2.1. पद लेखन—इसके अंर्तगत शोधकर्ता ने सभी पदों अथवा प्रश्नों को परीक्षण के उद्देश्य एवं विषयवस्तु के अनुरूप लिखने का कार्य पूर्ण किया। परीक्षण में सभी पदों को बहुविकल्पीय पद अर्थात प्रत्येक पद का उत्तर देने के लिए चार विकल्प रखे गए थे, जिनमें कोई एक विकल्प ही पद के सही उत्तर के रूप में था। इस प्रकार से परीक्षण के आरम्भिक प्रारूप में कुल 126 पदों की लेखन प्रस्तुति बहुविकल्पीय पद के आधार पर की गयी।

2.2. विशेषज्ञों द्वारा पदों की जाँच—पद लेखन के पश्चात् 5 विषय विशेषज्ञों के द्वारा सभी पदों की जाँच एवं मूल्यांकन किया गया जिससे शोधकर्ता द्वारा बनायें गए प्रत्येक पद की अस्पस्टता एवं भाषात्मक कठिनाई को दूर किया जा सके। विशेषज्ञों ने सभी पदों की जाँच एवं मूल्यांकन कर लेने के पश्चात् उनमें से 5 पदों (37,59,67,75,80) को भाषात्मक कठिनाई के रूप में रेखांकित करके उसे प्रारूप से हटाने का सलाह दिया।

2.3. पद सम्पादन—इसके अंतर्गत विशेषज्ञों द्वारा भाषात्मक कठिनाई के रूप में रेखांकित किये गए 5 पदों को उनके सलाह पर परीक्षण प्रारूप से हटाया गया।

2.4. पद सम्पादन के पश्चात् प्रारूप—आरम्भिक ब्लू प्रिंट प्रारूप में कुल 126 पद थे, जिनको विशेषज्ञों की जाँच के पश्चात् 5 पदों को प्रारूप से बाहर कर दिया गया। अतः प्रारूप में 126 पद के स्थान पर 121 पद शेष बचे, जिनको तालिका 4 में प्रस्तुत किया गया है।

ISSN 2278-4632

तालिका 4. पद सम्पादन के पश्चात प्रारम्भिक ब्लू प्रिंट प्रारूप

परीक्षण की विषय वस्तु		परीक्षण के उद्देश्य			योग	प्रतिशत
प्रश्न पत्र/इकाई	प्रश्न पत्र/इकाई का नाम	ज्ञान	बोध	अनुप्रयोग		
प्रथम प्रश्न पत्र	**Educational Psycholog**	**25**	**21**	**13**	**59**	**48.76**
इकाई-1	Concept of Educational Psychology	8	6	3	17	14.05
इकाई-2	Concept of Learning	7	5	3	15	12.40
इकाई-3	Indiv. Difference, Intelligence, Personality	5	4	3	12	9.91
इकाई -4	Mental Health Exceptional Children	5	6	4	15	12.40
द्वितीय प्रश्न पत्र	**Thought and Practices in Education**	**29**	**22**	**11**	**62**	**51.24**
इकाई-1	Philosophy and Education Concept	8	7	3	18	14.88
इकाई-2	Philosophy's schools	10	7	4	21	17.36
इकाई-3	Educational thought and Contribution	5	3	2	10	8.26
इकाई-4	Educational Practices	6	5	2	13	10.74
योग —		**54**	**43**	**24**	**121**	
प्रतिशत		**44.63**	**35.54**	**19.83**		**100**

3. उपलब्धि परीक्षण का प्रशासन :

परीक्षण के इस चरण में शोधकर्ता द्वारा परीक्षण हेतु बनाये गए 121 पदों का प्रयोग दो स्वरूपों में किया गया—

3.1. परीक्षण प्रयोग का प्रारम्भिक प्रयास—शोधकर्ता ने परीक्षण का प्रारम्भिक प्रयास शिवांगी महिला महाविद्यालय के बी.ए. द्वितीय वर्ष के शिक्षाशास्त्र में अध्ययनरत 25 विद्यार्थियों को लेकर किया। प्रारम्भिक प्रयास से आशय परीक्षण के निर्माण में किसी भी प्रकार की कठिनाइयों या भाषात्मक त्रुटियों को दूर करने से होता है। इस सन्दर्भ में महाविद्यालय के चुने गए सभी विद्यार्थियों को परीक्षण हेतु स्पस्ट निर्देश देकर प्रश्न पुस्तिका सहित उत्तर पत्रक एक-एक करके बाँट दिया गया। प्रत्येक विद्यार्थी को यह भी निर्देश दिया कि, वह प्रत्येक प्रश्न का उत्तर देकर प्रश्न पुस्तिका सहित उत्तर पत्रक को पुनः वापस कर दें। परीक्षण के दौरान विद्यार्थियों द्वारा व्यक्त की गयी प्रतिक्रियाओं की समय-सीमा को नोट किया गया। शोधकर्ता ने पाया कि कुल 121 पदों में से 5 (42,46,74,87,116) पद ऐसे हैं जो विद्यार्थियों को समझने में भाषात्मक त्रुटियाँ उत्पन्न कर रही है। त्रुटियुक्त पदों को विद्यार्थियों द्वारा परीक्षण के समय दिए गए प्रतिक्रिया के अनुरूप 5 पदों की भाषात्मक त्रुटियों को ठीक किया गया अर्थात परीक्षण प्रारूप में प्रारंभिक के पश्चात् भी 121 पद शामिल थे।

3.2. परीक्षण प्रयोग का अंतिम प्रयास—परीक्षण के अंतिम प्रयास में वी.बी.एस.पी.यू. से सम्बद्ध महाविद्यालयों के स्नातक स्तर (बी.ए.द्वितीय वर्ष) के शिक्षाशास्त्र विषय के 140 विद्यार्थियों को लिया गया। परीक्षण के अंतिम प्रयास के लिए चुने गए सभी विद्यार्थियों पर परीक्षण को निर्देशानुसार प्रशासित किया गया एवं प्रत्येक विद्यार्थी से उनकी प्रतिक्रिया के रूप में प्रश्न पुस्तिका सहित उत्तर पत्रक को एकत्रित किया गया। उसके पश्चात् शोधकर्ता द्वारा पूर्व में बनायी गयी उत्तर कुंजी की सहायता से प्रत्येक विद्यार्थी का मूल्यांकन किया गया तथा उनकी प्रतिक्रिया के आधार पर उन्हें प्राप्तांक (अंक अधिभार) दिया गया। मूल्यांकन के दौरान विद्यार्थियों द्वारा व्यक्त प्रत्येक पद की प्रतिक्रिया को गलत होने पर शून्य अंक एवं सही होने पर एक (1) अंक अधिभार दिया गया।

4. पद विश्लेषण—प्रत्येक विद्यार्थी को अंकभार प्रदान करने के बाद पदों (प्रश्नों) का विश्लेषण किया गया। प्रत्येक पद का मूल्यांकन करने, उसे अंतरिम रूप से परीक्षण के लिए चयनित एवं अस्वीकृत करने के लिए प्रत्येक पद की कठिनाई स्तर एवं विभेदन क्षमता निकालकर पदों का विश्लेषण किया गया। जिनमें निम्न चरण शामिल थे—

4.1. उत्तर पत्रक को अवरोही क्रम में व्यवस्थित करना—अंक अधिभार प्रदान करने के पश्चात सभी 140 उत्तर पत्रकों को प्राप्तांक के आधार पर अवरोही क्रम में व्यवस्थित किया गया। इसके पश्चात 27% ऊपर व 27% नीचे के उत्तर पत्रकों को लेकर उन्हें दो भागों में विभक्त कर दिया गया (बीच वाले विद्यार्थियों के उत्तर पत्रकों को इन दोनों भागों में शामिल नहीं किया गया)। क्योंकि केवल उच्च एवं निम्न समूह के विद्यार्थियों की प्रतिक्रियाओं के आधार पर ही कुल पदों की कठिनाई स्तर और विभेदन क्षमता निकाला जाता है। अवरोही क्रम में व्यवस्थित करने से ज्ञात हुआ कि, परीक्षण में एक विद्यार्थी ने सबसे अधिक प्राप्तांक 96 (पूर्णांक 121) और एक विद्यार्थी ने सबसे कम प्राप्तांक 25 (पूर्णांक 121) प्राप्त किया है। दो भागों में विभक्त किये गए ऊपर व नीचे की समूहों को क्रमशः उच्च समूह (N_U) व निम्न समूह (N_L) की संज्ञा दी गयी। अवरोही क्रम में व्यवस्थित उत्तर पत्रकों को शोधकर्ता ने दो समूह (उच्च एवं निम्न) में इस प्रकार से विभक्त किया था, जो तालिका.5 को देखने से स्पस्ट हो जाता है।

तालिका 5. पद विश्लेषण के लिए समूहों का विभक्तिकरण

उच्च समूह (N_U)	**निम्न समूह** (N_L)
27% ऊपर के विद्यार्थी	27% नीचे के विद्यार्थी
121 X 27×100=32.67	121 X 27×100=32.67
N_U=33 विद्यार्थी	N_L=33 विद्यार्थी
विद्यार्थियों के प्राप्तांक 98 से 59 तक लिए गए	विद्यार्थियों के प्राप्तांक 40 से 25 तक लिए गए

4.2. पदों की कठिनाई स्तर—पदों की कठिनाई स्तर से यह ज्ञात होता है कि, परीक्षण सरल था अथवा कठिन। पदों की कठिनाई स्तर उन विद्यार्थियों के प्राप्तांको द्वारा सुनिश्चित होता है जो पद का सही उत्तर देतें है। उत्तर पत्रक को अवरोही क्रम में व्यवस्थित करने के पश्चात् निम्न एवं उच्च दोनों समूहों के (N_U=33, N_L=33) विद्यार्थियों द्वारा व्यक्त प्रतिक्रियाओं के आधार पर प्रत्येक (कुल 121) पद का कठिनाई स्तर ज्ञात किया गया। इसके लिए निम्न सूत्र को प्रयुक्त किया गया था—

सूत्र, (i) **D.V. = PU+PL / 2** अथवा (ii) **D.V. = RU+RL / NU+NL**

सूत्र में,

D.V. = Difficulty Value (कठिनाई स्तर)

$\mathbf{P_U = R_U / N_U}$ तथा

$\mathbf{P_L = R_L / N_L}$

$\mathbf{P_U}$ = The Proportion of Students in the Upper group Who Respond Correctly

(उच्च समूह में उन विद्यार्थियों का अनुपात जो सही ढंग से उत्तर देते हैं)

$\mathbf{P_L}$ = The Proportion of Students in the Lower group Who Respond Correctly

(निम्न समूह में उन विद्यार्थियों का अनुपात जो सही ढंग से उत्तर देते हैं)

$\mathbf{R_U}$ = The Number of Students in the Upper group Who Respond Correctly

(उच्च समूह में उन विद्यार्थियों का संख्या जो सही ढंग से उत्तर देते हैं)

R_L = The Number of Students in the Lower group Who Respond Correctly

(निम्न समूह में उन विद्यार्थियों का संख्या जो सही ढंग से उत्तर देते हैं)

N_U = The Total Number of Students in the Upper group

(उच्च समूह में विद्यार्थियों की कुल संख्या)

N_L = The Total Number of Students in the Lower group

(निम्न समूह में विद्यार्थियों की कुल संख्या)

उपलब्धि परीक्षण में पदों की कठिनाई सूचकांक को निर्धारित करने के लिए हेनिंग(1987) द्वारा बताये गए दिशा-निर्देशों को आधार मानकर किया गया। इनके अनुसार यदि किसी पद के कठिनाई स्तर का मान 0.33 या इससे ज्यादा है तो उस पद का कठिनाई स्तर उच्च होगा अर्थात वह पद कठिन है, तथा किसी पद के कठिनाई स्तर का मान 0.34 से 0.66 के आता है तो उस पद की कठिनाई सामान्य स्तर की होगी, और यदि किसी पद के कठिनाई स्तर का मान 0.67 या इससे कम है तो उस पद की कठिनाई निम्न स्तर की होगी अर्थात वह पद सरल है।

तालिका 6. हेनिंग (1987) द्वारा दिशानिर्देशित कठिनाई स्तर के मानों का विभाजन

उच्च काठिन्यता	मध्यम	निम्न काठिन्यता
≥ 0.33	0.34 से 0.66	≥ 0.67

कठिनाई स्तर के सूत्रों से प्रत्येक पद का कठिनाई स्तर मान निकाला गया एवं तालिका 6 में दिए गए हेनिंग के दिशा-निर्देशों के आधार पर प्रत्येक मानों को वर्गीकृत किया गया। जिसे तालिका.7 के माध्यम से स्पष्ट रूप में देखा और समझा जा सकता है।

तालिका 7. उपलब्धि परीक्षण के प्रारम्भिक प्रारूप के पदों की कठिनाई स्तर

कठिनाई स्तर मान	पदों की क्रमागत संख्या	योग
उच्च काठिन्यता ≥ 0.33	2,4,10,13,14,25,31,36,39,49,56,61, 63,64,70,71,77,80,81,85,86,90,93, 96,103,104,107,108,109,112,113,	31
मध्यम 0.34 से 0.66	5,6,7,8,9,12,15,16,17,18,19,20,21, 22,23, 24,26,28,29,30,32,33,34,35, 37,38,40,41,42,43,44,45,47,48,50, 51,52, 53,54,55,57,58,59,60,622, 65,66,68,69, 72,73,74,75,76,78,79, 82,83,84,87,88,89,91,92,94,95,97, 98,99,100,101,102,105,106,110,111, 114,115,116,117,118,119,120,121,	84
निम्न काठिन्यता ≥ 0.67	1,3,11,27,46,67,	6
योग —	121	121

4.3. पदों की विभेदन क्षमता—पदों की कठिनाई स्तर ज्ञात करने के पश्चात् पदों की विभेदन क्षमता भी ज्ञात किया गया। पदों की विभेदन क्षमता से आशय यह होता है कि, एक पद उच्च और निम्न समूह के परीक्षार्थियों में किस अंश तक अंतर कर पाता है। शोधकर्ता द्वारा 121 पद की विभेदन क्षमता उच्च समूह (27%) के 33 विद्यार्थियों एवं निम्न समूह (27%) के 33 विद्यार्थियों के प्रतिक्रिया के आधार पर ज्ञात किया गया। पदों की विभेदन क्षमता ज्ञात करने हेतु निम्न सूत्र को प्रयुक्त किया गया—

सूत्र, (i) **D. P.** = **PU** – PL अथवा (ii) **D. P.** = RU – RL/NU+NL/2
सूत्र में, **D. P. = Discrimination Power** (विभेदन क्षमता)

PU = The Proportion of Students in the Upper group Who Respond Correctly
(उच्च समूह में उन विद्यार्थियों का अनुपात जो सही ढंग से उत्तर देते हैं)

PL = The Proportion of Students in the Lower group Who Respond Correctly
(निम्न समूह में उन विद्यार्थियों का अनुपात जो सही ढंग से उत्तर देतें है)

RU = The Number of Students in the Upper group Who Respond Correctly
(उच्च समूह में उन विद्यार्थियों का संख्या जो सही ढंग से उत्तर देतें है)

RL = The Number of Students in the Lower group Who Respond Correctly
(निम्न समूह में उन विद्यार्थियों का संख्या जो सही ढंग से उत्तर देते हैं)

NU = The Total Number of Students in the Upper group
(उच्च समूह में विद्यार्थियों की कुल संख्या)

NL = The Total Number of Students in the Lower group
(निम्न समूह में विद्यार्थियों की कुल संख्या)

प्रत्येक पद की विभेदन क्षमता ज्ञात करने के पश्चात् प्राप्त मानों के विभेदन सूचकांक का वर्गीकरण इबेल (1979) द्वारा बताये गए मापदंडो एवं दिशा-निर्देशों को आधार मानकर किया गया, जिसकी प्रस्तुति तालिका 8. में की गयी है।

तालिका 8. इबेल (1979) द्वारा दिशानिर्देशित प्राप्त विभेदन क्षमता के मानों का वर्गीकरण

विभेदन सूचकांक मान	व्याख्या
≥ 0.40	पद संतोषजनक है एवं परीक्षण में शामिल करने योग्य
0.30 से 0.39	संतोषजनक से कम है एवं पद में संशोधन की आवश्यकता नहीं है
0.20 से 0.29	पद सीमांत है एवं उसमें संशोधन की आवश्यकता है
≥ 0.19	पद को परीक्षण से हटाया जाना चाहिए या उसमें पूर्णरूप से संशोधन की आवश्यकता है

विभेदन क्षमता के सूत्रों के माध्यम से परीक्षण के प्रारम्भिक प्रारूप में सम्मिलित प्रत्येक (कुल 121) पद की विभेदन क्षमता मान ज्ञात किया गया एवं उपरोक्त तालिका में दिए गए दिशानिर्देशों के आधार पर उनके मानों को वर्गीकृत किया गया। जिसे शोधकर्ता ने तालिका 9. में दर्शाया है।

तालिका 9. उपलब्धि परीक्षण के प्रारम्भिक प्रारूप के पदों की विभेदन क्षमता

विभेदन क्षमता मान	पदों की क्रमागत संख्या	योग	टिप्पणी
≥ 0.40	5,21,24,28,29,35,40,44,47,5 54,85,62,65,66,67,72,75,77, 78,79,81,83,88,89,92,93,94, 98,99,100,101,120,	35	पद बहुत अच्छे है
0.30 से 0.39	3,6,7,13,16,17,18,20,31,34, 37,41,55,69,73,82,84,95,96, 97,104,105,106,111,117,	26	पद पर्याप्तत: अच्छे है

0.20 से 0.29	1,8,9,10,12,14,15,19,38,46, 49,63,68,71,76,90,91,102, 109, 114,115,118,119,	23	पदों में सुधार की आवश्यकता है
≥ 0.19	2,4,11,22,23,25,26,27,30,32, 33,39,42,43,45,48,51,56,57, 59,60,61,64,70,74,80,85,86, 87,103,107,108,110,112,113, 116,121,	37	बहुत ख़राब पद
योग —	**121**	**121**	

4.4. पद विश्लेषण का अंतिम प्रारूप—पद विश्लेषण अर्थात प्रत्येक पद की कठिनाई स्तर एवं विभेदन क्षमता उपयुक्त सांख्यिकीय सूत्रों, दिशा-निर्देशों एवं उपलब्धि परीक्षण निर्माण के नियमों के अनुरूप सावधानी पूर्वक ज्ञात किया गया। इसके पश्चात् प्रत्येक पद के कठिनाई स्तर एवं विभेदन क्षमता के मानों को एकबद्ध करके वर्गीकृत किया गया। जिसको तालिका 10 के माध्यम से स्पष्ट किया गया है।

तालिका 10. पद विश्लेषण प्रारूप

कठिनाई स्तर — विभेदन क्षमता —	**उच्च काठिन्यता** ≥ 0.33	**मध्यम** 0.34 से 0.66	**निम्न काठिन्यता** ≥ 0.67	**योग**
≥ 0.40	77,81,93,	5,21,24, 28,29,35, 40,44,47, 50,52,53, 54,58,62, 65,66,72, 75,78,79, 83,88,89,	67,	35

		92,94,98, 99,100, 101,120,		
0.30 से 0.39	13,31,36, 96,104,	6,7,16,17, 18,20,34, 37,41,55, 69,73,82, 84,95,97, 105,106, 111,117,	3,	26
0.20 से 0.29	10,14,49, 63,71, 90,109,	8,9,12,15, 19,38,68, 76,91,102, 114,115, 118,119,	1,46,	23
≥ 0.19	2,4,25, 39,56,61, 64,70,80, 85,86,103, 107,108, 112,113,	22,23,26, 30,32,33, 42,43,45, 48,51,57, 59,60,74, 87,110, 116,121,	11,27,	37
योग —	31	84	6	121

5. उपलब्धि परीक्षण का अंतिम प्रारूप :

5.1. अंतिम रूप से चयनित पदों का प्रारूप—पद विश्लेषण के आधार पर तकनीकी रूप से उपयुक्त पदों को उपलब्धि परीक्षण में अंतिम रूप से चयनित किया गया। परीक्षण के अंतिम प्रारूप में 121 पद में से कुल 61 का चयन किया गया, जिन्हें तालिका 11 में प्रस्तुत करके स्पष्ट रूप से समझाने का प्रयत्न किया गया है।

तालिका 11. उपलब्धि परीक्षण के लिए अंतिम रूप से चयनित पदों का प्रारूप

कठिनाई स्तर — विभेदन क्षमता —	उच्च काठिन्यता ≥ 0.33	मध्यम 0.34 से 0.66	निम्न काठिन्यता ≥ 0.67	योग
≥ 0.40	77,81,93,	5,21,24, 28,29,35, 40,44,47, 50,52,53, 54,58,62, 65,66,72, 75,78,79, 83,88,89, 92,94,98, 99,100, 101,120,	67,	35
0.30 से 0.39	13,31,36, 96, 104,	6,7,16,17, 18,20,34, 37,41,55, 69,73,82, 84,95,97, 105,106, 111,117,	3,	26
योग	**8**	**51**	**2**	**61**

5.2. परीक्षण उद्देश्यों के आधार पर चयनित पदों का प्रारूप— पद विश्लेषण के पश्चात् चयनित पदों को परीक्षण के उद्देश्यों के आधार पर भी प्रारूप तैयार किया गया, जो कि तालिका 12 को देखने से स्पष्ट हो जाता है।

तालिका 12. उपलब्धि परीक्षण के उद्देश्यों पर आधारित चयनित पदों का प्रारूप

परीक्षण उद्देश्य	पदों की क्रमागत संख्या	योग
ज्ञान	6,7,13,24,28,31,34,44,47,50,52, 53,55,65,66,69,72,81,82,83, 89,92,93,95,104,111,	26
बोध	17,18,20,29,35,36,40,58,62,73, 77,84,88,94,98,99,100,101, 105,106,1177,120,	22
अनुप्रयोग	3,5,16,21,37,41,54,67,75,78, 79,96,97,	13
योग —	**61**	**61**

5.3. परीक्षण का अंतिम ब्लू प्रिंट प्रारूप—शिक्षाशास्त्र उपलब्धि परीक्षण के लिए पदों को अंतिम रुप से चयनित कर लेने के पश्चात शोधकर्ता द्वारा परीक्षण की अंतरिम ब्लू प्रिंट तैयार की गया, जिसे नीचे बनाई गयी तालिका.13 के माध्यम से समझा जा सकता है।

तालिका 13. उपलब्धि परीक्षण का अंतिम ब्लू प्रिंट प्रारूप

परीक्षण की विषय वस्तु		परीक्षण के उद्देश्य			कुल चयनित पद		अचयनित पद	पूर्व अचयनित पद	
प्रश्न पत्र/ इकाई	प्रश्न पत्र/इकाई का नाम	ज्ञान	बोध	अनुप्रयोग	संख्या	%		संख्या	%
प्रथम प्रश्न पत्र	**Educational Psychology**	**10**	**10**	**8**	**28**	**45.91**	**31**	**59**	**48.76**
इकाई -1	Concept of Educational & Psychology	1	3	2	6	9.84	11	17	14.05
इकाई -2	Concept of Learning	1	3	2	6	9.84	9	15	12.40
इकाई -3	Indiv. Difference, Intelligence, Personality	4	1	....	5	8.19	7	12	9.91
इकाई -4	Mental Health & Exceptional Children	4	3	4	11	18.04	4	15	12.40

ISSN 2278-4632

तालिका 13. उपलब्धि परीक्षण का अंतिम ब्लू प्रिंट प्रारूप

परीक्षण की विषय वस्तु		परीक्षण के उद्देश्य			कुल चयनित पद		अचयनित पद	पूर्व अचयनित पद	
प्रश्न पत्र/ इकाई	प्रश्न पत्र/इकाई का नाम	ज्ञान	बोध	अनुप्रयोग	संख्या	%		संख्या	%
द्वितीय प्रश्न पत्र	**Thought and Practices in Education**	**16**	**12**	**5**	**33**	**54.09**	**29**	**62**	**51.24**
इकाई -1	Philosophy and Education Concept	5	4	2	11	18.04	7	18	14.88
इकाई -2	Philosophy's schools	7	6	....	13	21.31	8	21	17.36
इकाई -3	Educational thought and Contribution	2	....	2	4	6.55	6	10	8.26
इकाई -4	Educational Practices	2	2	1	5	8.19	8	13	10.74
योग		26	22	13	61		60	121	
प्रतिशत		42.62	36.07	21.31		100			100

6. उपलब्धि परीक्षण का मानकीकरण : उपलब्धि परीक्षण के निर्माण में मानकीकरण महत्वपूर्ण एवं अंतिम चरण होता है। क्योकि इसमें मानको का निर्धारण किया जाता है। परीक्षण के मानकीकरण का घनिष्ठ संबंध मापन के वैज्ञानिक नियमों से होता है, जिनमें मापन शुद्ध तथा वस्तुनिष्ठ रूप से प्रमाणित, विश्वसनीय एवं वैध होता है। शोधकर्ता द्वारा उपलब्धि परीक्षण के लिए 61 पदों को चयनित करके अंतिम रूप दिया गया। चयनित पदों को वैज्ञानिक मापदंडो एवं सांख्यिकीय मापदंडो के आधार पर मानकीकरण को सुनिश्चित करते हुये परीक्षण की विश्वसनीयता एवं वैधता निर्धारित की गयी।

6.1. **परीक्षण की विश्वसनीयता**—किसी भी परीक्षण की मुख्य कसौटी उसकी विश्वसनीयता होती है। एक परीक्षण तभी विश्वसनीय होता है जब परीक्षण से प्राप्त प्राप्तांक विश्वसनीय हो। विश्वसनीयता से तात्पर्य परीक्षण के उस वैज्ञानिक कसौटी से होता है, जो परीक्षण की स्थिरता, परिशुद्धता, संगति को अभिव्यक्त करता है। परीक्षण की विश्वसनीयता ज्ञात करने के लिए परीक्षण (कुल 61 पदों) को एक विद्यार्थी समूह पर प्रशासित किया गया। विद्यार्थी समूह से प्राप्त प्राप्तांकों के आधार पर परीक्षण का मध्यमान(M.) और मानक विचलन (S.D.) क्रमशः 30.15 और 14.584 सांख्यिकीय प्रविधियों के द्वारा ज्ञात किया गया। इसके बाद परीक्षण की विश्वसनीयता ज्ञात करने के लिए की दो प्रमुख विधियों को प्रयुक्त किया गया—

(i) ली.जे.क्रान बैक की अल्फा विश्वसनीयता विधि

(ii) कूडर रिचर्डसन की तर्कयुक्त समानता विश्वसनीयता विधि (KR_{20}) उपरोक्त दोनों विश्वसनीयता की विधियों को सांख्यिकीय तकनीकी माध्यम से प्रयुक्त करने पर परीक्षण की विश्वसनीयता मान क्रमशः 0.946 एवं 0.948 पाया गया। अतः इससे पता चलता है की शिक्षाशास्त्र उपलब्धि परीक्षण की विश्वसनीयता उच्च स्तर की है।

6.2. परीक्षण की वैधता—परीक्षण की वैधता से अभिप्राय यह होता है कि, परीक्षण का निर्माण जिस उद्देश्य से किया गया वह किस सीमा तक उसका मापन करने में सफल हो पा रहा है। शिक्षाशास्त्र उपलब्धि परीक्षण मापनी की वैधता विषयवस्तु (अंतर्विषय) वैधता द्वारा ज्ञात की गयी। विषयवस्तु वैधता से आशय यह होता है कि, इस वैधता में परीक्षण के अंतर्विषय का क्रमबद्ध मूल्यांकन यह सुनिश्चित करने के लिए किया जाता है कि प्रतिनिधिपूर्ण प्रतिदर्श

व्यवहार का मापन परीक्षण द्वारा हो पा रहा अथवा नहीं। अतः इस सन्दर्भ में शोधकर्ता ने विशिष्ट क्षेत्र से संबंधित 10 कुशल विषय विशेषज्ञों से इस शिक्षाशास्त्र उपलब्धि परीक्षण पर उनकी प्रतिक्रियाएं प्राप्त की। परीक्षण में निहित प्रत्येक पद की उपयुक्तता वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विषय विशेषज्ञों द्वारा व्यक्त की गयी प्रतिक्रिया के आधार पर परीक्षण की वैधता संतोषजनक पायी गयी।

निष्कर्ष : शिक्षाशास्त्र विषय में वैज्ञानिकता की दृष्टि से एक विश्वसनीय एवं वैध उपलब्धि परीक्षण के निर्माण के लिए गहनता से अध्ययन किया गया था। परीक्षण के मानकीकरण के लिए जौनपुर जनपद के राजगौरव महाविद्यालय एवं मोहम्मद हसन स्नातकोत्तर महाविद्यालय में अध्ययनरत स्नातक स्तर (बी.ए.-द्वितीय वर्ष) के 40 विद्यार्थियों को न्यादर्श के रूप में लिया गया था। इस संदर्भ में परीक्षण की विश्वसनीयता तर्कयुक्त समानता विधि के माध्यम से निर्धारित की गयी, जिसका मान 94 पाया गया तथा परीक्षण की वैधता विषयवस्तु वैधता के आधार पर विशेषज्ञों की प्रतिक्रियाओं से संतोषजनक निर्धारित की गयी। अतः शिक्षाशास्त्र विषय हेतु निर्मित उपलब्धि परीक्षण अत्यधिक विश्वसनीय एवं वैध स्वरूप में निर्मित हुआ है। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि शिक्षकों द्वारा इस परीक्षण का प्रयोग स्नातक स्तर की द्वितीय वर्ष के शिक्षाशास्त्र विषय के विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि के आकलन हेतु प्रयुक्त किया जा सकता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

- रामधनी सिंह, (2017), स्नातक स्तर के विद्यार्थियों की गणित में उपलब्धि पर सृजनात्मकता, समस्या समाधान योग्यता, आंकिक योग्यता तथा गणित विषय में रूचि के प्रभाव का अध्ययन, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, अध्याय तृतीय, 79-97
- डॉ. डी.एन. श्रीवास्तव, एवं प्रीति वर्मा,(2010), *मनोविज्ञान, शिक्षा और अन्य सामाजिक विज्ञानों में सांख्यिकीय*, श्री विनोद पुस्तक मंदिर आगरा-101-149,501-530
- पी.डी. पाठक, (2016-17), *शिक्षा मनोविज्ञान*, अग्रवाल पब्लिकेशन आगरा-2, 447-450
- H.L. Sharma, & Sarmila, (july2013), Construction of an Achievement Test for the students of VIII class in the Subject of Mathematics, IJSR, 2(7), 41-43

- H.L. Sharma, & Poonam,(sep2017), Construction and standardization of an achievement test in English grammar, IJAER, 2(5), 230-235
- H.L. Sharma, & Sarita,(july-sep2018), Construction and standardization of an achievement test in Science, IJAER, 5(3), 1037-1042
- Dr. Ajay Kumar, (may 2019), Construction and standardization of an achievement test in Mathematics for class IX Students, IJ3600MR, 7(Special Issue), 6-7
- Dr. Sanjay Kumar, & S. S. Mehta, (oct2017), Construction of an achievement test in social studies for the student of ninth class in Uttar Pradesh, IJAR, 3(11), 115-117
- Ashish Mishra, (2017), Construction and Standardization of Commerce Achievement Test for Higher Secondary Level , IJEMS, 7(3), 251-258
- Jyoti Mukhija, (oct2017), Construction of Achievement Test in English, IEJ, 3(sep-dec2017,year-2), 153-160
- Naresh Kumar, (2016), Construction and standardization of an achievement test in English grammar, IJCRME, I(I I), 241-251
- Parveen & Asha yadav,(2018), Construction and standardization of achievement in Hindi, SRJIS, 5(144), 10417-10423

डॉ. सुनीता सिंह

असिस्टेंट प्रोफेसर, शिक्षाशास्त्र विभाग

राजकीय महिला महाविद्यालय

अहिरौला, आजमगढ़ उत्तर प्रदेश

सम्बद्ध वीर बहादुर सिंह पूर्वांचल विश्वविद्यालय, उत्तर प्रदेश, भारत

नितेश कुमार मौर्य

शोध छात्र, शिक्षाशास्त्र विभाग

राजकीय महिला महाविद्यालय

अहिरौला, आजमगढ़ उत्तर प्रदेश

सम्बद्ध वीर बहादुर सिंह पूर्वांचल विश्वविद्यालय, उत्तर प्रदेश, भारत

❑❑❑

झझू (कोलायत, बीकानेर) पुरातात्त्विक सर्वेक्षण रिपोर्ट-2

• डॉ. रीतेश व्यास

इसमें कोई दो राय नहीं है कि राजस्थान का प्रत्येक गांव अपनी खास और विशिष्ट पहचान रखता है वहां के स्थानीय लोग अपनी एक स्वतंत्र सांस्कृतिक परंपरा के संवाहक होते हैं। राजस्थान आर्कियोलोजी एण्ड एपिग्राफी कांग्रेस के निर्णय के अनूरूप झझू के संदर्भ में दूसरे चरण में किए गए सर्वेक्षण में कई चौंकाने वाले तथ्य सामने आए। पूर्व में झझू की छतरियों की बनावट, उनके महत्व को उजागर करने का प्रयास किया गया था, साथ ही छतरियों में लगे शिलालेखों के आधार पर यह स्पष्ट हुआ कि यह गांव पालीवाल ब्राह्मणों का निवास स्थान था। इन पालीवाल का जैसलमेर तक विस्तार था तथा उनका संबंध इस गांव से भी रहा।

इसी क्रम में गांव के दूसरे चरण का सर्वेक्षण हुआ तो कुछ और ऐतिहासिक तथ्यों की जानकारी हुई। गांव के एक छोर पर जहां हमें छतरियां मिली वही गांव के एक हिस्से में कुछ पुराने भवन के अवशेष मिले जिसके स्वामी अम्बालालजी पालीवाल हैं। यहां हम एक खंडहर के रूप में तब्दील हो चुकी हवेली की बात करेंगे जिसका वर्तमान में जीर्णोद्धार का कार्य चल रहा है।

परिवार के ही एक सदस्य का अपने पुरखों की हवेली के प्रति प्रेम जागा है। इसका स्थापत्य काफी आकर्षक एवं प्रभावी लगा। इस हवेली में पत्थर की बारिक और सुंदर नक्काशी की गई है, जिसका हमें बिल्कुल भी अंदेशा नहीं था। हवेली का मुख्य द्वार साधारण लकड़ी का बना है जिस पर बारीक नक्काशी की गई है।

ये सुन्दर काम आज भी संरक्षण की बाट जोह रहा है। खुला आंगन और तीन तरफ बने कमरे व रसोई इसकी बनावट की ओर इशारा कर रही थी। इस हवेली में यूं तो सभी अंग आकर्षण पैदा करने वाले हैं, लेकिन हवेली की दीवारों पर बने छोटे और बड़े आळे वास्तव में सुंदर नक्काशी और उस समय के कलाकारों की सोच को उद्घाटित कर रहे हैं। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है की हवेली में बने सभी आलो की डिजाइन एक दूसरे से भिन्न है। सामान्यत: हवेली या भवन में ऐसा नहीं होता है।

बीकानेर हजार हवेलियों का शहर है और यहां हवेली के विभिन्न अंगों में हमें इस प्रकार का विभेद दिखाई नहीं देता। लेकिन यहां एक ही हवेली में बने आलो में इस प्रकार का उदाहरण वास्तव में आश्चर्यचकित करने वाला है। साथ

ही इन सभी की लंबाई और चौड़ाई में भी असमानता है। ऐसा लगता है मानों इस पूरी हवेली को एक ही रात में अलग-अलग कारीगरों ने मिलकर अपने-अपने हिसाब से बना दिया हो। कुछ आले तो बहुत ही साधारण नक्काशी के हैं और कुछ बेहतरीन उदाहरण हैं। इसी क्रम में हमें एक स्तंभ पर आले का खाका मिलता है जो शायद कारीगर ने बनाने के लिए तैयार किया था लेकिन बना नहीं पाया। आलो पर छोटे सुंदर स्तंभ, फूल पत्तियों का ऐसा अंकन हुआ है जो एक सुघड़ कारीगर ही कर सकता है। इसे देखकर हम स्थानीय कलाकारों की प्रशंसा किए बिना नहीं रह सकते। जैसा पूर्व में हमने छतरियों के अंदर के हिस्से में बने विभिन्न धार्मिक प्रसंगों के अंकन को देखा था तथा उनका संयोजन देखा था उसी से अनुमान लगाया जा सकता है स्थानीय कलाकारों के पास कितना कौशल था।

यद्यपि हवेली पूरी तरह खंडहर की अवस्था में है लेकिन आंगन के आगे का हिस्सा जिसे सामान्य बोलचाल की भाषा में *बरसाळी* कहते हैं, कुछ ठीक है। लकड़ी की बनी छत पूरी तरह से सुरक्षित थी। सुरक्षित से मेरा तात्पर्य हवा, पानी और धूप से बचाव को लेकर है। क्योंकि चारों तरफ के खुले वातावरण के बीच भी यह लकड़ी की छत पूरी तरह से सुरक्षित दिखाई दे रही थी। सबसे महत्वपूर्ण बात कि उसमें कहीं पर भी दीमक भी नहीं लगी हुई थी। ये इस बात का प्रमाण है की निर्माण के समय इस बात का पूरा ध्यान रखा गया कि कौन सी लकड़ी का प्रयोग किया जाना चाहिए। आज के दौर में हमें यह बात सीखने और समझने की है कि लगभग दो सौ वर्षों तक कोई चीज कैसे सुरक्षित रह सकती है।

छत दो हिस्सों में बटी है, जिसमें सामान्य आकार के फूल बने हुए हैं जैसे फूल हमें बीकानेर की सभी हवेलियों की छत में मिलते हैं लेकिन आज भी नए जैसे लग रहे हैं। छत के दोनों हिस्सों को बांटने के लिए बीच में मोटी लकड़ी

का *बीम* लगी हुई है। लंबाई और चौड़ाई में तो अलग अलग थी लेकिन फूलों की आकृति और डिजाइन में भी एकरूपता नहीं थी, अर्थात यहां पर भी कलाकार ने अपनी प्रयोगवादी प्रवृत्ति का परिचय दिया है। पत्थर के स्तम्भों पर तोड़े और शहतीर भी बड़ी सूझबूझ से जोड़े गए हैं।

सबसे आश्चर्यजनक तो यह है खुला आंगन होने के बाद भी सुरक्षित स्थानीय पत्थर और *दुलमेरा पत्थर* से बनी हवेली अपना आकर्षण सिर्फ आलो और छत तक ही सीमित नहीं रखे हुए है। दीवारों पर बनी छोटी-छोटी *जालियां* भी कलाकार की सुघड़ता का परिचय दे रही हैं। जालियां भी ऐसी बनी हुई है मानो किसी ने पत्थर को मोम समझ कर तराश दिया है। कुछ तो ऐसी हैं मानों

कारीगर में सांचे में ढाली हों। आंगन में छत से निकले हुए छज्जे व मेहराब अलग ही आकर्षण पैदा कर रहे थे। यद्यपि वे आज ज्यादातर क्षतिग्रस्त हो चुके हैं।

आंगन के दाएं व बाएं हिस्से में बने कक्षों व रसोई की जालियों के लिए भी कलाकारों ने मेहनत की है। पत्थर पर खाका बनाकर उसे काटा गया है। जालियों के कुछ खाने तो अष्टकोण हैं और कुछ में षष्टकोणीय और कुछ चौकोर है। एक ही सीध में बनी इन जालियों में ऐसी कई बनावट ऐसी है मानों उसे अलग-अलग टुकड़ों से जोड़कर बनाई हो। छत की साढ़ियां भी है लेकिन अब अवशेष मात्र ही बचे हैं।

झझू अपने में अनेक सांस्कृतिक धरोहर संजोए हुए है। स्थानीय निवासी श्री किशन लाल कांटिया जो पूर्व के सर्वे में भी हमारे साथ थे।

सर्वे का अंतिम पड़ाव किशन लाल जी का खेत था। उनके खेत में दो गुना दो के पत्थर पर बने एक पद्चिन्ह मिले। लाल पत्थर पर उकेरे गए ये चिन्ह जमीन में करीब छः-सात फीट गहरे हैं। किशन जी बताते हैं कि उन्होंने बचपन

से इन्हें अपने खेत में देखा है। प्रो. भादानी ने बताया कि पुराने लोग अप्राकृतिक शक्तियों में विश्वास रखते थे और उनसे फसल और खेत को बचाने के लिए ऐसे चिन्ह खेत के एक कोने में लगा दिया करते थे। ये पद्चिन्ह हमारी ग्रामीण संस्कृति का ही एक हिस्सा है। आज भी खेत में बालाजी का थान इसी का बदला हुआ रूप है। लेकिन ऐसे चिन्ह खेतों में कम ही देखने को मिलते हैं।

ये सर्वे भी बहुत यादगार रहा तथा कई ऐतिहासिक तथ्यों से रूबरू होने का अवसर प्राप्त हुआ। एक ओर अनूठी हवेली थी। इस सर्वे में हमारे साथ मार्गदर्शक प्रो. बी एल भादानी, डॉ. राजेन्द्र कुमार तथा डॉ. गोपाल कृष्ण व्यास थे।

डॉ. रीतेश व्यास
प्राचार्य सिस्टर निवेदिता कन्या महाविद्यालय
बीकानेर

❑❑❑

रामकुमार भादाणी : थार रेगिस्तान की विशिष्ट कला 'बीकानेर गोल्डन आर्ट' के प्रणेता

• डॉ. राजेन्द्र कुमार

मुग़लकाल में मध्य एशिया से आए चित्रकारों द्वारा की गई चित्रांकन परम्परा को 'उस्ता कला' कहा जाता था। हालांकि ये मध्य एशिया से आए चित्रकार थे लेकिन इनका रेगिस्तानी अंचल में आगमन मुग़ल दरबार के रास्ते हुआ था। बीकानेर के मुग़ल सत्ता के साथ सम्बन्ध महाराजा रायसिंह के समय से आरम्भ हो गए थे। इन पारस्परिक सम्बन्धों ने इस रेगिस्तानी राज्य के समाज एवं संस्कृति को गहराई से प्रभावित किया। महाराजा कर्णसिंह एवं महाराजा अनूपसिंह के समय में मुग़ल राजदरबार से बहुत से कलाकारों का आगमन हुआ जिनमें उस्ता जाति के कलाकारों की प्रमुखता थी (डॉ. गिरिजाशंकर शर्मा, *बीकानेर की चित्रांकन परम्परा,* बीकानेर, 2005 प्राक्कथन)। इस उस्ता कला की विशिष्टता-मीनाकारी, जिसमें सुनहरे रंगों के प्रयोग निहित है। इन कलाकारों ने अपनी बिरादरी के अतिरिक्त किसी अन्य को अपनी कला की शिक्षा नहीं दी, लेकिन कला के प्रति समर्पित कलाकार अपनी कलम से नई कला को जन्म देने की शक्ति रखता है।

ऐसे ही एक कलाकार हैं राम कुमार भादाणी। वह अपनी मेहनत एवं निष्ठा से अपनी कला के प्रति समर्पित हैं। परम्परा से परिवार में व्यवसाय था इसलिए उसी से सम्बद्ध कॉमर्स में शिक्षा प्राप्त की लेकिन मन में कला की रुचि भीतर तक बैठी थी। कलाकार के अपने शब्दों में 'अपने अध्ययन काल से कुछ समय निकाल कर प्राचीन देवालयों की नक्काशियों एवं भित्ति चित्रों को निहारने की धुन सवार रहती थी, साथ ही यह विचार भी मन में उठता था कि इन मंदिरों की कला को संवारने में मैं भी कुछ योगदान दे सकूं और इसमें कुछ नवीन अपनी ओर से जोड़ सकूं।' इसी विश्वास ने कलाकार के आगे का मार्ग प्रशस्त किया।

कलाकार के प्रथम गुरु उनके अपने छोटे चाचा महेन्द्रजी रहे जिनसे इन्होंने हिन्दी एवं अंग्रेजी की कैलीग्राफी कला का ज्ञान प्राप्त किया जिसके उदाहरण बीकानेर शहर की दीवारों पर देखने को मिल जाएंगे। दूसरे गुरु बीकानेर के प्रसिद्ध चित्रकार धर्मा स्वामी हैं जिनसे इन्होंने स्केचिंग करने का प्रशिक्षण लिया। हरिगोपाल हर्ष इनके तृतीय गुरु हैं जो स्वयं 'सन्नू' नाम से कला जगत में प्रसिद्ध हैं जिनसे इन्होंने कला की बारीकियों के साथ अमूर्त कला के बारे में सीखा।

इसी मध्य इनका रूझान सुनहरी कलम की ओर धीरे-धीरे बढ़ता गया। इस कला की शिक्षा हेतु इन्हें कोई गुरु नहीं मिला। तब इन्होंने देवालयों की दीवारों पर चित्रित इस कलम की कला का बारीकी से पर्यवेक्षण किया एवं ज्ञान चक्षुओं से इस कला को मन के भीतर उतारना शुरू किया। बार-बार के इस पर्यवेक्षण के दौरान मोहम्मद इस्लाम कोहरी से मुलाकात हो गई जो बीकानेर के प्रसिद्ध नृसिंहदेव मंदिर में सुनहरी कलम का काम कर रहे थे जिनसे उन्होंने सुनहरी कलम की बारीकियों के बारे में जानकारी प्राप्त की। फिर 'कर्ता उस्ताद है' कहावत की तर्ज पर लगातार अभ्यास को जारी रखा। उनके निरन्तर अभ्यास से इनकी कलम से एक नई कला ने जन्म लिया जिसका नामकरण इन्होंने 'बीकानेर गोल्डन आर्ट' किया। नवीन कला में 'मथेरण कला' एवं 'उस्ता कला' के कुछ तत्त्व हैं लेकिन उनसे नितान्त भिन्न है। इस नवीन शैली में प्रत्येक विषय या थीम को सुनहरी कलम के रंगों के संयोजन से चित्रित करना है जिसका प्रभाव अत्यंत आकर्षक प्रतीत होता है।

'मथेरण आर्ट' पौराणिक या धार्मिक विषयों की पन्नों अर्थात् कागज या फिर सूती कपड़ों पर की गई चित्रण शैली को कहते हैं; दूसरी ओर 'उस्ता आर्ट' ऊँट की खाल (चमड़ी) या लेदर पर या फिर भित्तियों पर सोने से की गई नक्काशी को कहा जाता है। साथ ही दोनों कलाओं में रेखाओं एवं बनावट में भिन्नता है। 'बीकानेर गोल्ड आर्ट' का कलाकार इन्हीं प्रारूपों को तालमेल में लाकर नवीन कलाकृतियों को आध्यात्मिक चिह्नों के साथ लयबद्ध रूप में सृजन करता है। उनकी कला के नमूने बीकानेर के साथ-साथ राजस्थान के अनेक देवालयों, हवेलियों के अतिरिक्त पुरातत्त्व महत्त्व के विरासत स्थलों पर देखे जा सकते हैं। इसके साथ ही अन्तरराष्ट्रीय स्तर के कला उत्सवों में भी यह अपनी स्थिति दर्ज करवा चुके हैं।

डॉ. राजेन्द्र कुमार
बीकानेर

❑❑❑

संघर्ष मरा नहीं करते, सफलता उनकी कहानी बयान करती है.....

डॉ. जिब्राईल

(10 मार्च 1973 –29 अप्रैल 2021)

एक मुकम्मल वक्त से पहले किसी का दुनिया से चले जाना, अपनों के लिए कभी न भरने वाले ज़ख्म से कम नहीं होता। डॉ. जिब्राईल कोरोना महामारी के कारण 29 अप्रैल 2021 को हम सब को सदा के लिए अलविदा कह गए।

अभी तो सम्भले थे क़दम और कम्बख़्त वक्त ने दग़ा दे दिया।
अभी तो काफिला ले चले थे अपने पीछे और जिंदगी ने दग़ा दे दिया।।

डॉ. जिब्राईल संघर्ष के पर्याय थे। उनके संघर्ष का एक लम्बा दौर तब खत्म हुआ जब जून 2015 में सेंटर ऑफ एडवांस्ड स्टडीज, इतिहास विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय में असिस्टेंट प्रोफेसर के रूप में वह नियुक्त हुए थे। इस मुकाम पर पहुँचने से पहले जौनपुर, अलीगढ़, राजस्थान एवं दिल्ली उनके संघर्ष की कहानी बयान करते हैं। अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय में उन्होंने उच्च शिक्षा के सभी सौपान प्राप्त किये। प्रो. बी.एल. भादानी के मार्गदर्शन में आपने 'अर्बन सेंटर्स एंड पापुलेशन ड्यूरिंग 18-19 सेंचूरी इन राजस्थान' विषय पर वर्ष 2008 में अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय

से पीएच. डी. (इतिहास) की उपाधि प्राप्त की। इसी दौरान इन्होंने 2006 से 2012 की अवधि में रिसर्च एसोसिएट एवं प्रोजेक्ट फेलो के रूप में कार्य किया। वर्ष 2013 में आपने इतिहास विभाग, जामिया मिल्लिया इस्लामिया विश्वविद्यालय, दिल्ली एवं इसी क्रम में किरोड़ीमल कॉलेज तथा शिवाजी कॉलेज (दिल्ली विश्वविद्यालय) में सहायक प्रोफेसर के रूप में अध्यापन कार्य किया। दिल्ली में शिक्षण कार्यों के साथ-साथ उन्होंने शैक्षिक जीवन की प्रगति के लिए धरातल पर कार्य किया, इसी दौरान उन्होंने जामिया विश्वविद्यालय के छात्रों को भारतीय प्रशासनिक सेवा की तैयारी करवाने का अति महत्त्वपूर्ण उपक्रम भी किया।

वर्ष 2015 उनके लिए खुशियों की सौग़ात लेकर आया और अलीगढ़ विश्वविद्यालय में सहायक आचार्य के पद पर उनका चयन हुआ। मुझे याद है कि उस अवसर पर जिब्राईल भाई ने मुझे फोन करके कहा कि 'भाई, जिंदगी का एक इम्तिहान तो हमने आज पास कर लिया है'। सच में, वह दिन उनकी जिंदगी का बेहतरीन दिन था और यही से उनकी जिंदगी का एक नया अध्याय प्रारंभ हुआ। मानों संघर्ष को पहचान मिल गयी, एक मुकम्मल मुकाम मिल गया। मेरा यह सौभाग्य रहा कि आपकी मित्रता एवं भ्रातृत्व के सानिध्य में मैंने स्वयं को तराशने का प्रयास किया। शायद इसी का परिणाम है कि मैंने भी संघर्ष की वही राह पकड़ी, जिसकी मंजिल से सफर अधिक खुबसूरत है।

डॉ. जिब्राईल ने इतिहास विषय में शोध के प्रति अपनी अभिरुचि से न केवल युवा अध्येताओं को अपनी ओर आकर्षित किया बल्कि इतिहासवेत्ताओं का ध्यान भी अपनी ओर खींचने में सफल हुए। वे उन शोध अध्येताओं में से थे जो राजस्थान के निवासी न होते हुए भी राजस्थान के शोध जगत में अपना अनूठा प्रभाव रखते थे। इसके पीछे उनकी लगन एवं कर्मठशीलता रही है, जिसने पिछले 10 वर्षों से राजस्थान पर शोध करने वाले शोधार्थियों को नेतृत्व प्रदान किया। उनके व्यक्तित्व को नेतृत्वता के पंख लगाने में उनके अनेक गुणों के साथ-साथ उनके दीर्घकालिक अनुभव का योगदान भी रहा। उनके अनुभव के 20 वर्षों में सीखने की ललक ने उनके ज्ञान को संशोधित एवं परिष्कृत करने में कोई कसर नहीं छोड़ी। यही कारण था कि राजस्थान के इतिहास को लेकर भारत के किसी भी कोने में आयोजित होने वाले राष्ट्रीय सेमिनार व कांफ्रेंस का वह आकर्षण होते थे। इस बात को कई बार महसूस किया गया कि उनके सेमिनार में आने से सम्मिलित अन्य युवाओं में नई स्फूर्ति सी आ जाती थी। हर किसी से उनके परस्पर आत्मीय संवाद ने सभी को उनका प्रशंसक बनाया।

उनकी प्रतिभा इसी बात तक सीमित नहीं कही जा सकती, क्योंकि अकादमिक दृष्टि से उन्होंने वर्ष 2002 से 2021 तक न केवल 70 से अधिक राष्ट्रीय व अंतरराष्ट्रीय सेमिनारों/कांफ्रेंसों में सक्रीय भागीदारी की बल्कि उनके कई शोध पत्रों को सर्वश्रेष्ठ शोध पत्र के रूप में सम्मानित भी किया गया। उनकी विशेषज्ञता 'राजस्थान का शहरी इतिहास', 'राजस्थान का पर्यावरण एवं जल प्रबंधन प्रणाली' रही है। बीकानेर, चूरू, नागौर एवं जयपुर क्षेत्र के जलीय स्रोतों पर उनके द्वारा वैज्ञानिक दृष्टिकोण से किये गए शोध कार्यों एवं प्राप्त निष्कर्षों ने ही इतिहास के विद्यार्थियों को वर्तमान जल संकट, पूर्व आधुनिक काल के जलीय स्रोतों के निर्माण, उनके रखरखाव एवं जल संयोजन की तकनीकों जैसे विषयों पर नवीन शोध के लिए प्रेरित किया हैं।

एक शोध निर्देशक के रूप में आपके कुशल निर्देशन में अब्दुल मोतलिब शेख़ को अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय द्वारा अप्रैल 2019 में पीएच. डी. की उपाधि प्रदान की गई। इसके अतिरिक्त पांच अन्य पीएच. डी. शोधार्थी आपके निर्देशन में कार्यरत थे, जो राजस्थान व कश्मीर के इतिहास से जुड़े विविध पहलुओं पर अपना शोध कर रहे हैं।

डॉ. जिब्राईल ने देश ही नहीं विदेश में भी अपनी क़ाबिलियत से अपनी विशेष छाप छोड़ी। वर्ष 2019 में उन्होंने पर्यावरण, जल और कृषि मंत्रालय (PSIPW और सुल्तान बिन अब्दुल अज़ीज़ अल सऊद फाउंडेशन) द्वारा 'रिसोर्स एंड एरिड एनवायरनमेंट' (ICWRAE-8) विषय पर किंग सऊद यूनिवर्सिटी, रियाद (सऊदी अरब) में आयोजित 8वें अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन में 'यूटिलिटी ऑफ सरफेस एंड अंडरग्राउंड वाटर एंड इट्स हार्वेस्टिंग एंड इरीगेशन टेक्निक्स इन डेजर्ट राजस्थान: ए सैंपल स्टडी ऑफ फलौदी' नामक विषय पर शोध पत्र पढ़कर राजस्थान का कुशल प्रतिनिधित्व किया।

उनकी बौद्धिक क्षमता इस बात से स्पष्ट होती है कि शैक्षणिक सेवा में आने के बाद, पिछले छह वर्षों में उनकी चार पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं, जो क्रमशः हैं—*इकोनोमी एंड डेमोग्राफिक प्रोफाइल ऑफ अर्बन राजस्थान (एटीन्थ-नाइनटीन्थ सेंचुरीज)* (मनोहर पब्लिशर्स, दिल्ली, 22 दिसम्बर 2017 एवं रॉउटलेज, 2018); *वाटर मैनेजमेंट सिस्टम इन द डेजर्ट रीजन ऑफ राजस्थान* (एनी बुक्स, दिल्ली, 2018); *जल, जीवन और समाज* (एनी बुक्स, 2019) तथा द *रेवेन्यू मैन्युअल ऑफ राजस्थान (सेवनटीन्थ टू नाइनटीन्थ सेंचुरीज)* (मनोहर पब्लिशर्स, 2021)। *जल, जीवन और समाज* नामक पुस्तक उनकी महत्वपूर्ण सम्पादित रचना है। यह पुस्तक पूर्व आधुनिक

काल से लेकर वर्तमान समय तक सम्पूर्ण उत्तरी भारत के राज्यों में प्रचलित रही जल संरक्षण विधियों व तकनीकी विधा पर अच्छा प्रकाश डालती है। विभिन्न इतिहासवेत्ताओं, जल संरक्षणकर्ताओं तथा अन्य विद्वतजनों के विचारों का समावेशीकरण इस पुस्तक की अन्य विशेषता है। उनकी नवीनतम पुस्तक द *रेवेन्यू मैनुअल्स ऑफ राजस्थान,* 18वीं सदी के जयपुर राज्य के बहुपयोगी राजस्व दस्तावेज़ 'अड़सट्ठा' का संपादन है, जो संभवत: जयपुर का प्रथम राजस्व दस्तावेज़ है जिसका संपादन हुआ है। इतना अमूल्य कार्य राजस्थान के राजस्व दस्तावेज़ों पर उनकी विशेषज्ञता से ही संभव हो पाया, इस पुस्तक का कार्य 2013 में प्रारम्भ हुआ और 2021 में उनकी अंतिम पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुआ। इसके अतिरिक्त 'नागौर का जल प्रबन्धन' विषय पर उनकी एक अन्य पुस्तक प्रकाशन के लिए तैयार थी। गत तीन वर्षों से वे अन्तरर्राष्ट्रीय जर्नल 'ग्लोबल रिसर्चर व्यू' के सह-संपादक की भूमिका का भी कुशल निर्वहन कर रहे थे।

डॉ. जिब्राईल को 'प्रोफेसर एस.आर. वर्मा मेमोरियल अवॉर्ड 2017' केंद्रीय भारतीय ऐतिहासिक अनुसंधान फाउंडेशन, ग्वालियर (मध्य प्रदेश) द्वारा क़स्बा नागौर पर उनके उत्कृष्ट शोध कार्य के लिए प्रदान किया गया था।

विदा होने से पूर्व, वे आई.सी.एच.आर., नई दिल्ली के प्रोजेक्ट 'वाटर हार्वेस्टिंग, इरिगेशन एंड एग्रीकल्चर प्रोडक्शन इन जयपुर स्टेट: ए फिजिकल सर्वे ऑन द बेसिस ऑफ आर्काईवल एंड आर्कियोलॉजिकल सोर्सेस (18-19 सेंचुरीज)' के प्रोजेक्ट डायरेक्टर के रूप में कार्य कर रहे थे।

उनकी एक बात हमेशा मेरे ज़हन में रहेगी कि 'यार अभी तो बहुत काम करना बाकी है.....' लगता है यह सब तो उनकी जिंदगी का ट्रेलर भर था, शायद उनकी क़ाबिलियत की पिक्चर तो अभी बाकी थी।

डॉ. जिब्राईल अपने पीछे पत्नी प्रियंका सिंह 'नाज', दो बेटे (सैम और जैद), और अपना मित्र संसार छोड़ गए। उनका इतनी जल्दी चले जाना इतिहास जगत के लिए अपूरणीय क्षति है। उस पुण्यात्मा को मैं और उनके चाहने वाले सदा याद करते रहेंगे।

श्रद्धावनत,

डॉ. राजेन्द्र कुमार
बीकानेर (राज.)

❑❑❑

Sl.No.	Journal No.	Title	Publisher	ISSN
169		JUNI KHYAT		2278-4632

UGC Journal Details

Name of the Journal : **JUNI KHYAT**

ISSN Number : 2278-4632

e-ISSN Number : NA

Source : **UGC**

Discipline : **Social Science**

Subject : **Social Sciences (all)**

Focus Subject : Cultural Studies

Publisher : Marubhumi Shodh Sansthan, Sri Dungargarh (Bikaner)

महत्त्वपूर्ण जानकारी

पाठकों से निवेदन है कि **जूनी ख्यात** में प्रकाशन हेतु शोध पत्र की एक प्रति Word तथा एक प्रति PDF फाइल में अवश्य भेजें। यदि शोध पत्र हिन्दी में है तो Kruti Dev 010 तथा अंग्रेजी में है तो Times New Roman नामक फोन्ट का प्रयोग करें।

शोध पत्र से सम्बन्धित छाया चित्रों को कम से कम 300 डीपीआई में सुरक्षित कर जे पी जी फाइल बनाकर अलग से अनुशीर्षक सहित भेजें।

शोध पत्र को इस पते पर e-mail करें bbhadani.amu@gmail.com अथवा डाक से सीडी बनाकर सम्पादक, **जूनी ख्यात**, रांगड़ी चौक, बीकानेर (राज.) 334001 के पते पर भिजवाएँ।

सम्पादक

जूनी ख्यात जनवरी–जून, 2021 वर्ष : 10, अंक : 2 ISSN : 2278-4632

देश की धड़कन राजस्थान की शान

राजस्थली

की यही पहचान

- हम जीवन में बीसियों तरह के व्यसन–शौक पालते हैं परन्तु पढ़ने की आदत नहीं डालते। यही कारण है कि हम अपनी सांस्कृतिक पहचान, शख्सियत और वजूद को संरक्षित नहीं रख पा रहे हैं।
- राजस्थानी ही वह भाषा है जिसकी लोरियों तले हमारा बचपन खेला, कूदा और बड़ा हुआ है। अपने पांवों पर खड़ा होने के बाद ममत्व और वात्सल्य को भुलाना तो हमारी परम्परा नहीं रही है। तो फिर हम क्यों भूल रहे हैं हमारी बाल–सुलभ जिज्ञासाओं को अनथक शांत करने वाली इस मायड़ को ?
- आईये ! हम भी बंगाल की तरह हमारे घरेलू बजट में पत्र–पत्रिकाओं को शामिल कर अपने बच्चों को एक सद्–संस्कार दें। परिवार को अपना वाजिब हक दें। अपने गैर–जरूरी खर्चों में कटौती कर पीढ़ियों को संस्कारित करने के इस अनुष्ठान में सहयोगी बनें।
- आज ही **राजस्थली** के सदस्य बनें और बनायें। पत्र–पत्रिकाओं को सहयोग और उनका संरक्षण हमारी नैतिक जिम्मेदारी है।

आओ ! **राजस्थली** को स्वावलम्बी बनाएं और
पुस्तक प्रेम की हमारी सांस्कृतिक परम्परा का परिचय दें।

सदस्यता शुल्क विवरण		
	पाँच वर्ष के लिए	1000 रुपये
	आजीवन	2500 रुपये
	संरक्षक सदस्यता	5100 रुपये

राजस्थली लेन-देन सारु :
खाता नांव : RAJASTHALI
बैंक : बैंक ऑफ इंडिया, श्रीडूँगरगढ़
खाता सं. : 746210110001995
IFSC : BKID 0007462

महावीर प्रसाद माली मरुभूमि शोध संस्थान,
श्रीडूँगरगढ़ के लिए मुद्रित एवं प्रकाशित।

मुद्रक : महर्षि प्रिंटर्स, श्रीडूँगरगढ़ (बीकानेर) राज.

जूनी ख्यात बैंक विवरण :
Account Name : Marubhumi Shodh Sansthan
Bank : Punjab National Bank, Sridungargarh
Account No. : 3604000100174114
IFSC : PUNB0360400

Website : http://rbhpsdungargarh.com